॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१३१

श्रीमद्वरदराजप्रणीता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

(रूपसिद्धिभागात्मक द्वितीयखण्ड)

[ग्रन्थ में आये हुँए उदाहरणों की प्रकरणानुसार
विश्लेषणात्मक सप्रमाण रूपसिद्धि]

लेखक—
श्री महेशसिंह कुशवाहा
एम. ए.
लखनऊ विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी २२१००१

॥ श्री: ॥

हिन्दी लघुसिद्धान्तकौमुदी

(रूप-सिद्धि भाग)

अच्सन्धि-प्रकरण

१. अमी ईशाः

इसका सन्धिविच्छेद है—'अमी + ईशा:'। इस अवस्था में '५२–अदसो मात्' सूत्र से अदस् शब्द 'अम्' से पर ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा हुई। तव '५०–प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रगृह्य को प्रकृतिभाव हो जाने के कारण सवर्ण दीर्घ नहीं हुआ। अत: प्रकृतरूप ही रहेगा—अमी ईशा:।

विशेष—'अमी' अदस् शब्द के प्रथमा-वहुवचन का रूप है।

२. अहो ईशाः

इसका मूलरूप है—'अहो + ईशा:'। इस अवस्था में '५६–ओत्' से ओदन्त निपात 'अहो' की प्रगृह्यसंज्ञा हुई। फिर पूर्व की भाँति '५०–प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रगृह्य का प्रकृति भाव हो जाने के कारण '२२–एचोऽयवायाव:' से प्राप्त 'अव्' आदेश नहीं होगा। अत: वही रूप रहेगा–'अहो ईशा:'।

३. इ इन्द्रः

मूलरूप—'इ + इन्द्र:'। यहाँ '५३–चादयोऽसत्त्वे' से 'इ' की निपात संज्ञा होती है। फिर एकाच् होने के कारण '५५–निपात एकाजनाङ्' से उसकी प्रगृह्य संज्ञा हुई। इस अवस्था में '५०–प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो जाने के कारण '४२–अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ नहीं होगा और प्रकृत रूप ही रहेगा—'इ इन्द्र:'।

टिप्पणी—'उ उमेश:' (उ + उमेश:) में भी 'उ' की एकाच् निपातसंज्ञा होने के कारण इसी प्रकार रूप-सिद्धि होगी।

४. उपेन्द्रः

मूलरूप—'उप + इन्द्रः' । इस अवस्था में '२७–आद् गुणः' से अकार और इकार के स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त होता है । '११–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से कण्ठस्थानीय अकार[1] और तालुस्थानीय इकार[2] के स्थान पर स्थान-साम्य से कण्ठतालु स्थानीय 'ए'[3] आदेश प्राप्त होगा, और इस प्रकार रूप बनेगा—'उप् ए न्द्रः' यहाँ 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' परिभाषा से परस्पर मिला देने से 'उपेन्द्रः' रूप सिद्ध हुआ ।

५. उपैति

मूलरूप—'उप + एति' । यहाँ पर पकारोत्तरवर्ती अकार से परे 'एति' इण् (जाना) धातु का एजादि रूप है, क्योंकि इसके आदि में 'ए' एच् है । अतः '३४–एत्येधत्यूठ्सु' से पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि-ऐकार आदेश हो जावेगा और रूप बनेगा—उप् ऐ ति = उपैति ।

टिप्पणी—'उपैधते' (उप + एधते) में भी एजादि 'एध' धातु होने के कारण इसी प्रकार रूपसिद्धि होगी ।

६. उपोषति

मूलरूप—'उप + ओषति' । यहाँ पर अवर्ण से एच् ओकार परे होने के कारण '३३–वृद्धिरेचि' से औकार प्राप्त था, किन्तु '३८–एङि पररूपम्' से उसका बाध होकर अवर्णान्त उपसर्ग 'उप' से एजादिधातु 'ओषति' परे होने के कारण पूर्व-पर के स्थान पर पररूप ओकार आदेश हो जावेगा और रूप बनेगा—उप् + ओषति = उपोषति ।

७. कृष्णैकत्वम्

मूलरूप—'कृष्ण + एकत्वम्' । इस अवस्था में अकार से एच्-एकार परे होने के कारण '३३–वृद्धिरेचि' से पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश प्राप्त हुआ । यहाँ '१७–स्थानेऽन्तरमः' परिभाषा से कण्ठस्थानीय अकार[4] तथा कण्ठतालुस्थानीय एकार[5] के स्थान में स्थानसाम्य के कारण कण्ठतालुस्थानीय ऐकार[6] वृद्धि एकादेश होगा और रूप बनेगा—कृष्ण् ऐ कत्वम् = कृष्णैकत्वम् ।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'देवैश्वर्यम्' (देव + ऐश्वर्यम्) में भी पूर्व-पर के स्थान में ऐकार आदेश होकर रूप बनेगा ।

८. कृष्णर्द्धिः

मूलरूप–'कृष्ण + ऋद्धिः' । यहाँ णकारोत्तरवर्ती अवर्ण (अकार) से परे अच् ऋकार होने के कारण '२७–आद्गुणः' से पूर्व-पर के स्थान में गुण एकादेश प्राप्त हुआ ।

---

१. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । २. इचुयशानां तालु । ३. एदैतोः कण्ठतालु ।
४. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । ५–६. एदैतोः कण्ठतालु ।

'२९–उरण् रपरः' की सहायता से अकार के स्थान में अत्यन्त सदृश होने के कारण 'अर्' आदेश होगया और रूप वना—कृष्ण अर् द्धिः = कृष्णर्द्धिः ।

९. किम्वुक्तम् (किमु उक्तम्)

मूलरूप—'किम् + उ + उक्तम्' । इस अवस्था के मय् 'किम्' के परे उञ् उकार होने के कारण '५८–मय उञो वो वा' से उकार के स्थान में विकल्प से वकार आदेश हुआ और रूप वना–किम् + व् + उक्तम् = किम्वुक्तम् । विकल्पावस्था में उकार की '५५–निपा एकाजनाङ्' से प्रगृह्य संज्ञा के कारण '५०–प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से उसका प्रकृतिभाव हो गया और रूप वना—किमु उक्तम् । प्रकृतिभाव होने के कारण यहाँ पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ ऊकार नही होगा ।

१०. गङ्गे अमू

मूलरूप—'गङ्गे + अमू' । यहाँ 'गङ्गे' पद 'गङ्गा' शब्द के द्विवचन का ईकारान्त रूप है अतः '५१–ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण प्रकृतिभाव हो जावेगा और रूप बनेगा—'गङ्गे अमू ।' इस स्थिति में '४३–एङः पदान्तादति' से पूर्व-रूप एकादेश नही होगा ।

११. गङ्गोदकम्

मूलरूप—'गङ्गा' + 'उदकम्' । इस अवस्था में आकार से परे अच्-उकार होने के कारण '२७–आद् गुणः' से पूर्व-पर के स्थान में गुण एकादेश हुआ । '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा की सहायता से कण्ठस्थानीय आकार और ओष्ठस्थानीय उकारके स्थान में स्थानसाम्य के कारण कण्ठौष्ठस्थानीय ओकार[1] एकादेश होगा और रूप बनेगा–गङ्ग् + ओ दकम् = गङ्गोदकम् ।

१२. गङ्गौघः

मूलरूप—'गङ्गा + ओघः । यहाँ पर आकार और ओकार के स्थान में '३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होगा । '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभापा की सहायता से कण्ठस्थानीय आकार[2] और ओष्ठस्थानीय उकार के स्थान में स्थान-सम्य के कारण कण्ठौष्ठ स्थानीय[3] औकार एकादेश होगा और रूप बनेगा–गङ्ग् औ घः = गङ्गौघ. ।

टिप्पणी—'कृष्णौत्कण्ठयम्' (कृष्ण + औत्कण्ठयम्) की सिद्धि भी इसी प्रकार होगी ।

१३. गव्यम्

मूलरूप—'गो + यम्' । इस अवस्था में यकारादि प्रत्यय 'य' परे होने के कारण '२४–वान्तो यि प्रत्यये' से गकारोत्तरवर्त्ती ओकार को 'अव्' आदेश हो जावेगा और रूप बनेगा—ग् अव् य़म् = गव्यम् ।

---

१. ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । २. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । ३. ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ।

विशेष—विकार अर्थ में षष्ठयन्त 'गो' शब्द में 'गोपयसोर्यत्' (४।३।१६०) से 'यत्' प्रत्यय आता है। तकार का लोप हो जाने पर तद्धितान्त होने के कारण 'कृत्तद्धित-समासाश्च' (१।२।४६) से प्रतिपदिक संज्ञा हुई। तव सु प्रत्यय होकर नपुंसक होने से 'अम्' आदेश होकर 'गो यम्' वना।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'नाव्यम्' (नौ + यम्) में भी 'अव्' आदेश होकर रूप-सिद्धि होगी। 'नौयम्' से यत् प्रत्यय 'नौ-वयो-धर्म-विष०' (४।४।९१) से होगा। शेष कार्य 'गो यम्' के ही समान है।

१४. गव्यूतिः

मूलरूप—'गो + यूति'। यहाँ पर 'गो' शब्द से परे परिमाणवाची 'यूति' होने के कारण 'अध्वपरिमाणे च' वार्तिक से ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश हुआ और रूप वना—ग् अव् यूतिः = गव्यूतिः। इसका अर्थ है—दो कोस ('गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः)।

१५. गवाग्रम् (गोऽग्रम्, गो अग्रम्)

मूलरूप—'गो + अग्रम्'। इस अवस्था में पदान्त एङन्त 'गो' से परे अच् अकार होने के कारण '४७—अवङ् स्फोटायनस्य' से 'अवङ्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' से यह आदेश सम्पूर्ण 'गो' के स्थान में प्राप्त होता है, किन्तु ङित् होने से '४६—ङिच्च' से इसका वाध हो जाता है। तव '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य ओकार के ही स्थान में अवङ् आदेश होगा। इत्संज्ञक होने के कारण ङकार का लोप हो जावेगा और रूप वनेगा—ग् अव अग्रम् = गव अग्रम्। इस अवस्था में '४२—अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर 'गवाग्रम्' रूप सिद्ध होगा। पक्ष में '४४—सर्वत्र विभाषा गोः' से विकल्प से प्रकृतिभाव होगा और रूप वनेगा—गो अग्रम्। इसके अभाव पक्ष में '४३—एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप ओकार एकादेश होगा और रूप वनेगा—गो ग्रम् = गोऽग्रम्।

१६. गवेन्द्रः

मूलरूप—'गो + इन्द्रः' यहाँ 'गो' शब्द से 'इन्द्र' शब्द परे होने पर '४८—इन्द्रे च' से 'अवङ्' आदेश हुआ। पूर्व की भाँति '४६—ङिच्च' से यह आदेश भी अन्त्य ओकार के स्थान में ही प्राप्त होगा और रूप वनेगा—ग् अव इन्द्रः = गव इन्द्रः। इस दशा में अकार और इकार के स्थान में '२७—आद् गुणः' से एकार एकादेश होगा और रूप वनेगा—गव् ए न्द्रः = गवेन्द्रः।

१७. गौर्य्यौ (गौर्यौ)

मूलरूप—'गौर्य् + औ'। इस अवस्था में अच् औकार से पर रेफ है तथा उसके वाद यर् यकार है, अतः '६०—अचो रहाभ्यां द्वे' से यकार को द्वित्व हो जावेगा और रूप वनेगा—गौ र् य् य् औ = गौर्य्यौ। विकल्पावस्था में एक ही यकार रहेगा।

१८. चक्रि अत्र (चक्र्यत्र)

मूलरूप—'चक्री + अत्र'। इस दशा में पदान्त इक्-ईकार को अच् अकार परे होने के कारण '५९–इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' से ह्रस्व इकार हो जावेगा और रूप बनेगा—चक्रि अत्र। ह्रस्व हो जाने पर इकार के स्थान पर यण् आदेश प्राप्त होता है, किन्तु वह नहीं होगा, अन्यथा ह्रस्व करना व्यर्थ हो जावेगा। विकल्पावस्था में दीर्घ ईकार को '१५–इको यणचि' से यण्-यकार आदेश होकर रूप बनेगा—चक्र् य् अत्र = चक्र्य् अत्र = चक्र्यत्र।

१९. तवल्कार:

मूलरूप—'तव + ऌकार.' यहाँ वकारोत्तरवर्ती अकार से ऌकार परे होने पर '२७–आद् गुण:' से पूर्व-पर के स्थान में गुण एकादेश हुआ। '२९–उरण् रपर:' की सहायता से 'अ' और 'ऌ' के स्थान में अत्यन्त सादृश्य के कारण 'अल्' आदेश होगा और रूप बनेगा—तव् अल् कार: = तवल्कार:।

२०. दैत्यारि:

मूलरूप—'दैत्य + अरि:'। यहाँ अक् यकारोत्तरवर्ती अकार से सवर्ण अच्-अकार परे होने के कारण '४२–अक: सवर्णे दीर्घ:' से पूर्व-पर के स्थान में दीर्घ आकारादेश हो जावेगा और रूप बनेगा—दैत्य् आरि:—दैत्यारि:।

२१. प्रष्ठौह:

मूलरूप—'प्रष्ठ + ऊह:'। यहाँ ठकारोत्तरवर्ती अवर्ण (अकार) से 'ऊह:' का ऊठ् परे होने के कारण '३४–एत्येधत्यूठ्सु' से पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो गया और रूप बना—प्रष्ठ् औ ह: = प्रष्ठौह:।

विशेष—यहाँ 'वाह्' को 'वाह ऊठ्' (६।४।३२) से 'ऊठ्' आदेश होकर 'ऊह:' रूप बना है।

२२. प्रार्च्छति

मूलरूप—'प्र + ऋच्छति'। यहाँ 'प्र' अवर्णान्त उपसर्ग है और उसके बाद ऋकारादि धातु 'ऋच्छति' है, अत: '३७–उपसर्गाद् ऋति धातौ' से पूर्व-पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होगा। '२९–उरण् रपर:' की सहायता से अत्यन्त साम्य होने के कारण दोनों के स्थान में 'आर्' एकादेश होगा और रूप बनेगा—प्र् आर् च्छति = प्रार्च्छति।

२३. प्रार्णम्

मूलरूप—'प्र + ऋणम्'। यहाँ 'प्र' से 'ऋण' शब्द परे होने के कारण 'प्रवत्सतर-कम्बलवसनार्णदशानामृणे' वार्तिक से पूर्व-पर के स्थान में '२९–उरण् रपर:' की सहायता से 'आर्' एकादेश हुआ और रूप बना—प्र् आर् णम् = प्रार्णम्।

२४. प्रेजते

मूलरूप—'प्र + एजते'। यहाँ अवर्णान्त उपसर्ग 'प्र' से एजादि धातु 'एजते' परे

होने के कारण '३८—एङि पररूपम्' से पूर्व-पर के स्थान में पररूप एकार आदेश होगा और रूप बनेगा—प्र् एजते = प्रेजते ।

विशेष—यहाँ '३३—वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध होकर पररूप ही आदेश होता है ।

२५. प्रौहः

मूलरूप—'प्र + ऊहः' । यहाँ पर 'प्र' उपसर्ग से 'ऊह' परे होने के कारण 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' वार्तिक से पूर्व-पर के स्थान में 'औ' वृद्धि एकादेश हो जावेगा और रूप बनेगा–प्र् औ हः = प्रौहः ।

टिप्पणी—'प्रौढः' (प्र + ऊढः), 'प्रौढिः' (प्र + ऊढिः), 'प्रैषः' (प्र + एषः), और प्रैष्यः' (प्र + एष्यः) की सिद्धि भी इसी प्रकार होगी ।

२६. ब्रह्म ऋषिः (ब्रह्मर्षिः)

मूलरूप—'ब्रह्मा + ऋषिः' । इस अवस्था में पदान्त अक्-आकार से ह्रस्व ऋकार परे होने के कारण '६१–ऋत्यकः' से आकार को ह्रस्व अकार आदेश हो गया और रूप बना—'ब्रह्म ऋषिः' । ह्रस्व होने पर '२७—आद् गुणः' से गुण आदेश प्राप्त होता है । पर वह नहीं होता, अन्यथा ह्रस्व करना व्यर्थ हो जाता । ह्रस्व के अभाव पक्ष में '२९—उरण्०' की सहायता से पूर्व-पर के स्थान में गुण 'अर्' आदेश हो गया और रूप बना—ब्रह्म अर् षिः = ब्रह्मर्षिः ।

२७. मनीषा

मूलरूप—'मनस् + ईषा' । यहाँ पर '३९—अचोऽन्त्यादि टि' परिभाषा से 'मनस्' में 'अस्' की टि संज्ञा होगी । तब 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक से 'अस्' टि और 'ई'—दोनों के स्थान में ईकार पररूप आदेश होगा और रूप बनेगा—मन् ईषा = मनीषा ।

२८. विष्ण इह (विष्णविह)

मूलरूप—'विष्णो + इह' । यहाँ पर पहिले '२२–एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश होगा और रूप बनेगा–विष्ण् अव् + इह = विष्णव् + इह । इस अवस्था में अश् इकार परे होने के कारण '३०—लोपः शाकल्यस्य' से विकल्पतः पदान्त वकार का लोप हो गया और रूप बना—विष्ण इह । अभाव पक्ष में लोप न होकर परस्पर संयोग कर देने से 'विष्णविह' रूप सिद्ध होगा ।

'विष्ण इह'—इस अवस्था में णकारोत्तरवर्ती अकार से इकार परे होने के कारण 'आद्गुणः' (६।१।८७) से गुण एकादेश प्राप्त था, किन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (८।२।१) परिभाषा से उसका बाध हो जाता है । कारण यह है कि 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) परवर्ती होने के कारण 'आद् गुणः (६।१।८७) के प्रति असिद्ध है अर्थात् उससे किया गया वकार का लोप 'आद्गुणः' के प्रति न होने के समान है । 'आद्गुणः' की दृष्टि

में वकार का लोप हुआ ही नहीं , अतः वकार का व्यवधान होने से 'आद्गुणः' से गुण न होकर 'विष्ण इह' रूप ही रहेगा ।

२९. विष्णू इमौ

मूलरूप–'विष्णू + इमौ' । यहाँ 'विष्णू' पद 'विष्णु' शब्द के द्विवचन का ऊकारान्त रूप है अतः '५१–ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से उसकी प्रगृह्य संज्ञा होगी । तब '५०-प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने के कारण '१५-इको यणचि' से यण् न होकर 'विष्णू इमौ' रूप ही रहेगा ।

३०. विष्णूदयः

मूलरूप–'विष्णु + उदयः' । यहाँ पर णकारोत्तरवर्ती अक् उकार से सवर्ण उकार परे होने के कारण '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ ऊकार आदेश हो जावेगा और रूप वनेगा—विष्ण् ऊ दयः = विष्णूदयः ।

३१. विष्णवे

मूलरूप—'विष्णो + ए' । यहाँ णकारोत्तरवर्ती एच् ओकार से अच् एकार परे होने के कारण '२२–एचोऽयवायावः' द्वारा '२३–यथा संख्यमनुदेशः समानाम्' की सहायता से ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश होगा और रूप वनेगा—विष्ण् अव् ए = विष्णव् ए = विष्णवे ।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'पावकः' (पौ + अकः) में आव् आदेश होकर रूप सिद्धि होगी ।

३२. विष्णो इति (विष्ण इति, विष्णविति)

मूलरूप—'विष्णो + इति' । यहाँ पर जो णकारोत्तरवर्ती ओकार है वह 'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८) से सम्वुद्धि को निमित्त मानकर हुआ है और उसके वाद 'इति' भी वैदिक नहीं है अतः '५७–सम्वुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' से विकल्पतः ओकार को प्रगृह्य संज्ञा होने के कारण '५०–प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो जावेगा और 'विष्णो इति' रूप ही रहेगा । विकल्प पक्ष में '२२–एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश होगा और रूप वनेगा—विष्ण् अव् इति । इस अवस्था में '३०–लोपः शाकल्यस्य' से विकल्पतः वकार का लोप हो जावेगा और रूप वनेगा—विष्ण् अ इति = विष्ण इति[1] यहाँ भी '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '२७–आद् गुणः' से प्राप्त गुण कार्य नहीं होगा[2] । अभाव पक्ष में परस्पर संयोग करने से 'विष्णविति, रूप सिद्ध होता है ।

---

१. कुछ आचार्यों के मत से 'विष्णविति' रूप ही वनता है, "विष्ण इति' रूप नहीं उनका कथन है कि जव शाकल्य के मत में ओकार को 'अव्' ही नहीं होता तो पुनः उनके मत में वकार का लोप कैसे सम्भव हो सकता है ? २. विशेष स्पष्टीकरण के लिए २८ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये ।

३३. विष्णोऽव

मूलरूप—'विष्णो + अव'। यहाँ पदान्त एङ्-ओकार से ह्रस्व अकार परे होने के कारण '४३–एङः पदान्तादति' से पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होगा और रूप बनेगा—विष्णो व = विष्णोऽव। इसमें चिह्न 'ऽ' अकार का लोप सूचित करना है।

३४. शकन्धुः

मूलरूप—'शक + अन्धुः'। यहाँ पर "शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्तिक से ककारोत्तरवर्ती अकार टि ('३९–अचोऽन्त्यादि टि') और 'अन्धुः' के आदि अकार—दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होगा और रूप बनेगा—शक् अन्धुः = 'शकन्धुः'। यहाँ पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ प्राप्त था, किन्तु वार्तिक से उसका बाध हो जाने पर पररूप ही आदेश होगा।

टिप्पणी—'कर्कन्धुः' (कर्क + अन्धुः) की सिद्धि भी इसी प्रकार होगी।

३५. शिवेहि

मूलरूप है—'शिव + आ + इहि।' यहाँ 'आ' 'आङ्' उपसर्ग का ही है। इत्संज्ञक होने से ङ् का लोप हो जाता है। इस अवस्था में वकारोत्तरवर्ती अकार और आङ् के आकार को '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ और 'आ' तथा 'इहि' के इकार को '२८–आद्गुणः' से गुण प्राप्त होता है। 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्, अन्यद् बहिरङ्गम्' परिभाषा के अनुसार आङ् उपसर्ग के आकार तथा 'इहि' धातु के इकार के स्थान में प्राप्त होने के कारण गुण अन्तरङ्ग है। सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा से अन्तरङ्ग कार्य के सम्मुख बहिरङ्ग असिद्ध होता है अर्थात् बहिरङ्ग कार्य नहीं होता। अतः बहिरङ्ग होने के कारण सवर्ण दीर्घ नहीं हुआ, अन्तरङ्ग होने से गुणकार्य हुआ और रूप बना—शिव एहि। यहाँ '४१–अन्तादिवच्च' परिभाषा से एकार में आङ्त्व आ जानेपर '४०–ओमाङोश्च' सूत्र से पूर्वपर के स्थान में पररूप एकार एकादेश हो गया और रूप बना—शिव् एहि = शिवेहि।

३६. शिवायों नमः

मूलरूप—'शिवाय + ओं नमः।' यहाँ यकारोत्तरवर्ती अवर्ण 'अकार' से 'ओम्' परे होने के कारण '४०–ओमाङोश्च' से पूर्व-पर के स्थान में 'ओं' पररूप एकादेश हो जावेगा और रूप बनेगा—शिवाय् ओं नमः = शिवायों नमः।

३७. सुखार्तः

मूलरूप—'सुख + ऋतः, यहाँ पर 'सुखेन ऋतः' इस प्रकार तृतीया समास में विग्रह करने पर 'ऋते च तृतीयासमासे' वार्तिक से खकारोत्तरवर्ती अकार और ऋकार के स्थान में '२९–उरण् रपरः' की सहायता से 'आर्' वृद्धि एकादेश होगा और रूप बनेगा—सुख् आर् तः = सुखार्तः।

३८. सुद्ध्युपास्यः (सुध्युपास्यः)

मूलरूप–'सुधी + उपास्यः ।' यहाँ पर इक् ईकार से अच् उकार परे होने के कारण '१५–इको यणचि' सूत्र से ईकार के स्थान में यण् आदेश प्राप्त होता है। यण् प्रत्याहार में य् र् ल् व्-इन चारों का समाहार होता है, किन्तु '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से तालुस्थानीय ईकार[1] के स्थान में तालुस्थानीय यकार[2] ही आदेश होगा और रूप वनेगा—सुध्य् उपास्यः । इस अवस्था में अच्—सकारोत्तरवर्ती उकार से परे यर् धकार है और उसके आगे स्वर भी नहीं है क्योंकि यकार व्यंजन है अतः '१८–अनचि च' से विकल्पतः धकार का द्वित्व हो जावेगा और रूप वनेगा—'सु ध् ध् य् उपास्यः ।' अभाव पक्ष में 'सु ध् य् उपास्यः' ही रहेगा। तव झश् धकार परे होने के कारण 'सु ध् ध् य् उपास्यः' में '१९–झलां जश् झशि' से पूर्व धकार का दकार हो जावेगा और रूप वनेगा—'सु द् ध् य् उपास्यः ।' 'सु ध् य् उपास्यः' में धकार का दकार नहीं होगा क्योंकि उसके वाद यकार है जो झश् प्रत्याहार में नही आता है। यहाँ '२०–संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र द्वारा '२१–अलोऽन्त्यस्य' की सहायता से अन्त्य यकार का लोप प्राप्त था, किन्तु 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से उसका बाध हो जाता है। तव 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' नियम से परस्पर मिला देने से 'सुद्ध्युपास्यः' और 'सुध्युपास्यः' रूप सिद्ध हो जावेंगे।

टिप्पणी—'मद्ध्वरिः तथा मध्वरिः' (मधु + अरिः) 'धात्त्रंशः तथा धात्रंशः' (धातृ + अंशः) और 'लाकृतिः' (लृ + आकृतिः) के रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होंगे। केवल '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के अनुसार उचित यण् का चुनाव कर लेना होगा। ध्यान रहे कि 'धात्त्रांशः' में जश् की और 'लाकृतिः' में द्वित्व और जश्-दोनों की प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् प्रथम में '१९–झलां जश् झशि' सूत्र नहीं लगता है और दूसरे में '१८–अनाचि च' तथा '१९–झलां जश् झशि' दोनों ही सूत्र प्रवृत्त नहीं होंगे। शेष कार्य पूर्वोक्त रूप से ही होगा।

३९. हर इह (हरयिह)

मूलरूप—'हरे + इह ।' यहाँ पर पहले '२२–एचोऽयवायावः' से एकार के स्थान में 'अय्' आदेश होगा और रूप वनेगा–हर् अय् इह = हरय् इह । इस अवस्था में अश् इकार परे होने के कारण '३०–लोपः शाकल्यस्य' से विकल्पतः पदान्त यकार का लोप हो जावेगा और रूप वनेगा—हर इह। अभाव पक्ष में 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' परिभाषा से परस्पर मिला देने से 'हरयिह' रूप सिद्ध होगा। यहाँ 'हर इह' मे 'आद्-गुणः' '६।१।८७' से गुणादेश प्राप्त था, किन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' ८।२।१ परिभाषा से 'लोपः शाकल्यस्य' '८।३।१९' के असिद्ध हो जाने पर गुणकार्य नहीं होगा, क्योंकि

१-२. इचुयशानां तालु ।

उसकी दृष्टि में तो यकार का लोप हुआ ही नहीं। अतः यकार का व्यवधान होने पर गुणकार्य न होकर 'हर इह' रूप ही रहेगा।[1]

४०. हरये

मूलरूप—'हरे + ए।' यहाँ रेफोत्तरवर्ती एकार के स्थान में अच् एकार परे होने के कारण '२२–एचोऽयवायावः' सूत्र से ('२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' की सहायता से) 'अय्' आदेश होगा और रूप बनेगा–हर् अय् ए = हरये।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'नायकः' (नै = अकः) में भी 'आय्' आदेश होकर रूप-सिद्धि होगी।

४१. हरी एतौ

मूलरूप—'हरी + एतौ।' यहाँ 'हरी' पद 'हरि' शब्द के द्विवचन का दीर्घ ईकारान्त रूप है अतः '५१–ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो गई। तब '५०–प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने के कारण '१५–इको यणचि' से यण् न होकर 'हरी एतौ' रूप ही रहेगा।

४२. हरेऽव

मूलरूप—'हरे + अव।' इस अवस्था में पदान्त एङ्–एकार से ह्रस्व अकार परे होने के कारण '४३–एङः पदान्तादति' से पूर्व-पर के स्थान में पूर्वरूप एकार एकादेश होगा और रूप बनेगा—हर् ए व = 'हरेऽव'। यहाँ चिह्न 'ऽ' अकार का लोप सूचित करता है।

४३. होतॄकारः

मूलरूप—'होतृ + ऋकारः।' यहाँ अक् ऋकार से सवर्ण अच् ऋकार परे होने के कारण '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्व-पर के स्थान पर दीर्घ ॠकार एकादेश होगा और रूप बनेगा—होत् ॠ कारः = होतॄकारः।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'श्रीशः' (श्री + ईशः) में भी दीर्घ ईकार आदेश होकर रूप-सिद्धि होगी।

हल्सन्धि-प्रकरण

१. आक्रंस्यते

मूलरूप—'आक्रम् + स्यते।' इस अवस्था में झल् सकार परे होने के कारण '७८–नश्चाऽपदान्तस्य झलि' से अपदान्त मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश हो गया और रूप बना—आक्रं स्यते = आक्रंस्यते।

---

१. विशेष विवरण के लिए पद संख्या २८ की प्रयोग-सिद्धि भी देखिये।

२. उत्थानम् (उत्त्थानम्)

मूलरूप—'उद् + स्थानम् ।' यहाँ उद् उपसर्ग से 'स्था' धातु परे होने के कारण '७०–उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' से पूर्व सवर्ण आदेश होगा। '७१–तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'स्थानम्' के स्थान में प्राप्त होता है, किन्तु '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से वह अन्त्य वर्ण को प्राप्त होगा। पर '७२–आदेः परस्य' से इसका बाध हो जाने के कारण यह आदेश 'स्थानम्' के आदि वर्ण के स्थान में होगा। इस प्रकार अत्यन्त सादृश्य होने से विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण यत्न वाले सकार के स्थान में उसी प्रकार का थकार पूर्वसवर्ण आदेश होगा और रूप बनेगा—उद् थ् थानम्। इस दशा में हल् दकार से पर झर् थकार है और उसके पश्चात् भी सवर्ण झर् थकार है अतः '७३–झरो झरि सवर्णे' से विकल्पतः पूर्व थकार का लोप हो जावेगा और रूप बनेगा—'उद् थानम् ।' अभाव पक्ष में 'उद् थ् थानम्' ही रहेगा। 'उद् थानम्' में खर् थकार परे होने के कारण '७४-खरि च' से झल् दकार के स्थान में स्थानसाम्य के कारण तकार आदेश होगा और रूप बनेगा—उत् थानम् = 'उत्थानम्'। अभाव पक्ष में दकार को तकार होगा और थकार को भी, अतः रूप बनेगा—उत् त् थानम् = 'उत्त्थानम्'।

टिप्पणी—'उत्तम्भनम्' (उद् + स्तम्भनम्) की सिद्धि इसी प्रकार होगी।

३. एतन्मुरारिः (एतद्मुरारिः)

मूलरूप—'एतद् + मुरारिः ।' यहाँ अनुनासिक मकार परे होने के कारण '६८–यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से पदान्त यर् दकार के स्थान में स्थान-साम्य से अनुनासिक नकार आदेश होगा और रूप बनेगा—एतन् मुरारिः = एतन्मुरारिः। अभाव पक्ष में 'एतद् मुरारिः' ही रहेगा।

४. काँस्कान् (कांस्कान्)

मूलरूप—'कान् + कान् ।' यहाँ '९९–तस्य परमाम्रेडितम्' से द्वितीय 'कान' की आम्रेडित संज्ञा होगी। अतः '१००–कानाम्रेडिते' से प्रथम 'कान्' के नकार को 'रु' आदेश होगा। 'रु' में उत्व का लोप हो जाने से रकार ही शेष रह जावेगा। पुनः अनुनासिक और अनुस्वार[1]—दोनों पक्षों में 'काँर् कान्' और 'कांर् कान्' रूप बनेंगे। इस दशा में '९३–खरवसानयोविसर्जनीयः' से रकार के स्थान में विसर्ग आदेश होगा और रूप बनेगा–'काँः कान्' तथा 'कांः कान् ।' यहाँ पर '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान पर सकार और उसको बाधकर '१०४–वा शरि' से विकल्पतः विसर्ग प्राप्त था, किन्तु 'सम्पुम्कानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से इसका भी बाध होकर विसर्ग के स्थान में सकार प्राप्त होता है—काँस् कान् = 'काँस्कान्' कांस् कान् = 'कांस्कान्'।

---

१. ध्यान रहे कि यहां एक पक्ष में '९१–अत्रानुनासिकः—' द्वारा अनुनासिक और दूसरे पक्ष में '९२–अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' द्वारा अनुस्वार होता है।

५. किन् ह्नुते (किं ह्नुते)

मूलरूप–'किम् + ह्नुते ।' इस अवस्था में तकारपरक हकार परे होने के कारण '८३–नपरे नः' से मकार के स्थान में नकार आदेश होकर रूप बनेगा–'कन् ह्नुते ।' विकल्पावस्था में '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार होकर 'किं ह्नुते' रूप सिद्ध होगा ।

६. किम्ह्मलयति (किं ह्मलयति)

मूलरूप—'किम् + ह्मलयति ।' इस अवस्था में मकारपरक हकार परे होने के कारण '८२–हे मपरे वा' से 'किम्' के मकार के स्थान में विकल्प से मकार ही आदेश होगा और इस प्रकार 'किम्ह्मलयति' रूप ही रहेगा । अभाव पक्ष में '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार होकर 'किं ह्मलयति' रूप सिद्ध होगा ।

७. चक्रिँस्त्रायस्व (चक्रिंस्त्रायस्व)

मूलरूप—'चक्रिन् + त्रायस्व ।' यहाँ नान्त पद 'चक्रिन्' है । आगे छव् तकार पड़ा है और उसके पश्चात् अम् रकार है, अतः '९५–नश्छव्यप्रशान्' सूत्र से 'चक्रिन्' के स्थान में 'रु' आदेश होगा '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अन्त्य नकार को होकर 'चक्रि रु त्रायस्व' रूप बनेगा । इस दशा में '९१–अत्रानुनासिकः पूर्वस्य०' से 'रु' से पूर्व अनुनासिक होकर 'चक्रिँ रु त्रायस्व' रूप बनेगा । अभाव पक्ष में '९२–अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से 'रु' से पूर्व को अनुस्वार होकर 'चक्रिं रु त्रायस्व' रूप बनेगा । 'रु' में उकार की इत्संज्ञा होने के कारण केवल रकार ही शेष रह जाता है । तब '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से पदान्त रकार को विसर्ग हो जावेगा और रूप बनेंगे—'चक्रिँः त्रायस्व' और 'चक्रिंः त्रायस्व ।' ऐसी स्थिति में '९६–विसर्जनीयस्य सः' से खर् तकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान में सकार आदेश होगा और इस प्रकार रूप बनेंगे–'चक्रिँस् त्रायस्व = चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिं स् त्रायस्व = चक्रिंस्त्रायस्व[1] ।'

८. त्वङ्करोषि (त्वं करोषि)

मूलरूप—'त्वं + करोषि ।' इस अवस्था में यय् ककार के परे होने से '८०–वा पदान्तस्य' से पदान्त अनुस्वार के स्थान में विकल्प से परसवर्ण अनुनासिक ङकार आदेश होगा और रूप बनेगा—त्वङ् करोषि = त्वङ्करोषि । अभाव पक्ष में अनुस्वार ही रहने के कारण 'त्वं करोषि' रूप सिद्ध होगा ।

९. तच्छिवः (तच् शिवः)

मूलरूप–'तद् + शिवः ।' यहाँ पर पहिले '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से दकार के स्थान में जकार आदेश हुआ–'तज् + शिवः ।' तब '७४–खरि च' से जकार के स्थान में चकार होकर 'तच् + शिवः' रूप बना । इस प्रकार शकार के स्थान में छकार होने के पहिले श्चुत्व और चर्त्व होंगे क्योंकि दोनों के ही प्रति 'शश्छोऽटि' (८–४–६३) सूत्र '३१–पूर्व-

---

१. विशेष विवरण के लिए पदसंख्या २९ की प्रयोगसिद्धि देखिये ।

त्राऽसिद्धम्' परिभाषा के अनुसार त्रिपादी होने से असिद्ध है। अतः 'तच् + शिवः'– ऐसी स्थिति हो जाने पर अट् इकार परे होने के कारण '७६–शश्छोऽटि' से झय् चकार से पर शकार के स्थान में विकल्प से छकार आदेश होगा और रूप बनेगा–तच् छिवः = तच्छिवः। अभाव पक्ष में 'तच् शिवः' रूप ही रहेगा।

१०. तन्मात्रम्

मूलरूप—'तद् + मात्रम्'। इस अवस्था में अनुनासिक मकारादि 'मात्र' प्रत्यय परे होने के कारण 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक से पदान्त यर् दकार को अनुनासिक नकार हो जावेगा और रूप बनेगा—'तन् मात्रम्' = तन्मात्रम्। ध्यान रहे कि यहाँ 'तदस्य परिमाणम्' इस अर्थ में 'प्रमाणे द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः' (५।२।३७) सूत्र से 'मात्रच्' प्रत्यय हुआ है।

टिप्पणी—'चिन्मयम्' (चिद् + मयम्) का रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होगा। यहाँ 'चिदेव'–इस अर्थ में 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (५।४।२१) से 'मयट्' प्रत्यय हुआ है।

११. तल्लयः

मूलरूप—'तद् + लयः' के आदि लकार के परे होने के कारण '६९–तोर्लि' से तवर्ग दकार के स्थान में पर लकार का सवर्ण लकार ही आदेश होगा, क्योंकि दोनों ही दन्तस्थानीय[1] हैं—'तल् लयः' = तल्लयः'।

टिप्पणी—'विद्वाँल् लिखति' (विद्वान् + लिखति) का रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होगा, केवल अनुनासिक होने के कारण नकार के स्थान में अनुनासिक लकार आदेश होगा।

१२. नॄँ ≍पाहि (नॄं≍पाहि, नॄँ पाहि, नॄंः पाहि, नॄन् पाहि)

मूलरूप—'नॄन् + पाहि'। यहाँ पर पकार परे होने के कारण '९७–नॄन् पे' से नॄन्' के अन्त्य नकार के स्थान में विकल्प से 'रु' आदेश हो गया और रूप बना—'नॄरु पाहि। फिर अनुनासिक और अनुस्वार होकर 'नॄँ रु पाहि' और 'नॄं रु पाहि' रूप बनेंगे 'रु' में उकार की इत्संज्ञा होने के कारण केवल रकार ही शेष रह जाता है। उसके स्थान में '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग आदेश हो गया और रूप बने—'नॄँः पाहि' तथा 'नॄंः पाहि'। यहां भी '९६–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्गों के स्थान में सकार प्राप्त था परन्तु पवर्ग पकार परे होने के कारण '९८–कुप्वोः≍क≍पौ च' से उसका बाध होकर उपध्मानीय आदेश होगा और रूप बनेगा–नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि'। पक्ष में विसर्ग भी रहेंगे। 'रु' भी विकल्प से होता है, अतः अभाव पक्ष में यथावत् रूप भी रहेगा—'नॄन् पाहि।'[2]

---

१. लृतुलसानां दन्ताः।

२. विशेष विवरण के लिए पद-संख्या ७ और २९ की प्रयोग-सिद्धि देखिये।

१३. प्रत्यङ्ङात्मा

मूलरूप—'प्रत्यङ्+आत्मा'। यहाँ ह्रस्व अकार से परे ङम्-ङकार है, अतः '८९–ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' से 'आत्मा' के अच् आकार को ङमुट् सम्बन्धी ङुट का आगम हुआ। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से टित् होने के कारण यह आकार का आद्यवयव बनेगा—प्रत्यङ् ङ् आत्मा = प्रत्यङ्ङात्मा। (ध्यान रहे कि ङुट् में 'उट्' इत्संज्ञक है अतः ङकार ही शेष रह जावेगा। टकार के इत्संज्ञक होने के कारण इसकी 'टित्' संज्ञा होगी)

टिप्पणी—'सुगण् णीशः' (सुगण्+ईशः) और 'सन्नच्युतः' (सन्+अच्युतः) के रूप भी इसी प्रकार द्वित्व होकर सिद्ध होंगे।

१४. प्राङ्ख् षष्ठः (प्राङ् क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः)

मूलरूप—'प्राङ्+षष्ठः'। इस अवस्था में शर् षकार परे होने के कारण '८६–ङ्णोः कुक् टुक् शरि' से ङकार को 'कुक्' आगम होगा। कुक् में उक् मात्र इत्संज्ञक है अतः केवलः ककार ही शेष रह जाता है। अन्त्य ककार के इत्संज्ञक होने के कारण इसकी 'कित्' संज्ञा होगी। अतः '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् होने के कारण ककार ङकार का अन्तावयव बनेगा—'प्राङ् क् षष्ठः'। इस अवस्था में शर् षकार परे होने के कारण 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' वार्तिक से चय् ककार के स्थान में विकल्प से द्वितीय वर्ण खकार हो जावेगा—'प्राङ् ख् षष्ठः'। पक्ष में ककार और षकार के मिल जाने पर 'क्ष' बन जावेगा-'प्राङ् क् षष्ठः = प्राङ् क्षष्ठः'। कुक् के अभाव पक्ष में 'प्राङ् षष्ठः' ही रहेगा।

१५. पुँस्कोकिलः (पुंस्कोकिलः)

मूलरूप—'पुम्+कोकिलः'। यहाँ खय् ककार कोने के कारण '९४–पुमः खय्यम्परे' से 'पुम्' के मकार के स्थान में 'रु' आदेश हो कर 'पु रु+कोकिलः' रूप बना। इस अवस्था में अनुनासिक और अनुस्वार हो कर 'पुँ रु+कोकिलः' तथा 'पुं रु+कोकिलः' रूप बनते है।[1] 'रु' में उकार का इत्संज्ञक होने के कारण लोप हो जाता है और रकार ही शेष रह जाता है। तब '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से पदान्त रकार के स्थान में विसर्ग हो कर 'पुँः कोकिलः' और 'पुंः कोकिलः' रूप बनेंगे। यहाँ पर '९६-विसर्जनीयस्य सः' से सकार और इसको बाध कर '१०४–वा शरि' से विकल्पः विसर्ग प्राप्त थे, किन्तु 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से दोनों का ही बाध हो कर सकार आदेश होता है—'पुँस्कोकिलः' तथा 'पुंस्कोकिलः'।

१६. यशांसि

मूलरूप—'यशान्+सि'। इस दशा में झल् सकार परे होने के कारण '७८–नश्चाऽ

१. विशेष विवरण के लिए पद्र-संख्या २९ की प्रयोग-सिद्धि देखिये।

पदान्तस्य झलि' से अपदान्त नकार के स्थान में अनुस्वार आदेश हो गया और रूप बना—यशां सि = यशांसि ।[1]

१७. रामश्शेते

मूलरूप—'रामस् + शेते' । इस अवस्था में शकार के साथ योग होने से पूर्व सकार के स्थान में '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार हो जावेगा—'रामश् शेते' = 'रामश्शेते' ।

टिप्पणी—'रामश्चिनोति' (राम स् + चिनोति) 'सच्चित्' (सत् + चित्) और 'शार्ङ्गिञ्जय' (शार्ङ्गिन् + जय) के रूप भी इसी प्रकार स् त् न् के स्थान में क्रमशः शकार चकार और ञकार आदेश हो कर सिद्ध होंगे । तीनों में ही पर चवर्ग (दो में चकार और एक में जकार) का योग है ।

१८. रामष्षष्ठः

मूलरूप—'रामस् + षष्ठः' । इस अवस्था में पर षकार के साथ योग होने के कारण '६४–ष्टुना ष्टुः' से पूर्व सकार के स्थान में षकार आदेश हो जावेगा—'रामस् षष्ठ = रामष्षष्ठः' ।

टिप्पणी—'रामष्टीकते' (रामस् + टीकते) 'पेष्टा' (पेष् + ता) 'तट्टीका' (तत् + टीका) और 'चक्रिण्ढौकसे' (चक्रिन् + ढौकसे) के रूप भी इसी प्रकार सकार के स्थान में षकार और तवर्ग के स्थान में टवर्ग आदेश हो कर सिद्ध होंगे ।

१९. लक्ष्मीच्छाया (लक्ष्मी छाया)

मूलरूप—'लक्ष्मी + छाया' । यहाँ '१०२–पदान्ताद्वा' से छकार परे होने के कारण दीर्घ पदान्त 'लक्ष्मी' को विकल्पतः 'तुक्' आगम हुआ । 'तुक्' में उक् मात्र इत्संज्ञक है अतः तकार ही शेष रह जाता है । ककार के इत्संज्ञक होने के कारण इसकी 'कित्' संज्ञा होगी । '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् होने के कारण तकार 'लक्ष्मी' का अन्तावयव होगा—'लक्ष्मी त् छाया ।' इस अवस्था में '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' के असिद्ध होने के कारण पहिले '१९–झलां जश् झशि' से तकार के स्थान में दकार आदेश होगा—'लक्ष्मी द् छाया ।' तब '७४–खरि च' के असिद्ध होने के कारण '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से दकार को जकार आदेश होगा—'लक्ष्मी ज् छाया ।' अन्त में '७४–खरि च' से जकार को चकार होकर 'लक्ष्मीच्छाया' रूप सिद्ध होगा । अभाव पक्ष में 'लक्ष्मी छाया' ही रहेगा ।[2]

२०. वागीशः

मूलरूप—'वाक् + ईशः ।' इस दशा में '६७–झलां जशोऽन्ते' से पदान्त झल् ककार के स्थान में सादृश्य के कारण जश् गकार हो जावेगा—'वाग् ईशः = वागीशः ।'

---

१. पद-संख्या १ को प्रयोग-सिद्धि भी देखिये ।

२. देखिये २४ वें पद की प्रयोग-सिद्धि ।

विशेष—'वाच ईशः'–इस विग्रह में यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। समास होने पर विभक्ति का हो जाता है। इस लुप्त विभक्ति के द्वारा यहाँ 'वाक्' का ककार पदान्त है।

२१. वाग्घरिः (वाग्हरिः)

मूलरूप—'वाग् + हरिः।' इस अवस्था में झय् गकार से पर हकार के स्थान में '७५–झयो होऽन्यतरस्याम्' से विकल्पतः पूर्वसवर्ण आदेश होगा। नाद, घोष, संवार और महाप्राण हकार के स्थान में आन्तर साम्य से घकार ही आदेश होगा—'वाग् घरिः = वाग्घरिः।' अभाव पक्ष में 'वाग्हरिः ही रहेगा।

२२. विश्नः

मूलरूप—'विश् + तः।' इस अवस्था में पूर्व शकार के साथ योग होने के कारण '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से पर तवर्ग के नकार के स्थान में चवर्ग-ञकार प्राप्त था, किन्तु '६३-शात्' से उसका निषेध हो जाता है। अतः श्चुत्व न होने के कारण मूलरूप 'विश्नः' ही रहेगा।

टिप्पणी—'प्रश्नः' (प्रश् + नः) की भी सिद्धि इसी प्रकार होगी।

२३. शान्तः

मूलरूप—'शां + तः।' इस अवस्था में यय् तकार परे होने के कारण '७९–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान में उसका सवर्ण अनुनासिक वर्ण नकार आदेश हो जावेगा—'शान् तः' = शान्तः।

२४. शिवच्छाया

मूलरूप—'शिव + छाया।' यहाँ छकार परे होने के कारण '१०१–छे च' से वकारोत्तरवर्ती ह्रस्व अकार को तुक् आगम होता है। तुक् में 'उक्' मात्र इत्संज्ञक है अतः तकार ही शेष रह जाता है। ककार के इत्संज्ञक होने के कारण इसकी 'कित्' संज्ञा होगी। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् होने के कारण तकार ह्रस्व अकार का अन्तावयव होगा—'शिव त् छाया।' इस अवस्था में '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' के असिद्ध होने के कारण पहिले '१९–झलां जश् झशि' से तकार के स्थान में दकार आदेश होगा—'शिव द् छाया।' तब '७४–खरि च' के असिद्ध होने के कारण '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से दकार को जकार आदेश होगा—'शिव ज् छाया।' अन्त में '७४–खरि च' से जकार के स्थान में चकार होकर 'शिव च् छाया' = 'शिवच्छाया' रूप सिद्ध होगा।[1]

२५. सञ् छम्भुः (सञ् च् छम्भुः, सञ् च् शम्भुः, सञ् शम्भुः)

मूलरूप—'सन् + शम्भुः।' यहाँ शकार परे होने के कारण '८८–शि तुक्, से पदान्त नकार को 'तुक्' आगम होगा। तुक् में 'उक्' मात्र इत्संज्ञक है, अतः तकार ही शेष

[1] देखिये १९ वें पद की प्रयोग-सिद्धि।

रह जाता है। ककार के इत्संज्ञक होने के कारण तुक् की 'कित्' संज्ञा होगी। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् तकार मकार का अन्तावयव होगा—'सन् त् शम्भुः।' इस स्थिति में '७६–शश्छोऽटि' सूत्र से शकार के स्थान में छकार की प्राप्ति थी, किन्तु '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण पहले तकार को चकार होगा—'सन् च् शम्भुः।' पुनः चवर्ग चकार के योग होने से पूर्व नकार को ञकार हुआ[1]—'सञ् च् शम्भुः।' इस अवस्था में झय् चकार से उत्तरवर्ती अट् अकारपरक शकार को '७६–शश्छोऽटि' से विकल्पतः छकार हो गया—'सञ् च् छम्भुः।' तब '७३–झरो झरि सवर्णे' से झर् चकार का सवर्ण झर् छकार परे होने पर विकल्प से लोप हो गया—'सञ् छम्भुः।' तुक् के अभाव में श्चुत्व होकर[2] 'सञ् शम्भुः' रूप सिद्ध होगा। इन सभी रूपों को श्लोकबद्ध किया गया है :—

'ञ्छौ ञचछा, ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
सूत्राणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात्॥'

२६. षट् त् सन्तः (षट् सन्तः)

मूलरूप—'षड् + सन्तः।' इस अवस्था में '८४–डः सि धुट्' से डकार से पर सकार को 'धुट्' आगम हुआ। 'धुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः धकार ही शेष रहेगा। टकार के इत्संज्ञक होने के कारण इसकी 'टित्' संज्ञा होगी। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'टित्' होने के कारण धकार सकार का आदि-अवयव होगा—'षड्ध् सन्तः।' इस अवस्था में पहिले '७४–खरि च' से धकार के स्थान में तकार होकर 'षड् त् सन्तः' रूप बनेगा और फिर डकार के स्थान में टकार होकर 'षट् त् सन्तः' रूप सिद्ध होगा। धुट् के अभाव में '७४–खरि च' से डकार के स्थान में टकार होकर 'षट् सन्तः' रूप सिद्ध होगा।[3]

२७. षट् सन्तः

मूलरूप—'षट् + सन्तः'। इस अवस्था में पूर्व टवर्ग-टकार के योग होने से '६४–ष्टुना ष्टुः' से सकार के स्थान में षकार प्राप्त था, किन्तु टकार के पदान्त होने के कारण '६५–न पदान्ताट्टोरनाम्' से उसका निषेध हो जाता है। अतः मूलरूप 'षट् सन्तः' ही रहेगा।

टिप्पणी—'षट् ते' (षट् + ते) की रूप सिद्धि भी इसी प्रकार होगी।

२८. षण्णाम्

मूलरूप—'षड् + नाम्'। इस अवस्था में पदान्त टवर्ग डकार से पर तवर्ग नकार

---

१. देखिये १९ वें पद की प्रयोग-सिद्धि।

२. ध्यान रहे कि यह कार्य '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से होता है।

३. इस स्थिति में अग्रिम पद (२७) की प्रयोग-सिद्धि का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

को '६५–न पदान्ताट्टोरनाम्' से ष्टुत्व-निषेध प्राप्त था—किन्तु 'नाम्' परे होने के कारण 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' वार्तिक से इसका वाध हो जाता है तब '६४-ष्टुना ष्टुः' से नकार को णकार आदेश हो जावेगा—'षड् + णाम्'। इस दशा में 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्'। वार्तिक से अनुनासिकादि प्रत्यय 'णाम्' परे होने के कारण यर्-डकार के स्थान में आन्तरतम्य के कारण अनुनासिक + णकार आदेश जावेगा—'षण् णाम्' = 'षण्णाम्।

टिप्पणी—षण्णवति' (षड् + नवति) और 'षण्णगर्यः' (षड् + नगर्यः) के रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होंगे।

२९. सँस्स्कर्ता (संस्स्कर्ता)

मूलरूप—'सम् + स्कर्ता'। यहाँ पर '९०–समः सुटि' से 'सम्' के मकार के स्थान में 'रु' आदेश होगा क्योंकि उसके पश्चात् 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' (६।१।१३७) सूत्र से किये गये सुट् का सकार है—'स रु + स्कर्ता'। इस स्थिति में '९१–अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' से 'रु' के पूर्व-वर्ण सकार को विकल्प से अनुनासिक हो जावेगा—'सँ रु + स्कर्ता'। अभाव-पक्ष में '९२–अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो कर 'संरु + स्कर्ता रूप वनेगा। 'रु' में उकार इत्संज्ञक है, अतः रकार ही शेष रह जाता है। इस प्रकार अव रूप वनेंगे—'सँ र् स्कर्ता' और 'सं र् स्कर्ता' इस अवस्था में '९३–खर-वसानयोर्विसर्जनीयः' से खर् सकार परे होने के कारण रकार के स्थान में विसर्ग हो जावेगा—'सँःस्कर्ता' तथा 'संःस्कर्ता। इस स्थिति में '९६–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान पर सकार और उसका वाध कर '१०४–वा शरि' से विकल्पतः विसर्ग के स्थान में विसर्ग ही प्राप्त था, पर 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' वर्तिक से वाध हो जाने कारण विसर्ग के स्थान में सकार ही होगा—'सँ स् स्कर्ता' = सँस्स्कर्ता, 'संस् स्कर्ता' = संस्स्कर्ता।

विशेष—इस रूप-सिद्धि को भली भाँति समझ लेना चाहिये क्योंकि चक्रिस्त्रा-यस्व' 'काँस्कान्' 'नॄ॒ँ पाहि' 'पुँस्कोकिलः' आदि के रूप भी लगभग इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

३०. सन् त् सः (सन् सः)

मूलरूप—'सन् + सः'। इस अवस्था में नकार से पर सकार को '८७–नश्च' से 'धुट्' आगम हुआ। 'धुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः धकार ही शेष रह जाता है। टकार के इत्संज्ञक होने के कारण 'धुट्' की 'टित्' संज्ञा होगी। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह सकार का आदि अवयव होगा—'सन् + ध् सः'। इस स्थिति में खर् मकार परे होने के कारण '७४–खरि च' से झय् धकार के स्थान में चर्–तकार हो जावेगा—'सन त् सः'। अभाव पक्ष में 'सन् सः' ही रहेगा।

३१. सन् षष्ठः

मूलरूप—'सन् + षष्ठः'। इस अवस्था में षकार का योग होने के कारण '६४–ष्टुना

ष्टुः' से पूर्व तवर्ग नकार के स्थान में टवर्ग णकार प्राप्त था, किन्तु '६६–तोः षि' से उसका निषेध हो जाता है। अतः मूलरूप 'सन् षष्ठः' ही रहेगा।

३२. सम्राट्

मूलरूप—'सम् + राट्'। यहाँ 'राट्' क्विप्प्रत्ययान्त राज् धातु है, अतः उसके परे होने के कारण '८१–मो राजि समः क्वौ' से 'सम्' के मकार के स्थान से मकार ही रहेगा, '७७–मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार नहीं होगा। तथा रूप बनेगा—'सम् राट् = 'सम्राट्'।

३३. सुगण् ठ् षष्ठः (सुगण् ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः)

मूलरूप—'सुगण् + षष्ठः'। यहाँ पर शर् षकार परे होने के कारण '८६–ङ्णोः कुक् टुक् शरि' से णकार को टुक्' आगम होगा। 'टुक्' में 'उक्' मात्र इत्संज्ञक है अतः केवल टकार ही शेष रह जाता है। ककार के इत्संज्ञक होने के कारण 'टुक्' को 'कित्' संज्ञा होगी। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह णकार का अन्तावयव होगा—'सु गण् ट् + षष्ठः'। इस अवस्था में शर् षकार परे होने के कारण 'चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' वार्तिक से चय् टकार के स्थान में विकल्प से द्वितीय वर्ण ठकार हो जावेगा—'सुगण् ठ् षष्ठः'। 'टुक्' के अभाव में 'सुगण् षष्ठः' ही रहेगा।[1]

३४. हरिं वन्दे

मूलरूप—'हरिम् + वन्दे'। इस अवस्था में हल् वकार परे होनें के कारण '७७–मोऽनुस्वारः' से मान्त पद 'हरिम्' के अन्त्य वर्ण मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश हो जावेगा—'हरिं वन्दे'।

विसर्गसन्धि-प्रकरण

१. अहरहः

मूलरूप—'अहन् + अहः'। इस अवस्था में असुप्-प्रत्यय परे न होने के कारण '११०–रोऽसुपि' से 'अहन्' के स्थान में रकार आदेश हो जावेगा। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'अहन् के अन्त्य नकार के ही स्थान में होगा और रूप बनेगा—'अहर् अहः' = 'अहरहः'। ध्यान रहे कि यहाँ '१०६–अतो रोरप्लुतादप्लुते' और '१०७–हशि च' से रकार को उकार नहीं होता, क्योंकि उक्त दोनों सूत्र इत्संज्ञक उकार से पूर्ववर्ती 'रु' के ही रकार के स्थान में उकार आदेश करते हैं।

टिप्पणी—इसी प्रकार 'अहर्गणः' (अहन् + गणः) का भी रूप सिद्ध होगा।

२. एष विष्णुः

मूलरूप—'एषस् + विष्णुः'। इस अवस्था में हल् वकार परे होने के कारण

---

१. देखिये १४ वें पद की प्रयोग-सिद्धि।

'११४–एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' से ककार रहित एतद्–'एषस्' के सकार का लोप हो गया—'एष विष्णुः'।

३. देवा इह (देवायिह)

मूलरूप—'देवास् + इह। इस अवस्था में पहिले '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में 'रु' आदेश होगा—देवा रु + इह। यहाँ अवर्ण आकार पूर्व में होने के कारण '१०८–भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से 'रु' के स्थान में (अश् इकार परे होने से) यकार आदेश होगा—'देवा य् इह।' इस स्थिति में अश् इकार परे होने के कारण '३०–लोपः शाकल्यस्य' से पदान्त यकार का विकल्पतः लोप हो जावेगा—'देवा इह'। लोप त्रिपादीस्थ होने के कारण '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '२७–आद् गुणः' के प्रति असिद्ध है। अतः इससे गुण न होकर 'देवा इह' ही रहेगा। लोपाभाव पक्ष में 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' परिभाषा से यकार और इकार को मिला देने से 'देवायिह' रूप सिद्ध होगा।

४. पुना रमते

मूलरूप—'पुनर् + रमते' इस अवस्था में रकार परे होने के कारण '१११–रो रि' से पूर्व रकार का लोप हो गया—'पुन रमते'। इस स्थिति में रकार के लोप का निमित्त रकार परे होने से पूर्व अण्-नकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में '११२–ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से दीर्घ आकार हो गया—'पुन् आ रमते' = 'पुना रमते'।

टिप्पणी—'हरी रम्यः' और 'शम्भू राजते' के रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होंगे।

५. भो देवाः

मूलरूप—'भोस् + देवाः'। इस अवस्था में पहिले '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में 'रु' आदेश होगा—भो रु देवाः। तब अश् दकार परे होने के कारण '१०८–भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि' से 'भोस् के 'रु' को यकार आदेश हो जावेगा—'भो य् देवाः'।[२] इस स्थिति में हल् दकार परे होने के कारण '१०९–हलि सर्वेषाम् से 'भोस्' के यकार का लोप हो जावेगा और रूप बनेगा—'भो देवाः'।

टिप्पणी—'भगो नमस्ते' (भगोस् + नमस्ते), 'अघो याहि' (अघोस् + याहि) आदि के रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होंगे।

६. मनोरथः

मूलरूप—'मनस् + रथः'। यहाँ पहले '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में 'रु' आदेश होगा—'मन रु + रथः'। यहाँ 'रु' में उकार इत्संज्ञक है, अतः रकार ही शेष रह जावेगा—'मनर् रथः'। इस अवस्था में हश् परे होने के कारण १०७–'हशि च' (६।१।११४) से पूर्व रकार के स्थान में उकार और रकार परे होने के

---

२. देखिये तृतीय पद की प्रयोग-सिद्धि।

कारण 'रो रि' (८।३।१४) से पूर्व रकार का लोप प्राप्त होता है। इस अवस्था में तुल्य बल-विरोध होने के कारण '११३–विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से पर-सूत्र आदेश होगा। इस प्रकार पर होने के कारण 'रो रि' (८।३।१४) से पूर्व रकार का लोप प्राप्त होता है, परन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (८।२।१) से '१११–रो रि' के असिद्ध हो जाने पर '१०७–हशि च' से ही उकार आदेश हो जावेगा—'मन उ रथः।' इस अवस्था में अकार और उकार के स्थान में '२७–आद् गुणः' से गुण 'ओ' एकादेश हो जावेगा—'मन् ओ रथः' = 'मनोरथः'।

७. विष्णुस्त्राता

'मूलरूप—'विष्णुः + त्राता'। इस दशा में खर्-रकारपरक तकार परे होने के कारण '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान में सकार आदेश हो जावेगा—'विष्णु स् त्राता' = 'विष्णुस्त्राता'।

८. शिवोऽर्च्यः

मूलरूप—'शिवस् + अर्च्यः'। इस अवस्था में पहिले '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में 'रु' आदेश होगा—'शिव रु अर्च्यः'। तब अप्लुत ह्रस्व अकार परे होने के कारण '१०६–अतो रोरप्लुतादप्लुते' से अप्लुत ह्रस्व अकार के परवर्ती 'रु' को 'उ' आदेश हुआ—'शिव उ + अर्च्यः'। इस स्थिति में वकारोत्तरवर्त्ती अकार और उकार के स्थान में '२७–आद् गुणः' से 'ओ' एकादेश होगा—'शिव् ओ + अर्च्यः' = 'शिवो + अर्च्यः' इस अवस्था में '४३–एङः पदान्तादति' से ओकार और अकार के स्थान में पूर्वरूप ओकार एकादेश हो जावेगा—'शिवोर्च्यः' = 'शिवोऽर्च्यः'। चिह्न 'ऽ' अकार का लोप सूचित करता है।

९. 'शिवो वन्द्यः

मूलरूप—'शिवस् + वन्द्यः'। यहाँ पहले '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में 'रु' आदेश होगा—'शिव रु + वन्द्यः'। तब हश् वकार परे होने के कारण '१०७–हशि च' से अप्लुत ह्रस्व अकार से परवर्ती 'रु' के स्थान में उकार आदेश होगा—'शिव उ + वन्द्यः'। इस स्थिति में वकारोत्तरवर्त्ती अकार और उकार के स्थान में '२७–आद् गुणः' से ओकार एकादेश हो गया—'शिव् ओ + वन्द्यः = 'शिवो वन्द्यः'।

१०. स शम्भुः

मूलरूप—'सस् + शम्भुः'। इस अवस्था में हल् शकार के परे होने के कारण '११४–एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' से ककार रहित तत् 'सस्' के सकार का लोप हो जावेगा—'स शम्भुः'।

११. हरिः शेते (हरिश्शेते)

मूलरूप—'हरिः + शेते'। यहाँ '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान में

१. देखिये द्वितीय पद की प्रयोग-सिद्धि।

सकार प्राप्त था, किन्तु शर् शकार परे होने के कारण '१९४–वा शरि' से वाध होकर विसर्ग के स्थान में विकल्प से विसर्ग ही प्राप्त होंगे—'हरिः शेते'। विसर्गाभाव पक्ष में '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान में सकार हो जावेगा—'हरिस्+शेते'। अन्त में शकार का योग होने के कारण '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से सकार के स्थान में शकार हो जावेगा—'हरिश्+शेते' = 'हरिश्शेते'।

अजन्तपुँल्लिङ्ग-प्रकरण

१. कति

यह 'कति' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'कति+अस्' (जस् व शस्)। यहाँ '१८७–डति च' से 'कति' की षट्संज्ञा होने पर '१९८–षड्भ्यो लुक्' सूत्र से उससे परे जस् और शस् का लोप हो जाता है और रूप वनता है—'कति'। इस स्थिति में जस् का लोप होने पर भी '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से तदाश्रित कार्य विहित होने के कारण '१६८–जसि च' से गुण एकादेश प्राप्त होता है। पर '१९१–न लुमताऽङ्गस्य' से 'जस्' के 'लुक्' होने के कारण अङ्ग को होने वाला गुणकार्य न होकर 'कति' रूप ही रहेगा। 'शस्' में प्रत्यय-लक्षण कार्य नहीं होता और वहाँ भी यही 'कति' रूप ही रहता है।

२. क्रोष्टा

यह 'क्रोष्टु' (गीदड़) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'क्रोष्टु'+स् (सु)। इस स्थिति में सम्वुद्धि भिन्न सर्वनाम–स्थान 'सु' परे होने के कारण '२०३–तृज्वत् क्रोष्टुः' सूत्र से 'क्रोष्टु' के स्थान पर तृजन्त 'क्रोष्टृ' आदेश होकर 'क्रोष्टृ+स्' रूप वनता है। यहाँ सर्वनाम-स्थान परे होने के कारण '२०४–ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः' से गुण आदेश प्राप्त होता है, किन्तु सम्वुद्धि-भिन्न 'सु' परे होने के कारण '२०५–ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' उसका निषेध होकर अनङ् आदेश प्राप्त होता है। 'अनङ्' में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण 'ङिच्च' (१।१।५३) सूत्र से 'क्रोष्टृ' के अन्त्य वर्ण ऋकार के स्थान पर ही यह आदेश होगा और रूप वनेगा—'क्रोष्ट् अन् स्'। यहाँ पर 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' परिभाषा से परस्पर मिलाने से 'क्रोष्टन् स्' रूप वनता है। इस स्थिति में सम्वुद्धि भिन्न 'सु' परे होने के कारण '२०६–अप्तृन्तृच०' से 'क्रोष्टन्' की उपधा अकार को दीर्घ आकार आदेश होकर 'कोष्टान् स्' रूप वनेगा। फिर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप होकर 'क्रोष्टान्' रूप वनता है। यहाँ प्रातिपादिक के अन्त में नकार होने के कारण '१८०–न-लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से उसका लोप होकर 'क्रोष्टा' रूप सिद्ध होता है।

३. क्रोष्टारम्

यह 'क्रोष्टु' शब्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूल रूप है 'क्रोष्टु+अम्'

यहाँ पहले '२०३–तृज्वत्क्रोष्टुः' से 'क्रोष्टु' को 'कोष्टृ होकर 'कोष्टृ+अम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा '१३५–'अमि पूर्वः' से पूर्व-रूप एकादेश प्राप्त होता है। किन्तु सर्वनाम-स्थान परे होने के कारण '२०४–ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः' से गुण एकादेश प्राप्त होता है। '२९–उरण् रपरः' की सहायता से ऋकार और अकार के स्थान पर 'अर्' आदेश होकर 'क्रोष्ट् अर् + अम्' = 'क्रोष्टर् + अम्' रूप बनता है। यहाँ '२०६–अप्-तृन्-तृच्०' से 'क्रोष्टर्' की उपधा-अकार को दीर्घ आकार होकर 'क्ष्टार् + अम्' = 'क्रोष्टारम्' रूप सिद्ध होता है।

४. क्रोष्टुः

यह 'क्रोष्टु' के पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'क्रोष्टु' + अस्' (ङसि व ङस्)। यहाँ भी 'क्रोष्टारम्' (३) के समान 'क्रोष्टृ + अस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में ङसि और ङस् सम्बन्धी अकार परे होने के कारण '२०८–ऋत उत्' से पूर्वपर के स्थान पर उकार एकादेश होगा। '२९-उरण् रपरः' की सहायता से ऋकार और अकार के स्थान पर 'उर्' आदेश होकर 'क्रोष्ट् उर् स्' रूप बनेगा। यहाँ '२०९–रात् सस्य' से रकार से परे संयोगान्त सकार का लोप होकर 'क्रोष्ट्-उर् = क्रोष्टुर्' रूप बनता है। फिर '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध होता है।

५. क्रोष्टूनाम्

यह 'क्रोष्टु' शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'क्रोष्टु + आम्'। इस स्थिति में 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' (७।१।९१) से तृज्वद्भाव तथा '१४८–ह्रस्वनद्यापो०' से 'नुट्' आगम एक साथ ही प्राप्त होते हैं। '११३–विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) परिभाषा से अष्टाध्यायी क्रम में पर होने के कारण तृज्वद्भाव प्राप्त होता है। (ध्यान रहे कि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' की सूत्र संख्या ७।१।५४ है) किन्तु 'नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' वार्तिक से इसका बाध होकर 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः 'टित्' होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा–'क्रोष्टु + न् आम्' = 'क्रोष्टु + नाम्'। यहाँ 'नाम्' परे होने के कारण '१४९–नामि' सूत्र से 'क्रोष्टु' को दीर्घ आदेश होगा। '२१–'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा में उकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार होकर 'क्रोष्ट् ऊ + नाम् = क्रोष्टूनाम्' रूप सिद्ध होगा।

६. क्रोष्ट्रा (क्रोष्टुना)

यह 'क्रोष्टु' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'क्रोष्टु + आ' (टा)। इस स्थिति में अजादि तृतीया विभक्ति परे होने के कारण '२०७–विभाषा

तृतीयादिष्वचि' से 'क्रोष्टु' के स्थान पर विकल्प से 'क्रोष्टृ' आदेश होगा और रूप बनेगा—'क्रोष्टृ + आ'। यहाँ '१५—इको यणचि' से ऋकार को यण्—रकार होकर 'क्रोष्ट् र् + आ' = 'क्रोष्ट्रा' रूप सिद्ध होता है। तृज्वद्भाव के अभाव में '१७०—शेषो घ्यसखि' से 'क्रोष्टु' की घि संज्ञा होने पर '१७१—आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'ना' आदेश होकर 'क्रोष्टुना' रूप बनेगा।

७. खलप्वौ

यह 'खलपू' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'खलपू + औ'। यहाँ 'पू' उवर्णान्त धातु है और इसके पूर्व कोई संयोग भी नही है। अतः इस प्रकार के अनेकाच् अंग 'खलपू' से अजादि सुप् 'औ' परे होने के कारण '२१०—ओः सुपि' उसको यण् आदेश होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य ऊकार के स्थान पर वकार होकर 'खलप्व् + औ' = 'खलप्वौ' रूप सिद्ध होता है।

८. गाम्

यह 'गो' शब्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'गो + अम्'। इस स्थिति में सर्वनामस्थान प्रत्यय 'अम्' परे होने के कारण '२१३—गोतो णित्' सूत्र से णिद्वद्भाव प्राप्त होता है, किन्तु 'अम्' का अच्—अकार परे होने से '२१४—औतोऽम्शसोः' सूत्र द्वारा उसका निषेध होकर आकार एकादेश होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'ग् आ म् = 'गाम्'।

९. गाः

यह 'गो' शब्द के द्वितीया के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'गो + अस्' (शस्)। यहाँ भी 'गाम्' (८) की भाँति 'शस्' सम्बन्धी अकार परे होने के कारण '२१३—गोतो णित्' का बाध होकर '२१४—'औतोऽम्शसोः' सूत्र से आकार एकादेश हो जाता है और रूप बनता है—'ग् आ म्' = 'गास्। इस स्थिति में '१०५—ससजुषोरुः' से पदान्त सकार के स्थान पर रकार होकर 'गार्' रूप बनेगा। फिर '९३—खरवसानयोः०' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'गाः' रूप सिद्ध होता है।

यहाँ ध्यान रहे कि आकार पूर्वसवर्णदीर्घघटित नहीं है, अतः '१३७—तस्माच्छसः०' से सकार के स्थान पर नकार नहीं होगा।

१०. गावौ

यह 'गो' शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'गो + औ'। इस स्थिति में '२१३—गोतो णित्' से णिद्वद् भाव होने पर '१८२—अचो ञ्णिति' से अन्त्य ओकार को वृद्धि—औकार आदेश होकर 'गौ + औ' रूप बनता है। यहाँ '२२—एचोऽयवायावः' से गकारोत्तरवर्ती औकार के स्थान पर 'आव्' आदेश होकर 'ग् आव् औ' = 'गावौ' रूप सिद्ध होता है।

११. गौः

यह 'गो' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'गो+स्' (सु)। इस स्थिति में ओकार 'गो' शब्द से परे होने के कारण '२१३—गोतो णित्' द्वारा सर्वनामस्थान प्रत्यय 'सु' णिद्वत् होगा। तब णिद्वत् भाव होने पर '१८२—अचो ञ्णिति' से 'गो' के अन्त्य ओकार को वृद्धि औकार होकर 'ग् औ स्' = 'गौस्' रूप बनता है। यहाँ '१०५—ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर रकार होकर 'गौर्' रूप बनेगा। फिर '९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'गौः' रूप सिद्ध होगा।

१२. ग्लौः

यह 'ग्लौ' (चन्द्रमा) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप 'ग्लौ+स् (सु)' है। यहाँ पदान्त सकार को '१०५—ससजुषो रुः' से रकार होकर 'ग्लौर्' रूप बनता है। फिर '९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'ग्लौः' रूप सिद्ध होगा।

१३. त्रयाणाम्

यह 'त्रि' शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'त्रि+आम्'। इस स्थिति में 'आम्' परे होने के कारण '१९२—त्रेस्त्रयः' से 'त्रि' के स्थान पर 'त्रय' सर्वादेश होकर 'त्रय+आम्' रूप बनेगा। यहाँ ह्रस्वान्त अङ्ग होने के कारण '१४८—ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को 'नुट्' आगम होगा। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः 'टित्' होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'त्रय+न् आम्' = 'त्रय+नाम्'। इस अवस्था में 'नाम्' परे होने के कारण '१४९—नामि' से यकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'त्रय् आ+नाम् = त्रयानाम्' रूप बनता है। अन्त में '१३८—अट्-कुप्वाङ्०' सूत्र से रकार से परे होने के कारण नकार को णकार होकर 'त्रयाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

१४. द्वौ

यह 'द्वि' शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'द्वि+औ'। इस स्थिति में '१९३—त्यदादीनाय्—अः' से 'द्वि' को अकार आदेश हो जाता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह अकार अन्त्य इकार के स्थान पर होगा और रूप बनेगा—'द्व् अ+औ' = 'द्व+औ'। यहाँ '३३—वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि—औकार आदेश होकर 'द्व् औ' = 'द्वौ' रूप सिद्ध होता है।

१५. द्वयोः

यह 'द्वि' शब्द के षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'द्वि+ओस्'। इस स्थिति में पहले '१९३—त्यदादीनाम्—अः' से 'द्वि' के अन्त्य

इकार के स्थान पर अकार आदेश होकर 'द्व् अ+ओस्' = 'द्व+ओस्' रूप वनता है। तव '१४७–ओसि च' से अकार को एकार होकर 'द्व ए+ओस्' = 'द्वे+ओस्' रूप वनेगा। यहाँ '२२–एचोऽयवायाव:' से एकार को 'अय्' आदेश होता है और रूप वनता है—'द्व् अय्+ओस्' = 'द्वयोस्'। फिर पदान्त सकार को '१०५–ससजुषो रुः' से रकार तथा रकार के स्थान पर '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीय:' से विसर्ग होकर 'द्वयोः।' रूप सिद्ध होता है।

१६. निर्जरसौ (निर्जरौ)

यह 'निर्जर' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'निर्जर+औ'। यहाँ अजादि विभक्ति 'औ' परे होने के कारण '१६१–जराया जरसन्यतरस्याम्' सूत्र से 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' आदेश होता है। यहाँ 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च', 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' तथा 'एकदेशविकृतमनन्यवत्'–इन तीन परिभाषाओं की सहायता से यह आदेश 'निर्जर' शब्द के 'जर' के स्थान पर होगा। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा द्वारा 'जरस्' सम्पूर्ण 'जर' के स्थान पर होता है और इस प्रकार 'निर्जरस्+औ' = 'निर्जरसौ' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में '३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि–औकार एकादेश होकर 'निर्जरौ' रूप वनता है।

१७. नृणाम् (नॄणाम्)

यह 'नृ' शब्द के षष्ठी के वहुवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'नृ+आम्'। इस स्थिति में पहले '१४८–ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को नुट् आगम होता है। 'नुट्' में 'उट' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव वनता है और रूप वनता है—'नृ+न् आम्' = 'नृ+नाम'। यहाँ '२१२–नृ च' से 'नृ' के अन्त्य ऋकार को वैकल्पिक दीर्घ ॠकार करने पर 'नॄ+नाम्' रूप वनेगा। 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से ऋकार से परे होने के कारण नकार को णकार होकर 'नॄणाम्' रूप सिद्ध होता है। दीर्घाभाव पक्ष में णत्व होकर 'नृणाम्' रूप वनेगा।

१८. पत्या

यह 'पति' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'पति+आ' (टा)। यहाँ '१८५–पतिः समास एव' से 'पति' की घिसंज्ञा न होने के कारण '१५–इको यणचि' से अन्त्य इकार स्थान पर यण् यकार आदेश होकर 'पत्य्+आ' = 'पत्या' रूप सिद्ध होता है।

१९. पप्यौ

यह 'पपी' (सूर्य) शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'पपी'+औ'। यहाँ प्रथमा और द्वितीया का अच् परे होने के कारण

'१२६—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश प्राप्त होता है, किन्तु दीर्घ ईकारान्त अङ्ग होने से '१६२—दीर्घाज्जसि च' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '१५—इको यणचि' से अन्त्य ईकार को यकार होकर 'पप-य-औ' = 'पप्यौ' रूप सिद्ध होता है।

२०. प्रध्यौ

यह 'प्रधी' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'प्रधी + औ' यहाँ पहले '१२६—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश प्राप्त होता है, किन्तु '१६२—दीर्घाज्जसि च' से उसका निषेध हो जाता है। तव '१५—इको यणचि' से यण् प्राप्त होता है, पर इवर्णान्त 'धी' धातु से अजादि 'औ' प्रत्यय परे होने के '१९८—अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' से उसका बाध होकर 'इयङ्' आदेश प्राप्त होता है। किन्तु असंयोगपूर्व इवर्णान्त 'धी' धातु वाले अनेकाच् 'प्रधी' अङ्ग से अजादि विभक्ति परे होने के कारण '२००—एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' सूत्र से उसका भी निषेध हो जाता है, और ईकार के स्थान पर यण् यकार होकर 'प्र ध् य् औ' = 'प्रध्यौ' रूप सिद्ध होता है।

२१. वहुश्रेयस्याम्

यह 'वहुश्रेयसी' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'वहुश्रेयसी + ङि'। यहाँ 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' की सहायता से '१९४—यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र से 'वहुश्रेयसी' में 'श्रेयसी' शब्द की नदी संज्ञा होती है। फिर '१९८—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से नद्यन्त 'वहुश्रेयसी' से परे होने के कारण 'ङि' को 'आम्' आदेश होकर 'बहुश्रेयसी + आम्' रूप वनता है। इस स्थिति में स्थानवद्भाव से 'आम्' ङित् है। अतः यहाँ '१९६—आण् नद्याः' से आट् का आगम तथा '१४८—ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् का आगम-दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं। इस स्थिति में '११३—विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से 'आम्' को परकार्यरूप 'आट्' आगम प्राप्त होता है। 'आट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभापा से यह 'आम्' का आद्ययवय होगा और रूप वनेगा—'वहुश्रयसी + आ आम् यहाँ पहले '१९७—आटश्च' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि आकार एकादेश होकर 'वहुश्रेयसी + आम्' रूप वनता है। फिर '१५—इको यणचि' से अन्त्य ईकार के स्थान पर यण् यकार होकर 'वहुश्रेयस् य् आम' = 'वहुश्रेयस्याम्' रूप सिद्ध होता है।

२२. वहुश्रेयस्यै

यह 'वहुश्रेयसी' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'वहुश्रेयसी + ए' (ङे)। यहाँ भी 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' वार्तिक की सहायता से '१९४—यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र से 'वहुश्रेयसी' में 'श्रेयसी' की 'नदी' संज्ञा होती है। अतः नद्यन्त 'वहुश्रेयसी' शब्द से परे होने के कारण '१९६—आण्नद्याः' से 'ङे' को

'आट्' आगम होगा। टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौं' परिभाषा से यह 'ङे' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'बहुयश्रेसी + आ ए'। इस स्थिति में 'आट्' से परे अच् एकार होने से '१९७–आटश्च' से वृद्धि ऐकार एकादेश होकर 'बहुश्रेयसी + ऐ' रूप बनता है। यहाँ '१५–इको यणचि' से अन्त्य ईकार के स्थान पर यण् यकार होकर 'बहुश्रेयस् य् ऐ' = 'बहुश्रेयस्यै' रूप सिद्ध होता है।

२३. रामम्

यह 'राम' शब्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'राम + अम्'। यहाँ '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ २७४–'अतो गुणे' से पर-रूप तथा '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होते हैं। किन्तु 'अम्' परे होने के कारण '१३५–अमि पूर्वः' से इन सबका बाध होकर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप-अकार एकादेश होता है और इस प्रकार 'राम् अम्' = 'रामम्' रूप सिद्ध होता है।

२४. रामयोः

यह 'राम' शब्द के षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'राम + ओस्'। यहाँ पर 'ओस्' परे होने से '१४७–ओसि च' सूत्र द्वारा अन्त्य अकार को एकार होकर राम् ए + ओस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२२–एचोऽयवायावः' से एकार के स्थान पर 'अय्' आदेश होकर 'राम् अय् + ओस्' = 'रामयोस्' रूप बनता है। यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान पर 'रु' आदेश होगा। 'रु' में उकार इत्संज्ञक है, अतः रकार शेष रहकर 'रामयोर्' रूप बनता है। इस अवस्था में '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार को विसर्ग होकर 'रामयोः' रूप सिद्ध होता है।

२५. रामः

यह 'राम' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। आदि रूप है—'राम + स्' (सु)। यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' आदेश होता है। 'रु' में '२८–उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से उकार की इत्संज्ञा तथा '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है, अतः सकार के स्थान पर रकार होकर 'राम + र्' रूप बनता है। इस स्थिति में रकार के '१२४–विरामोऽवसानम्' से अवसान संज्ञक होने के बाद '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से उसके स्थान पर विसर्ग होकर 'रामः' रूप सिद्ध होता है।

२६. राः

यह 'रै' (धन) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'रै + स् (सु)'। इस स्थिति में हलादि विभक्ति 'सु' परे होने के कारण अन्त्य ऐकार को '२१५–रायो हलि' सूत्र से आकार आदेश होकर 'रा + स्' रूप बनता है। यहाँ '१०५–ससजुषो रु' से सकार के स्थान पर रकार तथा '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार को विसर्ग करने पर 'राः' रूप सिद्ध होता है।[1]

---

१. इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वपद (२५) की रूप-सिद्धि देखिये।

२७. रामाणाम्

यह 'राम' शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इस का आदि रूप है—'राम+आम्'। यहाँ ह्रस्वान्त अंग 'राम' से परे होने के कारण '१४८—ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः नकार मात्र शेष रहता है। 'टित्' होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होता है और रूप बनता है—'राम+न् आम्' = 'राम+नाम्।' यहाँ 'नाम्' परे होने से '१४९—नामि' सूत्र से 'राम' के अन्त्य अकार को दीर्घ आकार होकर 'राम् आ+नाम्' = 'रामानाम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१३८—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से रकार से परे होने के कारण व्यवधान होने पर भी नकार को णकार होकर 'रामाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

२८. रामान्

यह 'राम' शब्द के द्वितीया के बहुवचन का रूप है। इस का मूलरूप है—'राम+शस्'। यहाँ '१३६—लशक्वतद्धिते' से तद्धित-भिन्न 'शस् के आदि शकार की इत्संज्ञा होकर '३—तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है और रूप बनता है—'राम+अस्।' तब '१२६—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'राम् आ स्' = 'रामा स्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१३७—तस्माच्छसो नः पुंसि' से मकारोत्तरवर्ती पूर्वसवर्ण दीर्घ आकार से परे होने के कारण 'शस्' के सकार को नकार होकर 'रामान्' रूप बनता है। यहाँ '१३८—अट्कुप्वाङ्०'सूत्र से नकार के स्थान पर णकार प्राप्त होता है, किन्तु पदान्त में होने से '१३९—पदान्तस्य' से उसका निषेध हो जाता है। अतः 'रामान्' रूप ही रहेगा।

२९. रामाभ्याम्

यह 'राम' शब्द के तृतीया, चतुर्थी और पंचमी के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'राम+भ्याम्'। यहाँ यञादि सुप् 'भ्याम्' परे होने के कारण 'राम' के अन्त्य अकार को दीर्घ आकार आदेश होकर 'राम्+आ भ्याम्' = 'रामाभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

३०. रामाय

यह 'राम' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'राम+ङे'। यहाँ '१४३—ङेर्यः' से अदन्त अंग 'राम' से परे 'ङे' को 'य' आदेश होकर 'राम+य' रूप बनता है। इस स्थिति में '१४४—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' परिभाषा से 'य' में सुप्त्व भाव होने पर '१४१—सुपि च' से मकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ होकर 'राम् आ य' = 'रामाय' रूप सिद्ध होता है।

३१. रामाः

यह 'राम' शब्द के प्रथमा के बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—

'राम+जस्'। यहाँ '१२९–चुटू' सूत्र से 'जस्' के आदि चवर्ग जकार की इत्संज्ञा होकर '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है। इस प्रकार 'राम+अस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१–हलन्त्यम्' सूत्र द्वारा 'अस्' के सकार की इत्संज्ञा प्राप्त होती है, किन्तु विभक्ति में स्थित होने से '१३१–न विभक्तौ तुस्माः' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। अब यहाँ '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ प्राप्त होने पर उसे बाधकर '२७४–अतो गुणे' से पररूप प्राप्त होता है। पुनः उसको भी बाधकर '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ आकार करने से 'राम् आस्' = 'रामास्' रूप बनता है। इस अवस्था में '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर रकार तथा अवसान होने पर '९३ खरवसानयोर्विसर्जनीय' से रकार को विसर्ग होकर 'रामाः' रूप सिद्ध होता है।

३२. रामेण

यह 'राम' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'राम+टा'। यहाँ अदन्त अंग 'राम' से परे होने के कारण '१४०–टाङसिङसामिनात्स्याः' से 'टा' को 'इन' आदेश होकर 'राम+इन' रूप बनता है। इस अवस्था में पहले '२७–आद् गुणः' से गुण एकार एकादेश होकर 'राम् ए न' = 'रामेन' रूप बनेगा। पुनः '१३८–अट्–कुप्वाङ्०'—सूत्र से नकार को णकार होकर 'रामेण' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहाँ '१२९–पदान्तस्य' द्वारा णत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि यहाँ पदान्त 'न्' नहीं, अपितु पदान्त 'अ' है।

३३. रामेभ्यः

यह 'राम' शब्द के चतुर्थी और पंचमी के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'राम+भ्यस्'। यहाँ झलादि बहुवचन सुप् 'भ्यस्' परे होने के कारण '१४५–बहुवचने झल्येत्' सूत्र से 'राम' के अन्त्य अकार के स्थान पर एकार आदेश होकर 'राम् ए+भ्यस् = 'रामेभ्यस्' रूप बनता है। इस अवस्था में '१०५–ससजुषो रुः' से सकार को रकार तथा '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान में विसर्ग होकर 'रामेभ्यः' रूप सिद्ध होता है।

३४. रामेषु

यह 'राम' शब्द के सप्तमी के बहुवचन का रूप है। मूल रूप है—'राम+सुप्'। यहाँ पकार की '१–हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा तथा '३–तस्य लोपः' से उसका लोप होकर 'राम+सु' रूप बनता है। इस अवस्था में झलादि बहुवचन सुप्–'सुप्' परे होने के कारण '१४५–बहुवचने झल्येत्' से 'राम' के अन्त्य अकार को एकार होकर 'राम् ए+सु' = 'रामेसु' रूप बनेगा। यहाँ '१५०–आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से मकारोत्तरवर्ती एकार इण् से परे 'सु' प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार आदेश होकर 'रामेषु' रूप सिद्ध होता है।

३५. रामैः

यह 'राम' शब्द के तृतीया के बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'राम+भिस्'। यहाँ '१४१–सुपि च' से दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '१४२–अतो भिस् ऐस्' से उसका बाध होकर 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश प्राप्त होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर होगा और रूप बनेगा—'राम+ऐस्'। यहाँ '३३–वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर ऐकार एकादेश होकर 'राम् ऐ स्' = 'रामैस्' रूप बनता है। इस अवस्था में '१०५–ससजुषो रुः' से सकार को रकार तथा '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान में विसर्ग होकर 'रामैः' रूप सिद्ध होता है।

३६. रामौ

यह 'राम' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'राम+औ'। यहाँ '३३–वृद्धिरेचि' से अवर्ण अकार और 'औ' के स्थान पर वृद्धि एकादेश प्राप्त होता है, किन्तु '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्रथमाविभक्ति के 'औ' और द्वितीया के 'औट्' (औ) परे होने के कारण उसका निषेध होकर पूर्वसवर्णदीर्घ आकार प्राप्त होता है। परन्तु अवर्ण से इच्–औकार परे होने के कारण '१२७–नाऽऽदिचि' सूत्र द्वारा उसका भी बाध हो जाता है। तब पुनः '३३–वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि 'औ' एकादेश करने पर 'राम् औ' = 'रामौ' रूप सिद्ध होता है।

३७. वर्षाभ्वौ

यह 'वर्षाभू' (मेढक) शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'वर्षाभू+औ'। इस अवस्था में पहले '१५–इको यणचि' से उकार के स्थान पर यण् वकार प्राप्त होता है, किन्तु प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के प्रत्यय परे होने के कारण '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। परन्तु दीर्घ ऊकार से इच् औकार परे होने से '१६२–दीर्घाज्जसि च' से इसका भी निषेध हो जाता है। तब पुनः '१५–इको यणचि' से यण् प्राप्त होता है, तथा फिर '१९९–अचि-श्नु०' सूत्र से उवर्णान्त 'भू' धातु से अजादि प्रत्यय 'औ' परे होने के कारण उसका बाध होकर 'उवङ्' आदेश प्राप्त है। असंयोगपूर्व उवर्ण धातुवाले अनेकाच् अङ्ग 'वर्षाभू' से अजादि प्रत्यय सुप् परे होने से '२१०–ओः सुपि' सूत्र द्वारा उसका भी बाध होकर पुनः यण् आदेश प्राप्त होता है। किन्तु '२०२–न भूसुधियोः' सूत्र से इसका भी निषेध हो जाता है। इस परिस्थिति में '२११–वर्षाभ्वश्च' द्वारा अजादि इस प्रकार 'वर्षा भ् सुप् 'औ' परे होने के कारण ऊकार के स्थान पर वकार यण् आदेश हो जाता है, और व् औ' = 'वर्षाभ्वौ' रूप सिद्ध होता है।

३८. विश्वपः

यह 'विश्वपा' (संसार का पालन करने वाला, परमात्मा) शब्द के द्वितीया

वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'विश्वपा + शस्' । यहाँ पहले '१३६–लशक्वतद्धिते' सूत्र से 'शस्' के आदि शकार की इत्संज्ञा तथा '३–तस्य लोपः' से लोप होकर 'विश्वपा + अस्' रूप वनता है। इस स्थिति में अजादि प्रत्यय 'अस्' (शस्) पर होने के कारण 'विश्वपा' की भ-संज्ञा होगी। तव '१६७–आतो धातोः' से आकारान्त धातु वाले भसंज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' के अन्त्य आकार का लोप हो जाता है और रूप वनता है—'विश्वप् अस् = विश्वपस्' । यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से रकार को विसर्ग होकर 'विश्वपः' रूप सिद्ध होता है।

३९. विश्वपौ

यह 'विश्वपा' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'विश्वपा + औ' । यहाँ '३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश प्राप्त होने पर प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के प्रत्यय परे होने से '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' द्वारा उसका वाध होकर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। किन्तु पकारोत्तरवर्ती दीर्घ आकार से इच्–औकार परे होने के कारण '१६३–दीर्घाज्जसि च' से उसका भी निषेध हो जाता है। तव पुनः '३३–वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि 'औ' आदेश होकर 'विश्वप् औ' = 'विश्वपौ' रूप सिद्ध होता है।

४०. शुद्धधियौ

यह 'शुद्धिधी' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'शुद्धधी + औ' । यहाँ इवर्णान्त धातु 'धी' से पर अजादि प्रत्यय होने के कारण '१९९–अचि श्नु०' सूत्र से 'इयङ्' आदेश प्राप्त होता है, किन्तु असंयोगपूर्वक अनेकाच् अंग होने से '२००–एरनेकाचः०' सूत्र से उसका वाध होकर यण् आदेश प्राप्त होता है। पर 'शुद्धधी' में '२०१–गतिश्च' से 'शुद्ध' की गति संज्ञा न होने के कारण 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' वार्तिक से यण् का निषेध हो जाता है। तव पुनः '१९९–अचि श्नु०' से 'इयङ्' आदेश होता है। 'इयङ्' में 'अङ्' इत्सज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण '४६–ङिच्च' परिभाषा से यह 'शुद्धधी' के अन्त्य ईकार के स्थान पर होता है, और इस प्रकार 'शुद्ध ध् इय् औ' = 'शुद्धधियौ' रूप सिद्ध होता है।

४१. सखा

यह 'सखि' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'सखि + स् (सु)' यहाँ सम्वुद्धि भिन्न 'सु' परे होने से '१७५–अनङ् सौ' सूत्र द्वारा 'सखि' के स्थान पर 'अनङ्' आदेश होता है। 'अनङ्' में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण '४६–ङिच्च' द्वारा यह अन्त्य इकार के स्थान पर ही होगा और रूप वनेगा—'सख् अन् + स्' । इस स्थिति में सम्वुद्धि भिन्न सर्वनाम स्थान 'सु' परे होने से '१७७–सर्वनामस्थाने चाऽसम्वुद्धौ' से नकारात्मक अङ्ग 'सख् अन्' की उपधा अकार को दीर्घ

आकार होकर 'सख् आन्+स्' = 'सखान्+स्' रूप बनता है। यहाँ '१७८–अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' से सकार की अपृक्त संज्ञा होने पर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' से उसका लोप हो जाता है और रूप बनता है—'सखान्'। अब '१८०–न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से पदान्त नकार का लोप होकर 'सखा' रूप सिद्ध है।

४२. सखायौ

यह 'सखि' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है–'सखि+औ'। यहाँ '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '१८१–सख्युरसम्बुद्धौ' से उसका बाध होकर सम्बुद्धि-भिन्न सर्वनाम स्थान 'औ' (प्रथमा, द्वितीया के द्विवचन औ, औट्) णिद्वत् होगा। इस स्थिति में णित् परे होने के कारण '१८२–अचो ञ्णिति' से 'सखि' के अन्त्य इकार को वृद्धि ऐकार होकर 'सख् ऐ+औ' = 'सखै+औ' रूप बनता है। पुनः '२२–एचोऽयवायावः' से ऐकार को 'आय्' आदेश होकर 'सख् आय् औ' = 'सखायौ' रूप सिद्ध होता है।

४३. सख्युः

यह 'सखि' शब्द के पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'सखि+अस्' (ङसि व ङस्)। यहाँ '१५–इको यणचि' से इकार को यकार होकर 'सख् य्+अस' रूप बनता है। इस स्थिति में कृत यणादेश 'ख्य्'-रूप 'खि' शब्द से परे होने के कारण '१८३–ख्यत्यात् परस्य' सूत्र से 'ङसि' और ङस् के अकार को उकार हो जाता है और इस प्रकार 'सख् य् उस्' = 'सख्युस्' रूप बनता है। यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार को विसर्ग होकर 'सख्युः' रूप सिद्ध होता है।

४४. सख्यौ

यह 'सखि' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है–'सखि+ङि'। यहाँ ह्रस्व इकार से परे होने के कारण '१८४–औत्' सूत्र से 'ङि' के स्थान पर औकार आदेश होकर 'सखि+औ' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५–इको यणचि' से इकार के स्थान पर यकार होकर 'सख् य् औ' = 'सख्यौ' रूप सिद्ध होता है।

४५. सर्वस्मात्

यश 'सर्व' शब्द के पञ्चमी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'सर्व+ङसि'। यहाँ अदन्त सर्वनाम से परे होने के कारण '१५४–ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' सूत्र से 'ङसि' के स्थान पर 'स्मात्' सर्वादेश हो जाता है और इस प्रकार 'सर्व+स्मात्' = 'सर्वस्मात्' रूप सिद्ध होता है।

४६. सर्वस्मिन्

यह 'सर्व' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। आदि रूप है–'सर्व+ङि'।

यहाँ भी अदन्त सर्वनाम से परे होने के कारण '१५४–ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' सूत्रद्वारा 'ङि' के स्थान पर 'स्मिन्' आदेश होकर 'सर्वस्मिन्' रूप सिद्ध होता है।

४७. सर्वस्मै

यह 'सर्व' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'सर्व+ङे'। यहाँ अदन्त सर्वनाम 'सर्व' से परे होने के कारण '१५३–सर्वनाम्नः स्मै' से 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश होकर 'सर्व+स्मै' = 'सर्वस्मै' रूप सिद्ध होता है।

४८. सर्वे

यह 'सर्व' शब्द के प्रथमा के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'सर्व+जस्'। यहाँ अदन्त 'सर्व' शब्द से पर और सर्वनाम से विहित होने के कारण '१५२–जसः शी' सूत्र जस् के स्थान पर 'शी' आदेश होकर 'सर्व+शी' रूप वनता है। इस स्थिति में '१४४–स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' परिभाषा से 'शी' में प्रत्ययत्व लाने पर '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार की इत्संज्ञा होकर '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है और रूप वनता है—'सर्व+ई'। यहाँ '२७–आद् गुणः' से वकारोत्तरवर्ती अकार और ईकार के स्थान पर गुण एकार एकादेश करने पर 'सर्व् ए' = 'सर्वे' रूप सिद्ध होता है।

४९. सर्वेषाम्

यह 'सर्व' शब्द के षष्ठी के वहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'सर्व+आम्'। यहाँ अवर्णान्त से परे तथा सर्वनाम से विहित होने के कारण '१५५–आमि सर्वनाम्नः सुट्' से 'आम्' को 'सुट्' आगम होता है। 'सुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप वनेगा–'सर्व+स् आम्' = सर्व+साम्'। इस स्थिति में झलादि सुप् 'साम्'[1] परे होने से '१४५–बहुवचने झल्येत्' सूत्र द्वारा वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार आदेश होकर 'सर्व् ए साम्' = सर्वेसाम्' रूप वनता है। यहाँ इण् एकार स् पर प्रत्यय के अवयव सकार के स्थान में '१५०–आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य षकार आदेश होकर 'सर्वेषाम्' रूप सिद्ध होता है।

५०. सुधियौ

यह 'सुधी' (बुद्धिमान्) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'सुधी'+औ'। यहाँ अजादि प्रत्यय 'औ' परे होने के कारण '१९९–अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' सूत्र से इवणन्त धातु 'धी' वाले 'सुधी' अङ्ग के स्थान

१. यहाँ 'साम्' सुप् है, क्योंकि 'सुट्' का आगम 'आम्' को हुआ है। जिसको आगम होता है, वह उसका अवयव माना जाता है। उसके ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है—'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'। अतः 'साम्' से भिन्न नहीं है।

पर 'इयङ्' आदेश प्राप्त होता है, पर असंयोगपूर्व धातुरूप अनेकाच् अङ्ग होने से '२००–एरनेकाचः' सूत्र से उसका निषेध होकर यण् आदेश प्राप्त होता है। 'सुधी' में पूर्वपद 'सु' की '२०१–गतिश्च' द्वारा गति संज्ञा होने से 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' वार्तिक द्वारा तथा '२०२–न भूसुधियोः' द्वारा यण् का निषेध होने पर, पुनः '१९९–अचिश्नु०' सूत्र से इयङ् आदेश होता है। 'इयङ्' में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण '४६–ङिच्च' परिभाषा द्वारा यह 'सुधी' के अन्त्य ईकार के स्थान पर होगा और रूप बनेगा–'सु ध् इ य् औ' = 'सुधियौ'

५१. हर्योः

यह 'हरि' शब्द के षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'हरि+ओस्'। यहाँ '१५–इको यणचि' से अन्त्य इकार के स्थान पर यण् यकार होकर 'ह र् य् ओस् = हर्योस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है और रूप बनता है–'हर्योर्'। अब '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार को विसर्ग होकर 'हर्योः' रूप सिद्ध होता है।

५२. हरयः

यह 'हरि' शब्द के प्रथमा बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है–'हरि+जस्'। यहाँ पहले '१२९–चुटू' से 'जस्' के जकार की इत्संज्ञा तथा '३–तस्य लोपः' से उसका लोप होकर 'हरि+अस्' रूप बनता है। इस अवस्था में 'जस्' परे होने के कारण'१६८-जसि च' से ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के अन्त्य इकार के स्थान पर गुण एकार होकर 'हर् ए +अस्' = 'हरे+अस्' रूप बनेगा। यहाँ '२२ एचोऽयवायावः' से एकार के स्थान में 'अय्' आदेश होकर 'हर् अय् अस्' = 'हरयस्' रूप बनता है। फिर '१०५- ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर रकार तथा '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से पुनः रकार को विसर्ग होकर 'हरयः' रूप सिद्ध होता है।

५३. हरिणा

यह 'हरि' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है–'हरि+ए' (ङे)। यहाँ '१७०–शेषोघ्यसखि' द्वारा 'हरि' की घिसंज्ञा होती है। अतः उससे परे ङित्–'ङे' होने के कारण '१७२–घेर्ङिति' सूत्र से अन्त्य इकार के स्थान पर गुण एकार होकर 'हरे+ए' रूप बनता है। इस स्थिति में '२२–एचोऽयवयावः' से एकार के स्थान में 'अय्' आदेश होकर 'हर् अय् ए' = 'हरये' रूप सिद्ध होता है।

५४. हरिणा

यह 'हरि' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'हरि +टा'। इस स्थिति में '१७०–शेषो घ्यसखि' द्वारा घिसंज्ञक होने के कारण 'हरि' शब्द से परे 'टा' के स्थान में '१७१–आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'ना' होकर 'हरि+ना'

='हरिना' रूपबनता है। यहाँ '१३८–अट्कुप्वाङ्०' सूत्र से नकारके स्थान पर णकार होकर 'हरिणा' रूप सिद्ध होता है।

५५. हरेः

यह 'हरि' शब्द के पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'हरे+अस्' (ङसि व ङस्)। यहाँ एकार से 'ङसि' और 'ङस्' का अकार परे होने के कारण '१७३–ङसिङसोश्च' सूत्र से पूर्वरूप एकार एकादेश होगा और रूप बनेगा–'हर् ए स्'='हरेस्'। अब '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग करने से 'हरेः' रूप सिद्ध होता है।

५६. हरौ

यह 'हरि' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'हरि+ङि'। यहाँ घिसञ्ज्ञक 'हरि'[1] के ह्रस्व इकार से परे होने के कारण '१७४–अच्च घेः' सूत्र द्वारा 'ङि' के स्थान पर औकार और इकार के स्थान पर अकार होकर 'हर् अ+औ' ='हर+औ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३३–वृद्धिरेचि' द्वारा पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि औकार एकादेश होकर 'हर् औ'='हरौ' रूप सिद्ध होता है।

५७. हे बहुश्रेयसि !

यह 'बहुश्रेयसी' शब्द के सम्बोधन के एकवचन रूप है। इसका मूलरूप है 'हे बहुश्रेयसी+स्' (सु)। यहाँ 'प्रथम लिङ्गग्रहणं च' परिभाषा की सहायता से '१९४–यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र द्वारा 'बहुश्रेयसी' में 'श्रेयसी' शब्द की नदी संज्ञा होती है। अतः सम्बुद्धि 'सु' परे होने से '१९५–अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र द्वारा अन्त्य ईकार के स्थान पर ह्रस्व इकार होकर 'हे बहुश्रेयस् इ+स्'='हे बहुश्रेयसि+स्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१३४–एङ् ह्रस्वात्०' सूत्र से ह्रस्वान्त अङ्ग 'हे बहुश्रेयसि' से परे होने के कारण हल् सकार का लोप हो जाता है और इस प्रकार 'हे बहुश्रेयसि !' रूप सिद्ध होता है।

५८. हे राम !

यह राम शब्द के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। मूलरूप है–'हे राम+स्' (सु)। यहाँ ह्रस्व अकारान्त अङ्ग 'राम' से परे होने के कारण '१३४–एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' द्वारा सम्बुद्धि के हल् सकार का लोप होकर 'हे राम !' रूप सिद्ध होता है।

५९. हे हरे !

यह 'हरि' शब्द के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'हे हरि +स्' (सु)। यहाँ सम्बुद्धि का 'सु' परे होने के कारण '१६९–ह्रस्वस्य गुणः' सूत्र से

१. ध्यान रहे कि '१७०–शेषो घ्यसखि' सूत्र से 'हरि' की घिसंज्ञा होती है।

ह्रस्वान्त 'हरि' के अन्त्य इकार के स्थान गुण एकार आदेश होकर 'हे हर् ए + स्' = हे हरे + स्' रूप बनता है। इस स्थिति में एकारान्त अङ्ग 'हरे' से परे होने से '१३४-एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' द्वारा हल् सकार का लोप होकर 'हे हरे !' रूप सिद्ध होता है।

अजन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण

१. तिसृणाम्

यह 'त्रि' शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है--'त्रि + आम्'। यहाँ '१९२--त्रेस्त्रयः' से प्राप्त 'त्रय' आदेश को बाध कर '२२४--त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ' से 'त्रि' के स्थान पर 'तिसृ' सर्वादेश होकर 'तिसृ + आम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१४८--ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् आगम तथा '२२५--अचि र ऋतः' से रकार आदेश-ये दोनों साथ ही प्राप्त होते हैं। '११३-विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के अनुसार परकार्य रकार आदेश होना चाहिये था। किन्तु 'नुम्-अचिर-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' वार्तिक के अनुसार यहाँ पूर्वविप्रतिषेध न मानकर पूर्वकार्य 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५--आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम् का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा--'तिसृ + न् आम्' = 'तिसृ + नाम्'। इस दशा में 'नाम्' परे होने से '१४९--नामि' सूत्र द्वारा दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '२२६--न तिसृचतसृ' से उसका निषेध हो जाता है। तब 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से नकार को णकार होकर 'तिसृणाम्' रूप सिद्ध होता है।

२. तिस्रः

यह 'त्रि' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के बहुवचन का रूप है। दोनों की रूप-सिद्धि में कुछ अन्तर है, अतः उनको अलग-अलग दिखाया जाता है—

(क) प्रथमा विभक्ति का बहुवचन—मूलरूप है–'त्रि + जस्'। यहाँ पहले 'जस्' के जकार का '१२९-चुटू' द्वारा लोप होकर 'त्रि + अस्' रूप बनता है। यहाँ 'जस्' विभक्ति परे होने के कारण '२२४--त्रिचतुरोः०' सूत्र से 'त्रि' के स्थान पर 'तिसृ' सर्वादेश होकर 'तिसृ + अस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१२६--प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होनेपर '२०४--ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' द्वारा उसका बाध होकर गुण आदेश प्राप्त होता है। किन्तु अच् अकार परे होने के कारण इसका भी बाध होकर '२२५--अचि र ऋतः' से ऋकार को रकार आदेश होता है और रूप बनता है–'तिस् र् अस्' = 'तिस्रस्। इस अवस्था में '१०५--ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान पर रकार ('रु' में उकार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाता है) तथा पुनः '९३--खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार को विसर्ग होकर 'तिस्रः' रूप सिद्ध होता है।

(ख) द्वितीया विभक्ति का बहुवचन–मूलरूप है–त्रि + शस्'। इस स्थिति में

'१३६–लशक्वतद्धिते' सूत्र द्वारा 'शस्' के शकार का लोप होकर 'त्रि+अस्' रूप वनता है। फिर 'त्रि' के स्थान पर पूर्ववत् 'तिसृ' करने पर 'तिसृ+अस्' रूप बनेगा। यहाँ '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '२१५–अचि र ऋतः' से उसका वाध होकर ऋकार के स्थान पर रकार होगा और रूप बनेगा–'ति स् र् अस्' = 'तिस्रस्'। तब पूर्ववत् रुत्व विसर्ग करने पर 'तिस्रः' रूप सिद्ध होता है।

३. द्वे

यह 'द्वि' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'द्वि+औ'। इस स्थिति में विभक्ति परे होने के कारण '१९३–त्यदादीनामः' से इकार को अकार होकर 'द्व् अ+औ = 'द्व+औ' रूप बनता है यहाँ स्त्रीत्व की विवक्षा में अकारान्त होने के कारण '१२४५–अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) सूत्र से 'टाप्' प्रत्यय होता है। 'टाप् में टकार और पकार इत्संज्ञक हैं, अतः '३–तस्य लोपः' से उनका लोप होकर 'द्व आ औ' रूप बनेगा। इस अवस्था में पहले '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से अकार और आकार के स्थान पर दीर्घ आकार एकादेश होकर 'द्वा+औ' रूप बनता है। तब आकारान्त अङ्ग 'द्वा' से परे होने के कारण '२१६–औङ आपः' से 'औ' को 'शी' होकर 'द्वा+शी' रूप बनेगा। 'शी' में '२३६–लशक्वतद्धिते' से स्थानिवद्भाव होने के कारण शकार की इत्संज्ञा तथा '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है और बनता है—'द्वा+ई'। यहाँ '२७–आद्गुणः' से पूर्वपर के स्थान पर एकार गुणादेश होकर 'द्व् ए' = 'द्वे' रूप सिद्ध होता है।

४. मत्याम् (मतौ)

यह 'मति' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है–'मति+ङि'। यहाँ '२२२–ङितिह्रस्वश्च' से 'मति' की वैकल्पिक नदी संज्ञा होने पर '१९८–ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (७।३।११६) से 'ङि' को 'आम्' तथा '१८४–औत्' (७।३।११८) से 'ङि' को औकार–दोनों एक साथ ही प्राप्त होते है। '११३–विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से पर-कार्य औकार ही होना चाहिये। पर ह्रस्व इकार से परे होने के कारण '२२३– इदुद्भ्याम्' सूत्र द्वारा उसका वाध होकर 'ङ' के स्थान पर पुनः 'आम' आदेश होता है और रूप बनता है—'मति'+आम्'। इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से 'आम्' में ङित्व होने के कारण '१९६–आण् नद्याः' से उसको 'आट' आगम होता है। 'आट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होता है–'मति+आ आम्।' यहाँ 'आट्' से अच् आकार परे होने से '५९७-आटश्च' सूत्र द्वारा वृद्धि एकादेश होकर 'मति+आम्' रूप बनता है। अब '१५–इको यणचि' से इकार के स्थान पर यकार करने से 'मत् य् आम्' = 'मत्याम्' रूप सिद्ध होता है। नदी संज्ञा के अभाव में घिसंज्ञा होकर '१७४–अच्च घेः' से 'ङि' को औकार तथा घि को अकार अन्तादेश होकर 'मत्अ+औ' = 'मत+औ' रूप बनेगा। इस स्थिति में

'३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि औकार एकादेश होकर 'मत्+औ' = 'मतौ' रूप सिद्ध होता है।

५. मत्यै (मतये)

यह 'मति' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है–'मति+ए' (ङे)। यहाँ ङित् प्रत्यय 'ङे' परे होने के कारण '२२२–ङिति ह्रस्वश्च' सूत्र से ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'मति' शब्द की वैकल्पिक नदी संज्ञा होगी। नदी संज्ञा होने पर '१९६–आण् नद्याः' द्वारा ङित् 'ङे' (ए) को 'आट्' आगम होता है। आट् में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने से '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'ङे' का 'आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'मति+आ ए'। इस स्थिति में 'आट्' ('आ') से अच् एकार परे होने के कारण '१९७–आटश्च' द्वारा पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि ऐकार होकर 'मति+ऐ' रूप बनता है। तब '१५–इको यणचि' से इकार के स्थान पर यकार होकर 'मत् य् ऐ' = 'मत्यै' रूप सिद्ध होता है। नदी संज्ञा के अभाव में '१७०–शेषोघ्यसखि' से 'मति' की घिसंज्ञा होने पर '१७२–घेर्ङिति' द्वारा इकार को गुण एकार होता है और रूप बनता है—'मत् ए+ए' = 'मते+ए'। अब यहाँ '२२–एचोऽयवायावः' से तकारोत्तरवर्ती एकार के स्थान पुर 'अय्' आदेश होने पर 'मत् अय्+ए' = 'मतये' रूप सिद्ध होता है।

६. रमया

यह 'रमा' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'रमा+टा'। इस अवस्था में आङ् 'टा' परे होने के कारण '२१८–आङि चापः' द्वारा आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार के स्थान पर एकार होकर 'रम् ए+आ' (टा)[1] = 'रमे+आ' रूप बनेगा। यहाँ '२२–एचोऽयवायावः' सूत्र से एकार के स्थान पर 'अय्' आदेश होकर 'रम् अय् आ' = 'रमया' रूप सिद्ध होता है।

७. रमायै

यह 'रमा' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'रमा+ए' (ङे)। इस स्थिति में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे होने के कारण '२१९–याडापः' सूत्र से ङित् प्रत्यय 'ङे' को 'याट्' आगम होता है। 'याट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'ङे' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'रमा+या ए'। यहाँ '३३–वृद्धिरेचि' से आकार और एकार के स्थान पर वृद्धि ऐकार एकादेश होकर 'रमा य् ऐ' = 'रमायै' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि यहाँ '१९७–आटश्च' सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि आगम 'याट्' है, 'आट्' नहीं।

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ 'टा' में टकार की '१२९–चुटू' द्वारा इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है।

८. रमे

यह 'रमा' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है 'रमा+औ'। यहाँ '२१६—औङ आपः' सूत्र द्वारा आवन्त अङ्ग 'रमा' से परे औङ्— 'औ' ('औ' और 'औट्') के स्थान पर 'शी' सर्वादेश होकर 'रमा+शी' रूप बनता है। तब स्थानिवद्भाव से 'शी' में प्रत्ययत्व लाकर तथा प्रत्यय के आदि शकार की '१३६—लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और '३—तस्य लोपः' से उसका लोप करके 'रमा+ई' रूप बनेगा। यहाँ फिर आकार तथा ईकार के स्थान पर '२७—आद् गुणः' से गुण एकार एकादेश होकर 'रम् ए="रमे' रूप सिद्ध होता है।

९. श्रियाम् (श्रियि)

यह 'श्री' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है[1]। मूलरूप है—'श्री+इ' (ङि)। यहाँ '२२२—ङिति ह्रस्वश्च' से नित्यस्त्रीलिङ्गी ईकारान्त शब्द 'श्री' की नदी संज्ञा होने पर '१९८—ङेराम०' सूत्र से 'ङि' के स्थान पर 'आम्' सर्वादेश होकर 'श्री+आम्' रूप बनता है। इस अवस्था में स्थानिवद्भाव से 'आम्' में ङित्व होने के कारण '१९६—आण् नद्याः' से उसको 'आट्' आगम होता है। 'आट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'श्री+आ आम्'। तब 'आट्' ('आ') से अच्-आकार परे होने से '१९७—आटश्च' सूत्र द्वारा वृद्धि एकादेश होकर 'श्री+आ म्' रूप बनता है। यहाँ अजादि प्रत्यय परे होने के कारण '१९९—अचि श्नु०'सूत्र से इवर्णान्त धातुरूप अङ्ग 'श्री' को 'इयङ्' आदेश होता है। 'इयङ्' में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने से '४६—ङिच्च' परिभाषा द्वारा यह 'श्री' शब्द के अन्त्य ईकार के स्थान में आदेश होता है और इस प्रकार 'श्र् इय् आम्' = 'श्रियाम्' रूप सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि नदी संज्ञा विकल्प से होती है, अतः अभाव पक्ष में '१९९—अचि श्नु०' से ईकार के स्थान पर पूर्ववत 'इयङ्' (इय्) होकर 'श्र् इय इ' = 'श्रियि' रूप भी बनता है।

१०. श्रियै (श्रिये)

यह 'श्री' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'श्री+ए' (ङे)। यहाँ '१९४—यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र से प्राप्त नदी संज्ञा का '२२९—नेयङुवङ्०' सूत्र द्वारा निषेध हो जाता है। पुनः '२२२-ङिति ह्रस्वश्च' से वैकल्पिक नदी संज्ञा होने पर उससे परे 'ङे' (ए) को '१९६—आण् नद्याः' द्वारा 'आट्' आगम होता है। टित् होने के कारण पूर्ववत् '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'ङे' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा 'श्री+आ ए'। यहाँ '१९७—आटश्च' सूत्र से 'आट्' ('आ') से 'अच्' एकार परे होनेके

---

१. ध्यान रहे कि 'श्रियाम्' रूप नदी संज्ञा न होने पर षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में भी होता है। उसकी सिद्धि के लिए ११वाँ पद देखिये।

कारण पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि ऐकार एकादेश होकर 'श्री+ऐ' रूप बनता है। पुनः '१९९–अचि श्नु०' सूत्र द्वारा पूर्ववत् 'श्री' के ईकार के स्थान पर 'इयङ्' (इय्) आदेश होकर 'श्र् इय् ऐ' = 'श्रियै' रूप सिद्ध होता है। नदी संज्ञा के अभाव में केवल १९९–अचि श्नु०'सूत्र से ईकार के स्थान पर 'इयङ्' होकर 'श्र इय् ए' = 'श्रिये' रूप सिद्ध होता है।

११. श्रीणाम् (श्रियाम्)

यह 'श्री' शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'श्री+आम्'। यहाँ '१९४–यू स्त्र्याख्यौ नदी' से प्राप्त नित्य नदी संज्ञा का '२२९–नेयङुवङ्०' सूत्र द्वारा निषेध हो जाता है। 'आम्' के ङित् न होने के कारण '२२२–ङिति ह्रस्वश्च' द्वारा भी वैकल्पिक नदी संज्ञा नहीं होती है। इस स्थिति में नित्य स्त्रीलिङ्ग ईकार से 'आम्' परे होने के कारण '२३०–वाऽऽमि' से 'श्री' की वैकल्पिक नदी संज्ञा होती है। नदी संज्ञा होने पर '१४८–ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'आम्' को नुट् आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा–श्री+न् आम्' = 'श्रीनाम्' यहाँ अजादि प्रत्यय परे न होने के कारण '१९९–अचि श्नु०' सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। तब '१३८–अट्कुप्वाङ्०' सूत्र द्वारा रकार से पर नकार को णकार होकर 'श्रीणाम्' रूप सिद्ध होता है। नदी संज्ञा के अभाव में '१९९–अचि श्नु०' सूत्र से 'श्री' के अन्त्य ईकार के स्थान पर 'इयङ्' (इय्) आदेश होकर 'श्र् इय् आम्' = श्रियाम्' रूप सिद्ध होता है।

१२. सर्वस्याम्

यह 'सर्वा' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'सर्वा+ङि' यहाँ आबन्त 'सर्वा' से परे होने के कारण '१९८–ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से 'ङि' के स्थान पर 'आम्' सर्वादेश हो जाता है और रूप बनता है–'सर्वा+आम्'। इस अवस्था में स्थानिवद्भाव से 'आम्' में ङित्व लाने पर '२२०–सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' से 'आम्' को 'स्याट्' आगम तथा 'सर्वा' के अन्त्य आकार के स्थान पर ह्रस्व अकार होता है। 'स्याट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव बनता है और इस प्रकार 'सर्व+स्या आम्' रूप होता है। यहाँ '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से यकारोत्तरवर्ती आकार और 'आम्' के आदि आकार के स्थान पर आकार एकादेश होकर 'सर्व स्य् आ म्' = 'सर्वस्याम्' रूप सिद्ध होता है।

१३. सर्वस्यै

यह 'सर्वा' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'सर्वा+ए' (ङे)। यहाँ '२१९–याडापः' द्वारा 'ए' को 'याट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु आबन्त सर्वनाम 'सर्वा' से परे होने के कारण '२२०–सर्वनाम्नःस्याड्ढ्रस्वश्च' द्वारा

उसका निषेध होकर 'ङे' को 'स्याट्' आगम होता है और 'सर्वा' के अन्त्य आकार के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश होता है। टित् होने के कारण पूर्ववत् 'स्याट्' 'ङे' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'सर्व अ+स्या ए'। इस स्थिति में '३३—वृद्धिरेचि' से यकारोत्तरवर्ती आकार और एकार के स्थान पर वृद्धि ऐकार एकादेश होकर 'सर्व् अ स्य् ऐ' = 'सर्वस्यै' रूप सिद्ध होता है।

१४. स्त्रियम् (स्त्रीम्)

यह 'स्त्री' शब्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'स्त्री+अम्'। यहाँ '१३५—अमि पूर्वः' से प्राप्त पूर्वरूप को बाधकर '२२७—स्त्रियाः' से अजादि प्रत्यय 'अम्' परे होने पर 'स्त्री' शब्द के स्थान पर नित्य 'इयङ्' आदेश प्राप्त होता है। किन्तु 'अम्' परे होने से '२२८—वाऽम्शसोः' द्वारा 'इयङ्' आदेश विकल्प से होता है। 'इयङ्' में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् हाने के कारण '४६—ङिच्च' परिभाषा द्वारा यह 'स्त्रो' के अन्त्य ईकार के स्थान पर होगा और रूप बनेगा—'स्त्र् इय् अम्' = 'स्त्रियम्' अभावपक्ष में '१३५—अमि पूर्व' से पूर्वरूप ईकार एकादेश होकर 'स्त्र् ई म्' = 'स्त्रीम्' रूप सिद्ध होता है।

१५. स्त्रियै

यह 'स्त्री' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसक मूलरूप है—'स्त्री+ए' (ङे)। यहाँ '१९४—यू स्त्र्याख्यौ नदी' से नित्य ईकारान्त शब्द 'स्त्री' की नदी संज्ञा होती है। ध्यान रहे कि 'स्त्री' शब्द के स्थान पर यद्यपि 'इयङ्' होता है, किन्तु 'स्त्री' शब्द का वर्जन होने से २'२२—ङिति ह्रस्वश्च' से ङित् प्रत्ययों में नदी संज्ञा का विकल्प नहीं होता। अतः नित्य नदी संज्ञा होने पर '१९६—आण् नद्याः' से 'ङे' को 'आट्' आगम होता है। 'आट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण यह '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'ङे' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'स्त्री+आ ए'। यहाँ 'आट्' (आ) से अच-एकार परे होने के कारण '१९७—आटश्च' द्वारा वृद्धि ऐकार एकादेश होकर 'स्त्री+ऐ' रूप बनता है। इस स्थिति में अजादि प्रत्यय परे होने पर '२२७—स्त्रियाः' सूत्र से 'स्त्री' शब्द के अन्त्य ईकार के स्थान पर 'इयङ्' (इय्) आदेश होकर 'स्त्र् इय् ऐ' = 'स्त्रियै' रूप सिद्ध होता है।

१६. स्त्रियौ

यह 'स्त्री' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'स्त्री +औ'। यहाँ धातु का ईकार न होने से '१९९—अचि श्नु०' द्वारा 'इयङ्' आदेश प्राप्त नहीं होता। तब '१२६—प्रथमोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '१६२—दीर्घाज्जसि च' द्वारा उसका भी निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '१५—इको यणचि' द्वारा यण् यकार ही प्राप्त होता है, पर अजादि प्रत्यय 'औ' परे होने से '२२७—स्त्रियाः' सूत्र से 'स्त्री' के स्थान पर पुनः 'इयङ्' आदेश होता है। इयङ्' में

'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः '३–तस्य लोपः' द्वारा उसका लोप हो जाता है। अब ङित् होने के कारण '४६–ङिच्च' परिभाषा से शेषांश 'इय्' 'स्त्री' शब्द के अन्त्य ईकार के स्थान पर आदेश होता है और इस प्रकार 'स्त्र् इय् औ' = 'स्त्रियौ' रूप सिद्ध होता है।

१७. हे रमे !

यह 'रमा' शब्द के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'हे रमा+स्' (सु)। यहाँ सम्बुद्धि का 'सु' परे होने के कारण '२१७–सम्बुद्धौ च' सूत्र से आवन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार के स्थान पर एकार आदेश होकर 'हे रम् ए+स्' = 'हे रमे+स्' रूप बनता है। इस स्थिति में एकार से परे होने से '१३४–एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र द्वारा सम्बुद्धि के हल् सकार का लोप होकर 'हे रमे' रूप सिद्ध होता है।

१८. हे श्रीः !

यह 'श्री' शब्द के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'हे श्री+स्' (सु)। यहाँ '१९४–यू स्त्र्याख्यौ नदी' से ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'श्री' की नित्य नदीसंज्ञा होने पर '१९५–'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' द्वारा ह्रस्व प्राप्त होता है, किन्तु 'श्री' के स्थान पर 'इयङ्' आदेश के कारण '२२९–नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' से नदी संज्ञा का निषेध हो जाता है और इसके साथ नदीमूलक ह्रस्व का भी निषेध हो जाता है। तब '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर रकार ('रुः' में उकार इत्संज्ञक होने से 'र्' ही शेष रह जाता है) तथा पुनः '९६–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'हे श्रीः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि एङन्त अथवा ह्रस्वान्त न होने के कारण '१३४–एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र द्वारा 'श्री' से पर सम्बुद्धि के सकार का लोप नहीं होता है।

अजन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण

१. कतरत् (कतरद्)

यह 'कतर' (दो में से कौन ?) शब्द के प्रथमा और द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'कतर+स् (सु)' और 'कतर+अम्'। यहाँ '२३४–अतोऽम्' से 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अम्' ही प्राप्त होता है, किन्तु 'कतर' के डतरप्रत्ययान्त होने के कारण '२४१–अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' सूत्र से उसका बाध होकर 'सु' और अम्' के स्थान पर 'अद्ड्' सर्वादेश होता है और इस प्रकार 'कतर+अद्ड्' रूप बनता है। इस अवस्था में अन्त्य हल् डकार की '१–हलन्त्यम्' द्वारा इत्संज्ञा तथा पुनः '३–तस्य लोपः' से लोप होकर 'कतर+अद्' रूप बनेगा। अब यहाँ '१२६—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु डित् परे

होने के कारण '२४२–टेः'[1] द्वारा उसका वाध होकर भसंज्ञक टि—रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो जाता है और इस प्रकार 'कतर् अद्' = 'कतरद्' रूप सिद्ध होता है। पुनः '१४५—वाऽवसाने' से पदन्त दकार को विकल्प से चर्-तकार होकर 'कतरत्' रूप सिद्ध होता है। अभाव पक्ष में 'कतरद्' ही रहेगा।

२. ज्ञानम्

यह 'ज्ञान' शव्द के प्रथमा तथा द्वितीया के एकवचन का रूप है। इसके मूलरूप हैं—'ज्ञान+सु' और 'ज्ञान+अम्'। यहाँ '२४४–स्वमोर्नपुंसकात्' से 'सु' और 'अम्' का लोप प्राप्त था, किन्तु अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग 'ज्ञान' से परे होने के कारण '२३४–अतोऽम्' द्वारा उसका वाध होकर उनके स्थान पर 'अम्' आदेश होता है और रूप बनता है—'ज्ञान+अम्'। यहाँ '१३५—अमिपूर्वः' से पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप अकार होने पर 'ज्ञान् अम्' = 'ज्ञानम्' रूप सिद्ध होता है।

३. ज्ञानानि

यह 'ज्ञान' शव्द के प्रथमा तथा द्वितीया के वहुवचन का रूप है। आदि रूप है—'ज्ञान+अस्' (जस् व शस्)। यहाँ नपुंसकलिङ्गी 'ज्ञान' शव्द से परे होने के कारण 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर '२३७–जश्शसोः शिः' से 'शि' आदेश होकर 'ज्ञान+शि' रूप वनता है। पुनः 'शि' में स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व लाने पर '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार की इत्संज्ञा और '३–तस्य लोपः' से लोप होकर 'ज्ञान+इ' रूप वनेगा। इस स्थिति में '२३८–शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' (इ) की सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर उसके परे होने के कारण अजन्तनपुंसक 'ज्ञान' शव्द को '२३९–नपुंसकस्य झलचः' द्वारा 'नुम्' आगम होता है। 'नुम' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा द्वारा यह 'ज्ञान' शव्द के अन्त्य अच् नकारोत्तरवर्ती अकार के वाद आकर उसका अन्तावयव वनेगा और इस प्रकार का रूप वनेगा—'ज्ञानन्+इ'। अब नान्त अङ्ग होने पर '१७७–सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' से उसकी उपधा-नकारोत्तरवर्ती अकारको दीर्घ आकार होकर 'ज्ञान् आ न् इ' = 'ज्ञानानि' रूप सिद्ध होता है।

४. ज्ञाने

४. यह 'ज्ञान' शव्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'ज्ञान+औ'। यहाँ नपुंसक अङ्ग 'ज्ञान' से परे होने के कारण '२३५–नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश होता है। 'शी' में स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व होने पर '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार की इत्संज्ञा होकर 'ज्ञान+ई' रूप वनता है। यहाँ '१६५–यचि भम्' से 'ज्ञान' शव्द की भसंज्ञा होने पर '२३६–यस्येति च' द्वारा उसके अवर्ण का लोप प्राप्त होता है, क्योंकि उससे परे ईकार है। किन्तु 'औङः श्यां प्रतिषेधो

१. टि संज्ञा के स्पष्टीकरण के लिए ३९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

वाच्यः' वार्तिक द्वारा लोप का निषेध हो जाता है। तब '२७–आद्गुणः' से पूर्वपर के स्थान पर गुण एकार करने पर 'ज्ञान् ए'+'ज्ञाने' रूप सिद्ध होता है।

५. दध्ना

यह 'दधि' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है— 'दधि+टा' (आ)। यहाँ अजादि तृतीया विभक्ति ('आटा') परे होने के कारण '२४६–अस्थि-दधि०' सूत्र द्वारा 'दधि' के स्थान पर 'अनङ्' आदेश होता है। 'अनङ्' में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण '४६–ङिच्च' परिभाषा द्वारा यह 'दधि' शब्द के अन्त्य इकार के स्थान में होगा और रूप बनेगा–'दध् अन्+आ'। इस स्थिति में सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय आ ('टा') परे होने के कारण '१४७–अल्लोपोऽनः' से अङ्ग के अवयव 'अन्' के अकार का लोप होकर 'दध्न् आ' = 'दध्ना' रूप सिद्ध होता है।

६. दध्नि (दधनि)

यह 'दधि' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप सिद्ध है। मूलरूप है–'दधि+इ' (ङि)। यहाँ तृतीयादि विभक्ति 'ङि' परे होने के कारण '२४६–अस्थि-दधि०' सूत्र से 'दधि' के स्थान पर पूर्ववत् 'अनङ्' आदेश होकर 'दध् अन्+इ' रूप बनता है। इस अवस्था में '२४७–अल्लोपोऽनः से अन् के अकार का नित्य लोप होता है, किन्तु '२४८–विभाषा ङिश्योः' से 'ङि' परे होने के कारण अकार लोप विकल्प से होगा। तब एकपक्ष में अकार का लोप होकर 'दध् न् इ' = 'दध्नि' रूप बनेगा। दूसरे पक्ष में अकार लोप न होने के कारण 'दध् अन् इ' = 'दधनि' रूप ही रहता है।[1]

७. प्रद्यु

यह 'प्रद्यो' (सुन्दर आकाश वाला दिन) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूलरूप हैं—'प्रद्यो+सु' और 'प्रद्यो+अम्'। यहाँ '२५०–एच इग्घ्रस्वादेशे' सूत्र की सहायता से '२४३–ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' द्वारा 'प्रद्यो' के अन्त्य ओकार के स्थान पर ह्रस्व उकार होकर 'प्रद्य् उ+सु' = 'प्रद्यु+सु' और 'प्रद्य् उ+अम्' = 'प्रद्यु+अम्' रूप बनते हैं। इस स्थिति में नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे होने के कारण '२४४–स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र द्वारा 'सु' और 'अम्' का लोप 'प्रद्यु' रूप बनता है।

८ प्रराभ्याम्

यह 'प्ररै' (अधिक धनवान्) शब्द के तृतीया, चतुर्थी और पंचमी के द्विवचन का रूप है। इस का आदि रूप है–'प्ररै+भ्याम्'। यहाँ भी पूर्ववत्–'२५०-एच

१. अधिक स्पष्टीकरण के लिए पूर्वपद (५) की रूप सिद्धि देखिये।

इक्'०की सहायता से '२४३--ह्रस्वो नपुंसके०' द्वारा 'प्रै' के अन्त्य ऐकार के स्थान पर ह्रस्व इकार होकर 'प्र् इ+भ्याम्' = 'प्रि+भ्याम्' रूप वनता है। इस अवस्था में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से 'प्रि' शब्द 'प्रै' ही माना जावेगा। अतः '२१५--रायो हलि' सूत्र से हल् विभक्ति 'भ्याम्' परे होने के कारण ऐकार के स्थान पर आकार आदेश होकर 'प्र र् आ भ्याम्' = 'प्राभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

९. वारि

यह 'वारि' (जल) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूल-रूप हैं—'वारि+सु' और 'वारि+अम्'। यहाँ नपुंसकलिङ्ग अङ्ग 'वारि' से परे होने कारण '२४४—स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र द्वारा 'सु' और 'अम्' का लोप होकर 'वारि' रूप सिद्ध होता है।

१०. वारिणी

यह 'वारि' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'वारि+औ'। यहाँ नपुंसक अङ्ग से परे होने के कारण '२३५—नपुंसकाच्च' से 'औ' के स्थान पर 'शी' सर्वादेश होकर 'वारि+शी' रूप वनता है। तव 'शी' में स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व लाने पर '१३६—लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार का लोप होकर 'वारि+ई' रूप वनेगा। इस स्थिति में अजन्त विभक्ति 'ई' के परे होने के कारण '८४५—इकोऽचि विभक्तौ' द्वारा इकरान्त अङ्ग 'वारि' को 'नुम्' आगम होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः 'मित्' होने के कारण '२४०—मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा द्वारा यह 'वारि' के अन्त्य अच्—इकार के आगे आवेगा और उसका अन्ताव-यव होगा। इस प्रकार रूप वनेगा—'वारिन्+ई' = 'वारिनी'। यहाँ '१३८-अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार होकर 'वारिणी' रूप सिद्ध होता है।

११. वारिणे

यह 'वारि' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'वारि+ए' (ङे)। यहाँ घिसंज्ञा होकर 'नुम्' की अपेक्षा पर होने के कारण '१७२—घेर्ङिति' द्वारा गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'वृद्धयौत्वतृज्वद्भाव०' वार्तिक से उसका निषेध होकर पुनः 'नुम्' आगम होगा। तव पूर्ववत् रूप वनेगा--'वारिन्+ए' = वारिने'। इस अवस्था में '२३८—अट्कुप्वाङ्०' द्वारा नकार को णकार होकर 'वारिणे' रूप सिद्ध होता है।[1]

१२. वारिणाम्

यह 'वारि' शब्द के षष्ठी के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'वारि+आम्'।

१. अधिक स्पष्टीकरण के लिए पूर्वपद (१०) की रूप-सिद्धि देखिये।

इस अवस्था में '१४८—ह्रस्वद्यापो नुट्' से 'आम्' को नुट् आगम और '२४५—' इकोऽचि विभक्तौ' से अङ्ग को नुम आगम दोनों साथ ही प्राप्त होते हैं। तब 'नुमचिर०' वार्तिक द्वारा 'नुम्' का निषेध हो जाता है, और पूर्वविप्रतिषेध से 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'वारि+न् आम्=वारि+नाम्'। यहाँ '१४९—नामि' से 'वारि' के अन्त्य इकार के स्थान पर दीर्घ ईकार होकर 'वारीनाम्' रूप बनता है। पुनः '१३८—अट्कुप्वाङ्०'सूत्र से नकार के स्थान पर णकार करने पर 'वारीणाम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यद्यपि 'नुम्' होने पर भी 'नुट' के समान नकार ही रहता है, किन्तु वह 'वारि' का अवयव होता है, 'आम्' का नहीं। तब 'नाम्' न परे होने के कारण '१४९—नामि' द्वारा दीर्घ नहीं हो सकता और अनिष्ट रूप 'वारिणाम्' बनता है। अतः इसी के निवारण के लिए 'नुट्' आगम किया गया है।

१३. वारिणी

यह 'वारि' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के वहुवचन का रूप है। इसका मूल-रूप है—'वारि+अस्' (जस् व शस्)। यहाँ नपुंसक अङ्ग से परे होने के कारण '२३७-जश्शसोः शिः' से 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'शि' सर्वादेश होकर 'वारि+शि' रूप बनता है। 'शि' में स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व होने पर '१३६—लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार का लोप होकर 'वारि+इ' रूप बनेगा। इस अवस्था में '२२८—शि सर्व-नामस्थानम्' से 'शि' (इ) की सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर '२३९—नपुंसकस्य झलचः' से अङ्ग 'वारि' को 'नुम्' आगम होता है 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अत; मित् होने के क़ारण '२४०--मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभापा से यह 'वारि' के अन्त्य अच्--इकार के आगे होगा और उसका अन्तावयव वनेगा। तब रूप वनेगा--'वारिन्+इ'। यहाँ '१७७-सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' सूत्र से नान्त अङ्ग की उपधा-रकारोत्तरवर्ती इकार-के स्थान पर दीर्घ ईकार होकर 'वा र् ई न्+इ= 'वारीनि' रूप बनता है। अन्त में '१३८-अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार होकर 'वारीणि' रूप सिद्ध होता है।

१४. हे ज्ञान

यह 'ज्ञान' शब्द के सम्वोधन के एकवचन का रूप है। मूलरूप है–'हे ज्ञान+स्' (सु)। यहाँ नपुंसक 'ज्ञान' शव्द से परे होने के कारण '२३४-अतोऽम्' से 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश होकर 'हे ज्ञान+अम्' रूप वनता है। इस स्थिति में '१३५—अमि पूर्वः' से पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप अकार होकर 'हे ज्ञान् अम्'='हे ज्ञानम्' रूप वनेगा। तव 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' (१३४) से अदन्त अङ्ग 'ज्ञान' से पर सम्वुद्धि के हल्-मकार का लोप करने पर 'हे ज्ञान' रूप सिद्ध होता है।

हलन्तपुंल्लिङ्ग-प्रकरण

१. अनड्वान्

यह 'अनडुह्' (बैल) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—अनडुह +स्' (सु)। यहाँ सर्वनामस्थान 'सु' परे है, अतः '२५९—चतुरनडुहोरामुदात्तः' सूत्र से 'अनडुह' को 'आम्' आगम होता है। 'आम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०—मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह 'अनडुह' के अन्त्य अच्—डकारोत्तरवर्ती उकारके आगे होगा और उसी का अन्तावयव बनेगा। तब रूप होगा—'अनडु आह +स्'। इस स्थिति में 'सु' परे होने के कारण '२६०—सावनडुहः' द्वारा 'अनडुह' को पुनः 'नुम्' आगम होगा। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण पूर्ववत् 'अनडु आ ह्' के अन्त्य अच् आकार के आगे होता है, और इस प्रकार 'अनडु आ न् ह् +स्' रूप बनता है। यहाँ '१५—इको यणचि' से उकार के स्थान पर वकार होकर 'अनड् व् आन् ह +स्' = 'अनड्वान् ह् +स्' रूप बनेगा। तब '१७९-हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार तथा '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त हकार का लोप करने पर 'अनड्वान्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि संयोगान्तलोप (८।२।२३) से असिद्ध होने के कारण '१८०—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) द्वारा पदान्त नकार का लोप नहीं होगा।

२. अनयोः

यह 'इदम्' (यह) शब्द के षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'इदम् +ओस्'। यहाँ 'ओस्' विभक्ति परे होने के कारण '१९३—त्यदादीनामः' से 'इदम्' के अन्त्य मकार के स्थान पर अकार होकर 'इद अ +ओस्'। रूप बनता है तब '२७४—अतो गुणे' से दकारोत्तरवर्ती अकार से गुण अकार परे होने के कारण पररूप अकार एकादेश होकर 'इद +ओस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२७५—दश्च' से दकार को मकार प्राप्त था, किन्तु आत् विभक्ति 'ओस्' परे होने के कारण उसका बाध होकर '२७६—अनाऽऽप्यकः' से 'इद' भाग को 'अन्' आदेश होता है और रूप बनता है—'अन् अ +ओस्' = अन +ओस्। इस स्थिति में 'ओस्' परे होने के कारण '१४७—ओसि च' से अदन्त अङ्ग 'अन' के अन्त्य अकार के स्थान पर एकार होकर 'अन्ए +ओस' = 'अने +ओस्' रूप बनेगा। तब '२२—एचोऽयवायावः' से एकार के स्थान पर 'अय्' आदेश होकर 'अन् अय् ओस्' = 'अनयोस्' रूप बनता है। अन्त में '१०५—ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में रुकार तथा '९३—खरवसानयोः०' सूत्र से रकार को विसर्ग करने 'अनयोः' रूप सिद्ध होता है।

३. अनेन

यह 'इदम्' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'इदम् + टा'. यहाँ पर 'इद + टा' तक की प्रक्रिया पूर्ववत् है।[1] इस अवस्था में ओम् विभक्ति 'टा' परे होने के कारण पूर्ववत् '२७६—अनाप्यकः' से 'इद्' भाग के स्थान पर 'अन्' होकर 'अन् अ + टा' = 'अन + टा' रूप बनता है। पुनः अकारान्त अङ्ग 'अन' से परे होने के कारण 'टा' को '१४०—टाङसि०' सूत्र से 'इन' आदेश होकर 'अन + इन' रूप बनेगा। तब '२७—आद्गुणः' से पूर्वपर के स्थान पर गुण एकार एकादेश होकर 'अन् ए न' = 'अनेन' रूप सिद्ध होता है।

४. अमी

यह 'अदस्' (वह) शब्द के प्रथमा के बहुवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'अदस् = जस्'। यहाँ पहले '१२९—चुटू' से 'जस्' के जकार का लोप होकर 'अदस् + अस्' रूप बनेगा। तब '१९३—त्यदादीनामः' से 'अदस्' के अन्त्य सकार के स्थान पर अकार होकर 'अद अ + अस्' रूप बनता है। फिर दकारोत्तरवर्ती अकार से गुण अकार परे होने के कारण '२७४—अतो गुणे' द्वारा पररूप अकार एकादेश होकर 'अद् अ + अस्' = 'अद + अस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१५२—जसः शी' से 'जस्' के स्थान पर 'शी' सर्वादेश होता है। स्थानिवद्भाव से 'शी' में प्रत्ययत्व लाने पर १३६—लशक्वतद्धिते' से शकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने पर 'अद + ई' रूप बनता है। पुनः '२७—आद् गुणः' से पूर्वपर के स्थान पर गुण एकार करने पर 'अद् ए' = 'अदे' रूप बनेगा। इस अवस्था में '३५६—अदसोऽसेर्दादु दो मः' से मुत्व प्राप्त था, किन्तु बहुवचन में होने के कारण ३५७—'एत ईद् बहुवचने' सूत्र द्वारा उसका बाध होकर एकार को ईकार तथा दकार को मकार आदेश होता है और इस प्रकार 'अ म् ई' = 'अमी' रूप सिद्ध होता है।

५. अमुना

यह 'अदस्' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। आदि रूप है—अदस् + टा'। यहाँ भी पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप[2] होकर 'अद + टा' रूप बनता है। इस स्थिति में यद्यपि '३५६—अदसोऽसे०' के असिद्ध होने के कारण प्रथम '२४० टाङसि०' सूत्र द्वारा 'टा' को 'इन' आदेश प्राप्त होता है, तथापि '३५८—न मु ने' सूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से वह नहीं होता। तब पुनः '३५६—अदसोऽसेर्दादु दो मः' से दकारोत्तरवर्ती अकार को उकार और दकार को मकार होकर 'अम् उ + टा' = 'अमु + टा' रूप

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वपद (२) की रूप-सिद्धि देखिये।

२. छात्रों को सम्पूर्ण प्रक्रिया दिखानी चाहिये। इसके लिए पूर्वपद (४) की रूप-सिद्धि देखिये।

वनेगा। यहाँ 'मु' भाव के असिद्ध होने से '१७०–शेषोघ्यसखि' द्वारा घिसञ्ज्ञा नहीं होती, किन्तु 'ना' आदेश करना अभीष्ट होने के कारण '२५८–न मु ने' सूत्र से 'मु' आदेश असिद्ध नहीं होता। तव पुनः घिसंज्ञा हो जाने पर '१७१–आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'टा' को 'ना' आदेश हो जाता है और इस प्रकार 'अमु+ना' = 'अमुना' रूप सिद्ध होता है।

६. अमुम्

यह 'अदस्' शव्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'अदस्+अम्' यहाँ त्यदाद्यत्व और पररूप[1] होकर 'अद्+अम्' रूप वनता है। इस अवस्था में 'अम्' परे होने के कारण पहले '१३५–अमि पूर्वः' द्वारा पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप अकार एकादेश होकर 'अद् अ म्' = 'अदम्' रूप वनेगा। तव '३५६–अदसोऽसेर्दादु दो मः' सूत्र से दकारोत्तरवर्ती अकार को उकार तथा दकार को मकार होकर 'अम्+उम्' = 'अमुम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि 'अमिपूर्वः' ६।१।१०४ तथा 'अदसोऽसे०' ८।२।८०–दोनों सूत्र यहाँ युगपत् प्राप्त होते हैं। किन्तु '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा द्वारा '३५६–अदसोऽसे०' के असिद्ध होने के कारण '१३५–अमिपूर्वः' सूत्र पहले प्रवृत्त होगा। इसीलिए यहाँ पूर्वरूप पहले किया गया है।

७. अमू

यह 'अदस्' शव्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'अदस्+औ'। इस अवस्था में '१९३–त्यदादीनामः' से सकार को अकार तथा '२७४-अतो गुणे' से पररूप होकर[2] 'अद+औ' रूप वनता है। यहाँ '३३–वृद्धिरेचि' सूत्र से प्राप्त वृद्धि का '१२६–प्रथमयोः०' से वाध होकर पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश प्राप्त होता है। किन्तु इच् औकार परे होने के कारण '१२७–नादिचि' सूत्र द्वारा उसका निपेध हो जाता है। तव पुनः '३३–वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि औकार एकादेश होकर 'अद् औ' = 'अदौ' रूप वनेगा। तव '३५६–अदसोऽसे०' सूत्र द्वारा दकारोत्तरवर्ती औकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार तथा दकार के स्थान पर मकार करने पर 'अम् ऊ' = 'अमू' रूप सिद्ध होता है।

८. अमून्

यह 'अदस्' शव्द के द्वितीया के वहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—अदस्'+शस्'। इस स्थिति में '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा 'शस्' के शकार का लोप होकर 'अदस्+अस्' रूप वनेगा। यहाँ पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप[3] होकर 'अद्+अस्' रूप वनता है। इस अवस्था में '३५६–अदसोऽसे०' के असिद्ध होने के कारण '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वपर के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ-आकार

१-२-३. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पदसंख्या—४ की रूप-सिद्धि देखिये।

होकर 'अद् आ स्' = 'अदास्' रूप वनेगा। तव पूर्वसवर्णदीर्घ से परे होने के कारण '१३७-तस्माच्छसो नः पुंसि' से 'शस्' के सकार को नकार होकर 'अदन्' रूप वनता है। यहाँ पुनः '३५६-अदसोऽसे०' सूत्र द्वारा दकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर ऊकार तथा दकार को मकार करने पर 'अ म् ऊ न्' = 'अमून्' रूप सिद्ध होता है।

९. अयम्

यह 'इदम्' (यह) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है---'इदम्+स्' (सु)। यहाँ '१९३--त्यदादीनामः' सूत्र से मकार को अकार प्राप्त था, किन्तु 'सु' परे होने के कारण '२७२-इदमो मः' से उसका निषेध हो जाता है। तव '२७३-इदोऽय् पुंसि' द्वारा 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश होकर 'अय् अम्+स्' रूप वनता है। इस स्थिति में '१७९-हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'अय् अम्' = 'अयम्' रूप सिद्ध होता है।

१०. अर्वन्तौ

यह 'अर्वन्' (घोड़ा) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'अर्वन्+औ'। यहाँ '२९२-अवर्णस्त्रसावनञः' सूत्र से 'अर्वन्' के अन्त्य नकार के स्थान पर 'तृ' आदेश होता है। 'तृ' मे ऋकार इत्संज्ञक है, अतः केवल तकार ही शेष रह जाता है और रूप वनता है—'अर्वत्+औ'। अव सर्वनामस्थान 'औ' परे होने के कारण '२८९-उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से ऋदन्त अंग 'अर्वत्' को 'नुम्' आगम होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संजक है, अतः मित् होने के कारण '२४०-मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभापा से यह 'अर्वत्' के अन्त्य अच्-वकारोत्तरवर्ती अकार के आगे होगा और उसी का अन्तावयव वनेगा। तव रूप होगा—'अर्वन्त्+औ'। इस अवस्था में '७८-नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार को अनुस्वार तथा '७९-अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण नकार होकर 'अर्वन्तौ' रूप सिद्ध होता है।

११. अष्टौ

यह 'अष्टन्' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'अष्टन्+अस्' ('जस्' व 'शस्')। यहाँ '३००-अष्टाभ्य औश्' में आत्व-निर्देश होने के कारण '२९९-अष्टन आ विभक्तौ' से 'अष्टन्' के अन्त्य नकार के स्थान पर आकार होकर 'अष्ट आ+अस्' रूप वनता है। इस स्थिति मे '३००-अष्टाभ्य औश्' से जस् और शस् के स्थान पर 'औश्' आदेश होता है। 'औश्' मे शकार इत्संज्ञक है, अतः शित् होने के कारण '४५-अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभापा द्वारा यह सम्पूर्ण जस् और शस् के स्थान पर होगा और 'अष्ट आ+औ' रूप वनेगा। यहाँ '३२-अकः सवर्णे दीर्घः' से टकारोत्तरवर्ती अकार और आकार के स्थान पर सवर्णदीर्घ आकार एकादेश होकर 'अष्ट् आ+औ' = 'अष्टा+औ' रूप वनता है। तव '३३-वृद्धिरेचि' द्वारा

पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि औकार एकादेश करने पर 'अष्ट् औ' = 'औष्टौ' रूप सिद्ध होता है।

१२. असौ

यह 'अदस्' (वह) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है---'अदस्+स्' (सु)। यहाँ '१९३–त्यदादीनामः' से 'अदस्' के अन्त्य सकार के स्थान पर अकार प्राप्त होता है, किन्तु '३५५–अदस औ सुलोपश्च' द्वारा उसका वाध होकर सकार के स्थान पर 'औ' तथा 'सु' का लोप हो जाता है। तव रूप वनता है 'अद औ'। इस स्थिति में '३३-वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि औकार आदेश होकर 'अद् औ' = 'अदौ' रूप वनेगा। अव लुप्यमान 'सु' प्रत्यय को मानकर '३१०–तदोः सः सावनन्त्ययोः' द्वारा दकार को सकार करने पर 'असौ' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—स्मरण रहे कि 'अदौ' अवस्था में 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (८।२।८०) सूत्र भी प्राप्त होता है, किन्तु 'तदोः सः०' (७।२।१०६) सूत्र के दृष्टि में असिद्ध होने के कारण वह प्रवृत्त नहीं होगा।

१३. अस्मत्

यह 'अस्मद्' (मैं) शब्द के पञ्चमी के वहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'अस्मद्+भ्यस्'। यहाँ '३२३–भ्यसोऽभ्यम्' से 'भ्यस्' के स्थान पर 'अभ्यम्' आदेश प्राप्त होता है, किन्तु पञ्चमी में होने के कारण '३२५–पञ्चम्या अत्' से उसका वाध होकर 'भ्यस्' को 'अत्' सर्वादेश होगा और रूप वनेगा—'अस्मद्+अत्'। तव '३१३–शेपे लोपः' से टि 'अद्' का लोप होकर 'अस्म्+अत्' = 'अस्मत्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि 'शेषे लोपः' सूत्र के दो अर्थ होते हैं—१. टिलोप और २. अन्त्यलोप[1]। प्रथम पक्ष की प्रक्रिया तो ऊपर दी हुई है। दूसरे पक्ष में जव 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश हो जाने से अनादेश विभक्ति न मिलने के कारण '३२१–युष्मदस्मदोः०' से आत्व नहीं होता, तव प्रकृतसूत्र से अन्त्य दकार का लोप होकर 'अस्म +अत्' रूप वनता है। इस स्थिति में '२७४–अतो गुणे' से पररूप अकार एकादेश होने पर 'अस्म् अ त्' = 'अस्मत्' रूप सिद्ध होता है।

१४. अस्मभ्यम्

यह 'अस्मद्' शब्द के चतुर्थी के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'अस्मद्+भ्यस्'। यहाँ 'अस्मद्' से परे होने के कारण '३२३–भ्यसोऽभ्यम्' से 'भ्यस्' को 'अभ्यम्' आदेश होकर 'अस्मद्+अभ्यम्' रूप वनता है। तव '३१३–शेपे लोपः' से 'अस्मद्' की टि 'अद्' का लोप होकर 'अस्म्+अभ्यम्' = 'अस्मभ्यम्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विशेष विवरण के लिए ३१३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

अन्त्य लोप पक्ष में अनादेश हलादि विभक्ति न मिलने से '३२१–युष्मदस्मदोः०' सूत्र द्वारा जब आत्व नहीं होता, तब प्रकृत सूत्र से अन्त्य दकार का लोप होकर पुनः पररूप करने पर 'अस्मभ्यम्' रूप सिद्ध होता है।[1]

१५. अस्माकम्

यह 'अस्मद्' शब्द की षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'अस्मद् +आम्'। इस स्थिति में '३२८–साम आकम्' सूत्र से 'आम्' के स्थान पर 'आकम्' सर्वादेश करने पर 'अस्मद्+आकम्' रूप बनता है। तब '३१३–शेषे लोपः' से अन्त्य लोप पक्ष में दकार का लोप करने पर 'अस्म+आकम्' रूप बनेगा। पुनः '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्वपर के स्थान पर सवर्णदीर्घ आकार करने पर 'अस्म् आ कम्' = 'अस्माकम्' रूप सिद्ध होता है। टि लोप पक्ष में भी '३१३–शेषे लोपः' से टि 'अद्' का लोप होकर 'अस्म्+आकम्+'अस्माकम्' रूप सिद्ध होता है।

१६. अस्मान्

यह 'अस्मद्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'अस्मद्+ शस्'। यहाँ पहले '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा 'शस्' के शकार का लोप करने पर 'अस्मद्+अस्' रूप बनेगा। तब '३११–ङे प्रथमयोरम्' द्वारा अम् आदेश प्राप्त होता है, किन्तु 'अस्मद्' से परे होने के कारण '३१९–शसो नः' से उसका बाध होकर 'शस्' के स्थान पर नकार आदेश होगा। '७२–आदेः परस्य' परिभाषा से यह 'अस्' (शस्) के आदि अकार के स्थान पर होगा और रूप बनेगा—'अस्मद्+न् स्।' यहाँ द्वितीया विभक्ति 'शस्' परे होने के कारण '३१८–द्वितीयायां च' सूत्र से अन्त्य दकार को आकार होकर 'अस्म आ+न् स्' रूप बनता है। फिर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से मकारोत्तरवर्ती अकार और आकार के स्थान पर सवर्णदीर्घ आकार करने पर 'अस्म् आ न् स्'+'अस्मान् स्' रूप बनेगा। तब '२०–सयोगान्तस्य लोपः' से सकार का लोप करने पर 'अस्मान्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि यहाँ संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से '१८०–न लोपः०' सूत्र द्वारा नकार का लोप नहीं होता।

१७. अहम्

यह 'अस्मद्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है— 'अस्मद्+सु'। इस स्थिति में '३११–ङे प्रथमयोरम्' सूत्र द्वारा 'सु' को 'अम्' आदेश होकर 'अस्मद्+अम्' रूप बनता है। यहाँ 'सु' के स्थान पर हुए 'अम्' आदेश को 'सु' मानकर '३१२–त्वाहौ सौ' से 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग 'अस्म्' के स्थान पर 'अह' आदेश करने पर 'अह अद्+अम्' रूप बनेगा। तब '३१३–शेषे लोपः' से टिपक्ष

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वपद (१३) की रूप-सिद्धि देखिये।

में टि 'अद्' का लोप करने पर 'अह+अम्' रूप बनता है। पुनः '१३५–अमि पूर्वः' से पूर्वरूप अकार एकादेश होने पर 'अह अ म्' = 'अहम्' रूप सिद्ध होता है। अन्त्यलोप पक्ष में प्रथम '२७४–अतो गुणे' द्वारा हकारोत्तरवर्ती अकार और 'अद्' के अकार के स्थान पर पररूप एकादेश होकर 'अह अ द्+अम्' = 'अहद्+अम्' रूप बनता है। तब अन्त्य दकार का लोप तथा '१३५–अमि पूर्वः' से पूर्वरूप करने पर 'अहम्' रूप सिद्ध होता है।

१८. आभ्याम्

यह 'इदम्' (यह) शब्द के तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'इदम्+भ्याम्'। यहाँ '१९३–त्यदादीनामः' से 'इदम्' के अन्त्य मकार को अकार करने पर 'इद अ+भ्याम्' रूप बनता है। तब '२७४–अतो गुणे' से दकारोत्तरवर्ती अकार और अकार के स्थान पर पररूप अकार एकादेश होकर 'इद् अ+भ्याम्' = 'इद+भ्याम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२७६–अनाप्यकः' से अन् आदेश प्राप्त होता है, किन्तु हलादि विभक्ति परे होने के कारण '२७७–हलि लोपः' द्वारा उसका बाध होकर 'नाऽनर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' परिभाषा की सहायता से 'इद' का लोप हो जाता है, और रूप बनता है—'अ+भ्याम्'। अब '२७८–आद्यन्तवदेकस्मिन्' परिभाषा की सहायता से '१४१–सुपि च' सूत्र से अकार को दीर्घ आकार करने पर 'आभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

१९. आवयोः

यह 'अस्मद्' शब्द के षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'अस्मद्+ओस्'। यहाँ द्विवचन में होने के कारण '३१४–युवावौ द्विवचने' से 'अस्मद्' के मपर्यन्त 'अस्म' भाग को 'आव' सर्वादेश होकर 'आव अद्+ओस्' रूप बनता है। तब वकारोत्तरवर्ती अकार से गुण अकार परे होने से '२७४–'अतो गुणे' द्वारा पर रूप अकार एकादेश करने पर 'आव् अ द्+ओस्' = 'आवद्+ओस्' रूप बनेगा। इस अवस्था में अनादेश अजादि विभक्ति 'ओस्' परे होने के कारण '३२०–योऽचि' सूत्र से अन्त्य दकार के स्थान पर यकार करने से 'आवय्+ओस्' = 'आवयोस्' रूप बनता है। अब '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान पर रकार ('रु' में उकार के इत्संज्ञक होने के कारण रकार ही शेष रहता है) तथा '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से पुनः रकार को विसर्ग करने पर 'आवयोः' रूप सिद्ध होता है।

२०. आवाभ्याम्

यह 'अस्मद्' शब्द के तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'अस्मद्+भ्याम्।' यहाँ द्विवचन में होने के कारण '३१४–युवावौ द्विवचने' सूत्र से 'अस्मद्' शब्द के मपर्यन्त भाग को पूर्ववत् 'आव' आदेश होकर 'आव अद्+भ्याम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में आदेश रहित हलादि विभक्ति 'भ्याम्' परे होने से

'३२१–युष्मदस्मदोरनादेश' द्वारा अन्त्य दकार के स्थान में आकार करने पर 'अव अ आ+भ्याम्' रूप बनता है तब '२७४–अतो गुणे' से वकारोत्तरवर्ती अकार तथा अकार के स्थान पर पररूप एकादेश होकर 'आव् अ आ+भ्याम्' = 'आव आ+भ्याम्' रूप बनेगा। पुनः '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्वपर के स्थान पर सवर्णदीर्घ आकार करने पर 'आव् आ+भ्याम्' = 'आवाभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।[1]

२१. आवाम्

यह 'अस्मद्' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'अस्मद्+औ'। इस स्थिति में पहले '३११–ङे प्रथमयोरम्' से 'औ' के स्थान में 'अम्' होकर 'अस्मद्+अम्' रूप बनेगा। तब द्विवचन में होने के कारण '३१४–युवावौ द्विवचने' द्वारा 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग 'अस्म्' के स्थान पर 'आव' सर्वादेश करने पर 'आव अद्+अम्' रूप बनता है। यहाँ '२७४–अतो गुणे' से वकारोत्तरवर्ती अकार और 'अद्' के अकार के स्थान पर पररूप एकादेश होकर 'आव् अ द्+अम्' = 'आवद्+अम्' रूप बनेगा। इस अवस्था में स्थानिवद्भाव से 'अम्' में औङ् ('औ' और 'औट्') लानेपर '३१५–प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' सूत्र द्वारा अन्त्य दकार को आकार होकर 'आव आ+अम्' रूप बनता है। अब '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से पहले दकारोत्तरवर्ती अकार और आकार के स्थान पर दीर्घ आकार एकादेश करने पर 'आव् आ+अम् = 'आवा+अम्' रूप बनेगा। पुनः वकारोत्तरवर्ती आकार और 'अम्' के आकार के स्थान पर सवर्णदीर्घ आकार होकर 'आव् आ म्' = 'आवाम्' रूप सिद्ध होता है।

२२. इमे

यह 'इदम्' शब्द के प्रथमा के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'इदम्+जस्'। यहाँ '१९३–त्यदादीनामः' सूत्र से मकार को अकार होकर 'इद अ+जस्' रूप बनेगा। तब '२७४–अतो गुणे' द्वारा दकारोत्तरवर्ती अकार और गुण अकार के स्थान पर पररूप अकार एकादेश होकर 'इद् अ+जस्' = 'इद+जस्' रूप बनता है। इस स्थिति में विभक्ति 'जस्' परे होने के कारण '२७५–दश्च' सूत्र से दकार को मकार होकर 'इम् अ+जस्' = 'इम+जस्' रूप बनेगा। अब 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से 'इम' शब्द की भी '१५१–सर्वादीनि सर्वनामनि' से सर्वनाम संज्ञा हो जाती है। तब '१५२–जसः शी' से जस् को 'शी' आदेश होकर 'इम+शी' रूप बनता है। 'शी' में स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व लाने पर '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'इम+ई'। पुनः '२७–आद् गुणः' से मकारोत्तरवर्ती

---

१. 'युष्मद्' का 'युवाभ्याम्' रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होता है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ मपर्यन्त भाग 'युष्म्' के स्थान पर 'युव' आदेश होगा। इसका मूलरूप है—'युष्मद्+भ्याम्।'

अकार और ईकार के स्थान पर गुण एकार एकादेश होकर 'इम् ए' = 'इमे' रूप सिद्ध होता है।

२३. इमौ

यह 'इदम्' शव्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'इदम्+औ'। यहाँ पर पूर्ववत्[1] त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'इद+औ' रूप वनता है। तव विभक्ति 'औ' परे होने के कारण '२७५–दश्च' द्वारा दकार को मकार होकर 'इम् अ+औ' = 'इम+औ' रूप वनेगा। इस स्थिति में '१२६–प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' द्वारा पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु अवर्ण से इच् 'औ' परे होने के कारण '१२७–नादिचि' सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। तव फिर '३३–वृद्धिरेचि' से पूर्वपर के स्थान पर वृद्धि औकार एकादेश करने पर 'ईम् औ' = 'इमौ' रूप सिद्ध होता है।

२४. उदीचः

यह 'उदच्' (उत्तरदिशा, देश व काल) शव्द के द्वितीया के वहुवचन तथा पञ्चमी और षष्ठी के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'उद् अच्+अस्' ('शस्', 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक भाग का लोप करने पर) यहाँ 'अच्' लुप्तनकार 'अञ्चु' है, और '१६५–यचि भम्' से इसकी भसंज्ञा भी है। अतः '३३५–अचः' सूत्र से इसके अकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु 'उद्' से परे होने के कारण '३३७–उद ईत्' द्वारा उसका वाध होकर अकार के स्थान पर ईकार हो जाता है और इस प्रकार रूप वनता है—'उद् ईच्+अस्' = 'उदीचस्'। तव '२०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान में रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार को विसर्ग होकर 'उदीचः' रूप सिद्ध होता है।

२५. ऋत्विक् (ऋत्विग्)

यह 'ऋत्विज्' (यज्ञ करने वाला) शव्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है. इसका मूलरूप है—'ऋत्विज्+स् (सु)'। यहाँ पहले '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होकर 'ऋत्विज्' रूप वनता है। इस स्थिति में क्विन्नन्त[2] 'ऋत्विज्' शव्द पदान्त में है, अतः ३०४–क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सूत्र द्वारा जकार को कवर्ग आदेश प्राप्त होता है। किन्तु यह सूत्र (८।२।६२) त्रिपादी में है, इसलिए '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम् परिभाषा द्वारा '३०६–चोः कुः'(८।२।३०)की दृष्टि में असिद्ध है तव '३०६–चोः कुः' द्वारा ही अन्त्य जकार के स्थान में '१८-स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा की सहायता से कवर्ग गकार होकर 'ऋत्विग्' रूप सिद्ध होता है। '१४६–वाऽवसाने' से पुनः वैकल्पिक चर्त्वककार करने पर 'ऋत्विक्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वपद (२२) की रूप-सिद्धि देखिये।

२. यहाँ '३०१–ऋत्विग्-दधृक्०' सूत्र द्वारा 'ऋत्विज्' में 'क्विन्' प्रत्यय हुआ है।

२६. एभिः

यह 'इदम्' शब्द के तृतीया के बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'इदम्+भिस्'। यहाँ '१९३—त्यदादीनामः' से मकार को अकार तथा '२७४—अतो-गुणे' से पररूप[1] होकर 'इद+भिस्' रूप बनेगा। तब हलादि आप् विभक्ति 'भिस्' परे होने के कारण '२७७—हलि लोपः' से 'इद्' भाग का लोप होकर 'अ+भिस्' रूप बनता है। यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अकार को अदन्त अङ्ग मान लेने पर '१४२—अतो भिस ऐस्' द्वारा 'भिस्' को 'ऐस्' प्राप्त होता है, किन्तु ककाररहित 'इदम्' से परे होने के कारण '२७९—नेदमदसोरकोः' सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। तब झलादि बहुवचन 'भिस्' परे होने से व्यपदेशिवद्भावेन अदन्त अङ्ग अकार को '१४५—बहुवचने झल्येत्' से एकार आदेश होकर 'ए+भिस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५—ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थानपर रकार तथा '९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान में पुनः विसर्ग करने पर 'एभिः' रूप सिद्ध होता है।

२७. एषाम्

यह 'इदम्' शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'इदम्+आम्। यहाँ पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'इद+आम्' रूप बनता है इस स्थिति में अदन्त अङ्ग से पर और सर्वनाम से विहित होने के कारण '१५५—आमि सर्वनाम्नः सुट्' से 'आम्' को सुट् आगम होता है। 'सुट' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'इद+स् आम् = इद+साम्'। तव हलादि विभक्ति 'साम्' परे होने से '२७७—हलि लोपः' द्वारा 'इद्' भाग का लोप होकर 'अ+साम्' रूप बनता है। यहाँ भी व्यदेशिवद्भाव से अकार को अदन्त अङ्ग मान लेने पर झलादि बहुवचन 'साम्' परे होने के कारण '१४५—बहुवचने झल्येत्' से अकार को एकार आदेश होगा और रूप बनेगा—'ए साम्'। अव '१५७—आदेशप्रत्यययोः' द्वारा सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार होकर 'एषाम्' रूप सिद्ध होता है।

२८. खन्

यह 'खञ्ज्' (लंगड़ा) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'खञ्ज्+स्' (सु)। यहाँ '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप होकर 'खञ्ज्' रूप बनेगा। अब पदान्त बन जाने के कारण 'खञ्ज्' पद के अन्त्य जकार का '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से लोप हो जाता है और इस प्रकार 'खञ्' रूप बनता है। इस स्थिति में 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्यायानुसार ञकार को पुनः नकार होकर 'खन्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पदसंख्या २२ की रूप-सिद्धि को देखना चाहिये।

विशेष—संयोगान्तलोप के असिद्ध होने के कारण '१८०–न लोपः०' सूत्र द्वारा यहाँ नकार का लोप नहीं होता। पुनः क्विन्प्रत्ययान्त न होने से[1] '३०४–क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से नकार को कवर्ग ङकार भी नहीं होगा।

२९. गुप् (गुब्)

यह 'गुप्' (रक्षक) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है— 'गुप्+स्' (सु)। इस स्थिति में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप होकर 'गुप्' रूप बनता है। तब '६७–झलां जशोऽन्ते' से पदान्त झल् पकार के स्थान पर जश् बकार होकर 'गुब्' रूप सिद्ध होता है। पुनः '१४६–वाऽवसाने' सूत्र से पदान्त बकार को चर् पकार करने पर 'गुप्' यह वैकल्पिक रूप सिद्ध होता है।

३०. चतुर्ण्णाम् (चतुर्णाम्)

यह 'चतुर्' (चार) शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है– 'चतुर्+आम्'। इस अवस्था में 'चतुर्' से परे होने के कारण '२६६–षट्चतुर्भ्यश्च' से 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने से यह '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा द्वारा 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'चतुर्+न् आम्' = 'चतुर्नाम्'। अब यहाँ '२६७–रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र द्वारा रकार से पर नकार को णकार होकर 'चतुर्णाम्' रूप बनता है। इस स्थिति में तकारोत्तरवर्ती अच् उकार से पर रकार होने के कारण '६०–अचोरहाभ्यां द्वे' से उससे पर णकार का वैकल्पिक द्वित्व होकर 'चतुर् ण् णाम्' = 'चतुर्ण्णाम्' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में 'चतुर्णाम् = 'चतुर्णाम्' रूप ही रहेगा।

३१. चतुर्षु

यह 'चतुर्' शब्द के सप्तमी के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है–'चतुर्+सु' (सुप्)। यहाँ पर खर्' सकार परे होने के कारण '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र से रकार के स्थान में विसर्ग प्राप्त होता है, किन्तु 'रु' का रकार न होने से '२६८–रोः सुपि' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' द्वारा सकार को षकार करने पर 'चतुर् षु' रूप बनता है। यहाँ तकारोत्तरवर्ती उकार से पर रकार है, अतः '६०–अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से उससे पर यर् षकार को विकल्प से द्वित्व प्राप्त होता है, किन्तु षकार से अच् उकार परे होने के कारण '२६९–शरोऽचि' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब अन्त में 'चतुर्षु' = 'चतुर्षु' रूप सिद्ध होता है।

३२. चत्वारः

यह 'चतुर्' शब्द के प्रथमा के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—चतुर्+

---

१. ध्यान रहे कि 'खञ्ज्' शब्द 'खजि' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने से बनता है।

जस्'। यहाँ '१२९--चुटू' सूत्र द्वारा 'जस्' के जकार का लोप होकर 'चतुर+अस्' रूप बनेगा। तब सर्वनामस्थान 'जस्' परे होने के कारण '२५९--चतुरनडुहोरामुदात्तः' से 'चतुर्' को 'आम्' आगम प्राप्त होता है। 'आम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०--मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा द्वारा यह 'चतुर्' शब्द के अन्त्य अच्--तकारोत्तरवर्ती उकार के आगे आकर उसी का अन्तावयव बनेगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'चतु आ र्+अस्'। यहाँ '१५--इको यणचि' से तकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान में वकार होकर 'च त् व् आ र्+अ स्' = 'चत्वारस्' रूप बनता है। तब '१०५--ससजुषोरुः' से पदान्त सकार के स्थान पर 'रु' रकार तथा पुनः '९३--खरवसानयोः०' सूत्र से रकार को विसर्ग कर पर 'चत्वारः' रूप सिद्ध होता है।

३३. चिकीर्षु

यह 'चिकीर्ष्' (करने की इच्छा वाला) शब्द के सप्तमी के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'चिकीर्ष्+सु' (सुप्)। यहाँ षत्व (८।३।५९) के असिद्ध होने के कारण '२०९--रात्सस्य' (८।२।२४) से संयोगान्त सकार-रूप षकार का लोप होकर 'चिकीर् सु' रूप बनेगा। इस स्थिति में खर् सकार परे होने से '९३--खरवसान-योर्विसर्जनीयः' द्वारा रकार को विसर्ग प्राप्त होता है, किन्तु 'रु' का रकार न होने के कारण '२६८--रोः सुपि' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब इण् रकार से पर प्रत्यय 'सु' के अवयव सकार के स्थान पर '१५०--आदेशप्रत्ययोः' से मूर्धन्य षकार आदेश हो जाता है और इस प्रकार 'चिकीर्षु' = 'चिकीर्षु' रूप सिद्ध होता है।

३४. चिकीः

यह 'चिकीर्ष्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'चिकीर्ष्+स्' (सु)। इस अवस्था में '१७९--हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'चिकीर्ष्' रूप बनेगा। तब यहाँ पूर्ववत् षत्व के असिद्ध होने पर '२०९--रात्सस्य' द्वारा संयोगान्त सकाररूप षकार का लोप होकर 'चिकीर्' रूप बनता है। अब अवसान में होने से '९३--खरवसानयोर्विसर्जनीयः' सूत्र द्वारा रकार को विसर्ग होकर 'चिकीः' रूप सिद्ध होता है।

३५. क्षजत् (क्षजद्)

यह 'जक्षत्' (खाता हुआ या हंसता हुआ) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'जक्षत्+स्' (सु)। यहाँ सर्वनामस्थान 'सु' परे होने के कारण '२८९--उगिदचाम्०' सूत्र द्वारा शत्रन्त 'जक्षत्' को नुम् आगम प्राप्त होता है, किन्तु '३४६--जक्षित्यादयः षट्' से 'जक्षत्' शब्द की अभ्यस्तसंज्ञा हो जाने पर '३४५--नाऽभ्यस्ताच्छतुः' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब '१७९--हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'जक्षत्' रूप बनता है। यहाँ '६७-झलां जशोऽन्ते' से पदान्त झल् तकार के स्थान पर जश् दकार करने पर 'जक्षद्' रूप सिद्ध

होता है। पुनः '१४६–वाऽवसाने' से पदान्त दकार को चर् तकार करने से वैकल्पिक रूप 'जक्षत्' सिद्ध होता है।

३६. तव

यह 'युष्मद्' (तू) शब्द के षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'युष्मद्+ङस्'। इस स्थिति में '३१७–त्वमावेकवचने' से एकवचन में होने के कारण मपर्यन्त भाग को 'त्व' आदेश प्राप्त होता है, किन्तु 'ङस्' परे होने से '३२६–तवममौ ङसि' सूत्र द्वारा उसका वाध होकर मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'तव' आदेश होता है और रूप वनता है—'तव अद्+ङस्'। यहाँ 'युष्मद्' से परे होने के कारण '२३७–युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से 'ङस्' के स्थान पर 'अश्' आदेश होता है। 'अश् में शकार इत्संज्ञक है, अतः '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'ङस्' के स्थान में होगा और रूप वनेगा—'तव अद् अ'। तव '३१३–शेषे लोपः' सूत्र से टिपक्ष में 'अद्' का लोप होकर 'तव अ' रूप वनता है। यहाँ '२७४–अतो गुणे' से पूर्वपर के स्थान पर पररूप अकार एकादेश करने पर 'तव् अ' = 'तव' रूप सिद्ध होता है। अन्त्य लोप पक्ष में भी दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने से 'तव' रूप सिद्ध होता है[1]'

३७. तादृक् (तादृग्)

यह 'तादृश्' (उसके समान) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'तद् दृश्+स्' (सु)। यहाँ त्यदादि 'तद्' उपपद होने के कारण '३४७–त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' से ज्ञानभिन्नार्थवाचक 'दृश्' से 'क्विन्' प्रत्यय होकर 'तद्दृश+क्विन्+स्' रूप वनता है। तव 'क्विन्' का सर्वापहारी लोप होने पर पुनः 'तद् दृश+स्' रूप वनेगा। इस अवस्था में 'दृश्' धातु परे होने से '३४८–आ सर्वनाम्नः' द्वारा सर्वनाम 'तद्' के अन्त्य दकार को आकार आदेश करने पर 'त आ दृश्+स्' रूप वनता है। पुनः '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से पूर्वपर के स्थान पर सवर्णदीर्घ आकार होकर 'त् आ दृश्+स् = तादृश्+स्' रूप वनेगा। अव '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो जाता है और रूप वनता है—'तादृश्'। इस स्थिति में '३०४–क्विन्प्रत्ययस्य कुः' के असिद्ध होने के कारण '३०७–व्रश्च-भ्रस्ज०' सूत्र द्वारा शकार को षकार होकर 'तादृष्' रूप वनेगा। अव '६७–झलां जशोऽन्ते' से झल् षकार को मूर्धास्थान की समानता से जश् डकार तथा पुनः '३०४–क्विन्०' से डकार को कवर्ग गकार होकर 'तादृग्' रूप सिद्ध होता है। यहाँ अन्त में अवसान गकार को '१४६–वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर्त्व ककार करने पर दूसरा रूप 'तादृक्' सिद्ध होता है।

---

१. ध्यान रहे कि '३१३–शेषे लोपः' सूत्र के दो अर्थ होते है, अतः रूप-सिद्धि में दोनों अर्थो का प्रयोग किया गया है। विशेष विवरण के लिए उक्त सूत्र की व्याख्या देखिये।

३८. तिर्यङ्

यह 'तिरस् अच्' (पशु-पक्षी आदि) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—तिरस् अच्+स्' (सु)। यहाँ वप्रत्ययान्त अञ्चुधातु 'अच्' परे होने से '३४०—तिरसस्तिर्यलोपे' द्वारा 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' सर्वादेश होकर 'तिरि अच्+स्' रूप वनता है। तव सर्वनामस्थान 'सु' परे होने के कारण '२८९—उगिदचाम्०' से नलोपी 'अञ्चु' धातु 'अच्' को 'नुम्' आगम होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने से '२४०—मिद्चोऽन्त्यात् परः' परिभाषा द्वारा यह 'अच्' के अन्त्य अच् अकार के आगे आवेगा और उसी का अन्तावयव होगा। तव रूप वनेगा—'तिरि+अ न् च्+स्'। इस स्थिति में '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'तिरि+अ न् च्' रूप वनता है। अव पदान्त वन जाने पर '२०—संयोगान्तस्य लोपः' द्वारा संयोगान्त 'तिरि अन् च्' के अन्त्य चकार का लोप हो जाता है और रूप वनता है—'तिरि अन्'। यहाँ '३०४—क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से अन्त्य तकार को कवर्ग ङकार होकर 'तिरि अन्' रूप वनेगा। इस अवस्था में '१५—इको यणचि' से रकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर यकार होकर 'तिर् य् अङ्' = 'तिर्यङ्' रूप सिद्ध होता है।

३९. तुभ्यम्

यह 'युष्मद्' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—युष्मद्+ ङे'। यहाँ पहले '३११—ङे प्रथमयोरम्' से 'युष्मद्' से पर 'ङे' को 'अम्' आदेश होकर 'युष्मद्+अम्' रूप वनेगा। तब स्थानिवद्भाव से 'अम्' को 'ङे' मानने पर '३२२—तुभ्यमह्यौ ङयि' द्वारा 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' के स्थान पर 'तुभ्य' आदेश होकर 'तुभ्य अद्+अम्' रूप वनता है। इस अवस्था में '३१३—शेषे लोपः' से टिपक्ष में 'अद्' का लोप होकर 'तुभ्य अम्' रूप बनेगा। पुनः '२७४—अतो गुणे' से पूर्वपर के स्थान पर पररूप अकार एकादेश करने पर 'तुभ्य् अ म्' = 'तुभ्यम्' रूप सिद्ध होता है। अन्त्यलोप-पक्ष में भी दकार का लोप होकर पुनः पररूप करने पर 'तुभ्यम्' रूप सिद्ध होता है।

४०. तुराषाट् (तुराषाड्)

यह 'तुरासाड्' (इन्द्र) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'तुरासाह+स्' (सु)। इस अवस्था में '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप होने पर 'तुरासाह' रूप वनेगा। तब पदान्त में हकार को '५२१—हो ढः' ढकार तथा पुनः झल् ढकार को '६७—झलां जशोऽन्ते' द्वारा जश् डकार करने पर 'तुरासाड्' रूप वनता है। इस स्थिति में '३६३—सहेः साडः सः' सूत्र से 'सह्' धातु से वने 'साड्' के सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'तुराषाड्' रूप सिद्ध होता है। पुनः

'१४६–वाऽवसाने' से अवसान में स्थित डकार के स्थान पर वैकल्पिक चर्त्व टकार करने पर द्वितीय रूप 'तुराषाट्' सिद्ध होता है।

४१. त्वत्

यह 'युष्मद्' शब्द के पञ्चमी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'युष्मद्+ङसि'। यहाँ 'युष्मद्' से परे होने के कारण '३२४–एकवचनस्य च' सूत्र से 'ङसि' के स्थान पर 'अत्' सर्वादेश[1] होकर 'युष्मद्+अत्' रूप बनता है। तब एकवचन में होने से '३१७–त्वमावेकवचने' द्वारा द्वारा 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' को 'त्व' आदेश होकर 'त्व अद्+अत्' रूप बनेगा। इस अवस्था में '३१३–शेषे लोपः' से टिपक्ष में 'अद्' का लोप हो जाता है और रूप बन जाता है—'त्व अत्'। अब '२७४–अतो-गुणे' से पूर्वपर के स्थान पर पररूप अकार एकादेश करने पर 'त्व् अ त्' = 'त्वत्' रूप सिद्ध होता है। अन्त्यलोपपक्ष में पहले '२७४–अतो गुणे' से पररूप अकार एकादेश होकर 'त्व् अ द्+अत्' = 'त्वद्+अत्' रूप बनेगा। तब दकार-लोप तथा पुनः पररूप करने पर 'त्वत्' रूप सिद्ध होता है।

४२. त्वम्

यह 'युष्मद्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'युष्मद्+स्' (सु)। यहाँ '३११–ङे प्रथमयोरम्' सूत्र से 'सु' को 'अम्' आदेश करने पर 'युष्मद्+अम्' रूप बनता है। तब स्थानिवद्भाव से 'सु' के स्थान पर हुए 'अम्' आदेश को 'सु' मानने पर '३१२–त्वाहौ सौ' द्वारा 'युष्मद्' के मपर्यन्तभाग 'युष्म्' के स्थान पर 'त्व' आदेश होगा और रूप बनेगा—'त्व अद्+अम्'। आगे की शेष प्रक्रिया 'अहम्' (१७) के समान है।

४३. त्वया

यह 'युष्मद्' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'युष्मद्+आ' (टा)। इस अवस्था में एकत्वकथन होने के कारण '३१७–त्वमावेक-वचने' से 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' के स्थान पर 'त्व' आदेश होकर 'त्व अद्+आ' रूप बनता है। तब अनादेश अजादि विभक्ति 'टा' परे होने से '३२०–योऽचि' द्वारा अन्त्यदकार के स्थान पर यकार होगा और रूप बनेगा 'त्व अय्+आ'। यहाँ '२७४–अतो गुणे' सूत्र से पूर्वपर के स्थान पर पररूप अकार एकादेश होकर 'त्व् अ य् आ' = 'त्वया' रूप सिद्ध होता है।

४४. त्वाम्

यह 'युष्मद्' शब्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'युष्मद्+

१. ध्यान रहे कि 'अत्' अनेकाल् है, अतः '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सर्वादेश हुआ है।

अम्'। यहाँ एकत्व कथन होने के कारण पूर्ववत् 'युष्म्' के स्थान पर 'त्व' होकर 'त्व अद्+अम् रूप वनेगा। तव '२७४–अतो गुणे' से वकारोत्तरवर्ती अकार और 'अद्' के अकार के स्थान पर पररूप एकादेश होकर 'त्व अ द्+अम्' = 'त्वद्+अम्' रूप वनता है। इस स्थिति में द्वितीया विभक्ति परे होने से '३१८–द्वितीयायाञ्च' सूत्र द्वारा अन्त्यदकार को आकार होगा और रूप वनेगा—'त्व आ+आम्'। यहाँ पहले '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से वकारोत्तरवर्ती अकार और आकार के स्थान पर दीर्घ आकार करने पर 'त्व् आ+अम् = 'त्वा अम्' रूप वनता है। पुनः '१३५–अमि पूर्वः' से पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप आकार एकादेश करने पर 'त्व् आ म्' = 'त्वाम्' रूप सिद्ध होता है।

४५. ददत् (ददद्)

यह 'ददत्' (देता हुआ) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूल-रूप है—'ददत्+स्' (सु)। यहाँ षष्ठद्वित्वप्रकरणस्थ 'श्लौ' (६।१।१७) सूत्र से द्वित्व होने के कारण '३४४–उभे अभ्यस्तम्' से 'ददत्' को अभ्यस्त संज्ञा होती है। अतः '२८९–उगिदचाम्०' से प्राप्त नुम् आगम[1] का '३४५–नाभ्यस्ताच्छतुः' सूत्र से निषेध हो जाता है। तव '१६९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप होकर 'ददत्' रूप वनेगा। इस स्थिति में पदान्त होने के कारण '६७–झलां जशोऽन्ते से झल् तकार के स्थान पर जश् दकार करने पर 'ददद्' रूप सिद्ध होता है। पुनः '१४६–वाऽवसाने' से पदान्त में स्थित दकार को चर् तकार होकर द्वितीय वैकल्पिक रूप 'ददत्' सिद्ध होता है।

४६. धीमान्

यह 'धीमत्' (वुद्धिमान्) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'धीमत्+स् (सु)'। यहाँ 'धीमत्' शब्द के 'अतु अन्त' (मतु = म्+अतु) होने के कारण पहले '३४३–अत्वसन्तस्य चाधातोः' सूत्र से उपधा–मकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार होकर 'धीम् आ त्+स्' = 'धीमात्+स्' रूप वनेगा। तव पुनः सर्वनामस्थान 'सु' परे होने से '२८९–उगिदचाम्०' सूत्र द्वारा 'धीमात्' को नुम् आगम होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह 'धीमात्' के अन्त्य अच्—मकारोत्तरवर्ती आकार—के आगे होकर उसका अन्तावयव वनेगा और इस प्रकार रूप वनेगा—'धीमा न् त्+स्'। इस अवस्था में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'धीमान् त्' रूप वनता है। अव '२०–संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त तकार का लोप होकर 'धीमान्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. ध्यान रहे कि 'ददत्' शब्द शतृप्रत्ययान्त है। 'शतृ' में ऋकार इत्संज्ञक होने से उक्त सूत्र द्वारा नुम् आगम प्राप्त होता है।

४७. धुक् (धुग्)

यह 'दुह्' (दुहने वाला) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है— 'दुह्+स्' (सु)। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'दुह्' रूप बनता है। तब पदान्त में होने के कारण दादि धातु 'दुह्' के हकार को '२५२–दादेर्धातोर्घः' से घकार होकर 'दुघ्' रूप बनेगा। इस स्थिति में व्यपदेशिवद्भाव से 'दुघ्' धातु का अवयव है, और एकाच् जषन्त भी है। अतः '२५३–एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' सूत्र द्वारा बश्-दकार के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य से झष्-धकार होकर 'धुघ्' रूप बनता है। पुनः '६७–झलां जशोऽन्ते' से पदान्त घकार को गकार करने पर 'धुग्' रूप सिद्ध होता है। यहाँ अवसान में होने के कारण '१४६–वाऽवसाने' सूत्र से गकार के स्थान पर वैकल्पिक ककार होकर 'धुक्' रूप सिद्ध होगा।

४८. ध्रुक् (ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्)

यह 'द्रुह्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'द्रुह्+स्' (सु)। यहाँ भी '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से सकार का लोप होकर 'द्रुह्' रूप बनता है। तब पदान्त में होने के कारण '२५४–वा द्रुह०' 'सूत्र द्वारा हकार के स्थान पर विकल्प से घकार करने पर 'द्रुघ्' रूप बनेगा। धकाराभाव पक्ष में '२५१–हो ढः' से पदान्त हकार को ढकार होकर 'द्रुढ्' रूप बनता है। अब पूर्ववत् '२५३–एकाचो बशः०' सूत्र द्वारा दोनों पक्षों में दकार के स्थान पर धकार करने से 'ध्रुघ्' और 'ध्रुढ्' रूप बनेंगे। इस स्थिति में '६७–झलां जशोऽन्ते' से पदान्त झल् घकार और ढकार के स्थान पर क्रमशः जश् गकार और डकार करने पर 'ध्रुग्' और 'ध्रुड्' रूप सिद्ध होते हैं। पुनः '१४६–वाऽवसाने' से गकार और डकार के स्थान पर वैकल्पिक चर्–ककार और टकार–होकर 'ध्रुक्' और 'ध्रुट्' रूप सिद्ध होते हैं।

४९. नक् (नग्, नट्, नड्)

यह 'नश्' (नश्वर) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'नश्+स्' (सु)। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'नश्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'नशेर्वा' (८।२।६३) के असिद्ध होने से '३०७–व्रश्च-भ्रस्ज०' (८।२।६३) सूत्र द्वारा पदान्त शकार के स्थान पर षकार करने पर 'नष्' रूप बनता है। तब पदान्त में होने के कारण '६७–जलां जशोऽन्ते' से झल् षकार को स्थानकृत सादृश्य से जश् डकार होकर 'नड्' रूप बनेगा। अब '३४९–नशेर्वा' सूत्र से वैकल्पिक कवर्ग-गकार करने पर 'नग्' रूप सिद्ध होता है। अभाव पक्ष में 'नड्' ही रहेगा। फिर दोनों पक्षों में १४६–वाऽवसाने' द्वारा वैकल्पिक चर्त्व–ककार और टकार–होने पर 'नक्' और 'नट्' ये दो अन्य रूप सिद्ध होते हैं।

५०. पञ्चानाम्

यह 'पञ्चन्' (पाँच) शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है। मूल रूप है—'पञ्चन्+आम्'। यहाँ '२९७—ष्णान्ता षट्' सूत्र से 'पञ्चन्' की षट् संज्ञा होने के कारण '२६६—षट्चतुर्भ्यश्च' द्वारा इससे परे 'आम्' को 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः 'टित्' होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'आम्' का आद्यवयव होगा और रूप बनेगा—'पञ्चन्+न् आम्' = 'पञ्चन्+नाम्'। इस स्थिति में 'नाम्' परे होने से '२९८—नोपधायाः' सूत्र से नान्त 'पञ्चन्' की उपधा—चकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार करने पर 'पञ्च् आन्+नाम्' = 'पञ्चान्+नाम्' रूप बनता है। यहाँ हलादि विभक्ति 'नाम्' परे होने के कारण '१६४—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से 'पञ्चान्' की पद संज्ञा होती है। तब '१८०—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' द्वारा प्रातिपदिक संज्ञक पद 'पञ्चान्' के अन्त्य नकार का लोप होकर 'पञ्चा+नाम्' = 'पञ्चानाम्' रूप सिद्ध होता है।

५१. पथः

यह 'पथिन्' (मार्ग) शब्द के द्वितीया के बहुवचन तथा पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'पथिन्+अस्' ('शस्' 'ङसि' तथा 'ङस्')। यहाँ '१६५—यचि भम्' से 'पथिन्' की भसंज्ञा होने पर '२९६—भस्य टेर्लोपः' सूत्र द्वारा टि-'इन्' का लोप होकर 'पथ् अस्' = 'पथस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५—ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'पथः' रूप सिद्ध होता है।

५२ पन्थाः

यह 'पथिन्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'पथिन्+स् (सु)'। इस स्थिति में 'सु' परे होने के कारण '२९३—पथिमथ्यृभुक्षामात्' सूत्र से 'पथिन्' के अन्त्य नकार के स्थान पर आकार आदेश होकर 'पथि आ+स्' रूप बनेगा। यहाँ पुनः सर्वनामस्थान 'सु' परे होने से '२९४—इतोऽत् सर्वनामस्थाने' द्वारा आदि इकार को अकार होकर 'पथ् अ आ+स्' रूप बनता है। इस अवस्था में '२९५—थो न्थः' से थकार के स्थान पर 'न्थ्' आदेश करने पर 'पन्थ् अ आ+स्' = 'पन्थ आ स्' रूप बनेगा। तब '४२—अकः सवर्णे दीर्घः' से थकारोत्तरवर्ती अकार और आकार के स्थान पर दीर्घ आकार एकादेश होकर 'पन्थ् आ स्' = 'पन्थास्' रूप बनता है। अब '१०५—ससजुषो रुः' से पदान्त सकार के स्थान पर रुत्व-रकार तथा पुनः '९३—खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग होकर 'पन्थाः' रूप सिद्ध होता है।

५३. पिपठीः

यह 'पिपठिष्' (पढ़ने की इच्छा करने वाला) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'पिपठिष्+स्' (सु)। यहाँ '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्तसकार का लोप होकर 'पिपठिष्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'ससजुषो रुः'

(८।२।६६) की दृष्टि में 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) के असिद्ध होने से यहाँ पकार को सकार मान कर उसके स्थान पर 'रु' (उकार के इत्संज्ञक होने के कारण केवल रकार ही शेष रहेगा) आदेश हो जाता है और रूप वनता है—'पिपठिर्'। तव '३५१–र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' सूत्र से रकारान्त धातु 'पिपठिर्' की उपधा-ठकारोत्तरवर्ती इकारको दीर्घ ईकार होकर 'पिपठ् ई र्' = 'पिपठीर्' रूप वनेगा। यहाँ अवसान में होने के कारण '९३–खरवसानयोः०' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'पिपठीः' रूप बनता है।

५४. पुमान्

यह 'पुंस्' (पुरुष) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'पुंस्+स्' (सु)। यहाँ सर्वनामस्थान 'सु' की विवक्षा में '३५४–पुंसोऽसुङ्' सूत्र से 'पुंस्' के स्थान पर 'असुङ्' आदेश होता है। 'असुङ्' में 'उङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण यह '४६-ङिच्च' परिभापा द्वारा 'पुंस्' के अन्त्य सकार के स्थान में होगा और रूप वनेगा—'पुं अस्+स्'। तव सकार के हट जाने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिक-स्याप्यपायः' न्यायानुसार अनुस्वार अपने पूर्वरूप-मकार में परिणत हो जाता है—'पुम् अस्+स्'। इस स्थिति में सर्वनाम स्थान 'सु' परे होने से '२८९–उगिदचाम्०' सूत्र द्वारा 'नुम्' आगम होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभापा से यह 'पुम् अस्' के अन्त्य अच् मकारोत्तरवर्ती अकार के आगे आकर उसका अन्तवयव होगा और इस प्रकार रूप वनेगा–'पुम् अ न् स्+स्' = 'पुमन् स्+स्'। अव '१७९–हल्ङयाब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'पुमन् स्' रूप बनता है। पुनः '२०–संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त सकार का लोप होकर 'पुमन्' रूप वनेगा। इस अवस्था में '३४२–सान्तमहतः०' सूत्र से उपधा मकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ करने पर 'पुम् आन्' = 'पुमान्' रूप सिद्ध होता है।

५५. प्रशान्

यह 'प्रशाम्' ('अधिक शान्त) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'प्रशाम्+स्' (सु)। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'प्रशाम्' रूप वनेगा। तव '२७०–मो नो धातोः' सूत्र से धातु रूप 'प्रशाम्' के अन्त्य मकार को नकार होकर 'प्रशान्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि यह नकारादेश (८।२।६४) 'न लोप०' (८।२।७) की दृष्टि में असिद्ध है, अतः उसका लोप नहीं होगा।

५६. प्राङ्

यह 'प्र अच्' (पूर्व दिशा, काल व देश) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूल रूप है–'प्र अच्+स्' (सु)। इस स्थिति में सर्वनाम-स्थान 'सु' परे होने के कारण '२८९–उगिदचाम्०' सूत्र से नलोपी 'अञ्चु' धातु 'प्र अच्' को 'नुम्' आगम

होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने से '२४०—मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा द्वारा यह 'प्र अच्' के अन्त्य अच् रकारोत्तरवर्ती अकार के आगे आकर उसी का अन्तावयव होगा और रूप बनेगा—'प्र अ न् च + स्'। तब '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'प्र अन् च्' रूप बनता है। यहाँ पदान्त बन जाने पर संयोगान्त 'प्र अन् च्' के अन्त्य चकार का '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से लोप हो जाता है और रूप बनता है—'प्र अ न्'। अब '३०४—[1]क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से नकार स्थान पर कवर्ग-ङकार होकर 'प्र अङ्' रूप बनेगा। पुनः '४२—अकः सवर्णे दीर्घः' से रकारोत्तरवर्ती अकार और 'अङ्' के अकार के स्थान पर दीर्घ आकार करने पर 'प्र आ ङ्' = 'प्राङ्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—स्मरण रहे कि 'प्राङ्' रूप पूजार्थक 'अञ्चु' धातु से बने हुए 'प्राञ्च्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में भी होता है। अतः छात्रों को दोनों प्रकार से रूप-सिद्धि दिखलानी चाहिये। सुविधा के लिए इसकी प्रयोग-सिद्धि नीचे दी जा रही है:—'प्राञ्च् + स्' (सु)—मूल रूप है। यहाँ पूर्ववत् अपृक्त सकार का लोप होकर पुनः संयोगान्त चकार का लोप करने पर 'प्राञ्' रूप बनता है। तब निमित्त चकार के निवृत्त हो जाने पर कार्य अनुस्वार और परसवर्ण भी निवृत्त हो जावेगा और ञकार अपने पूर्वरूप नकार में आ जावेगा—'प्रान्'। यहाँ पूर्ववत् '३०४—क्विन्०' सूत्र से नकार के स्थान पर ङकार होकर 'प्राङ्' रूप सिद्ध होता है।

५७. प्राङ्क्षु (प्राङ्ख्षु, प्राङ्षु)

यह 'प्राञ्च्' शब्द के सप्तमी के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'प्राञ्च् + सु' (सुप्)। यहाँ हलादि विभक्ति 'सुप्' परे होने से पूर्वपद 'प्राञ्च्' की पद संज्ञा होती है। अतः '२०—संयोगान्तस्य लोपः' द्वारा अन्त्य चकार का लोप होकर 'प्राञ् सु' रूप बनता है। तब निमित्त चकार के निवृत्त हो जाने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्यायानुसार ञकार अपने पूर्वरूप नकार में परिणत हो जाता है—'प्रान् + सु'। इस स्थिति में '३०४—क्विन्०' सूत्र[1] द्वारा नकार को कवर्ग—ङकार होकर 'प्राङ् सु' रूप बनेगा। यहाँ '८६—ङ्णोः कुक् टुक् शरि' सूत्र से शर् सकार परे होने के कारण विकल्प से ङकार को 'कुक्, आगम होता है। 'कुक्' मे 'उक्' इत्संज्ञक है, अतः कित् होने से '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा द्वारा यह ङकार का अन्तावयव होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'प्राङ्क् + सु'। अब पुनः 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' वार्तिक से ककार के स्थान पर वैकल्पिक द्वितीय वर्ण-खकार करने पर 'प्राङ् ख् सु' रूप बनता है। 'कुक्' के अभाव में 'प्राङ् सु' रूप ही रहेगा। इस अवस्था में तीनों पक्षों में '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार करने पर

---

१. ध्यान रहे कि 'प्रअच्' शब्द 'प्र' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से '३०१—ऋत्विग्दधृक्०' सूत्र द्वारा 'क्विन्' प्रत्यय करने से बना है।

'प्राङ्क्षु', 'प्राङ्ख्पु' और 'प्राङ्पु'—ये तीन रूप बनते हैं। प्राङ्क्षु' में क और प के संयोग से 'क्ष' होकर 'प्राङ्क्षु' रूप बनता है। इस प्रकार 'प्राङ्ख्पु', प्राङ्पु' और 'प्राङ्क्षु'—ये तीनों रूप सिद्ध होते है।

५८. प्राचः

यह 'प्र अच्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'प्र अच् + अस्' ('शस्' 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक अंश का लोप करने पर)। यहाँ 'अच्' लुप्त नकार 'अञ्चु' है और '१६५—यचि भम्' से इसकी भी संज्ञा भी है। अतः '३३५—अचः' सूत्र से इसके अकार का लोप होकर 'प्र च् + अस्' रूप बनेगा। तब लुप्ताकारनकार 'अञ्चु' धातु 'च्' के परे होने के कारण '३३६—चौ' सूत्र द्वारा पूर्व अण्-रकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार करने पर 'प्र् आ च् अस्' = 'प्राचस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५—ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार और पुनः '९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'प्राचः' रूप सिद्ध होता है।

५९. भवान्

यह 'भवत्' (आप) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'भवत् + स्' (सु)। इसकी सम्पूर्ण साधन-प्रक्रिया 'धीमान्' (४६) के ही समान है।

६०. भृज्जौ

यह 'भृस्ज्' (भड़भूजा) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूल रूप है—'भृस्ज् + औ'। इस स्थिति में '१९—झलां जश् झशि' और '६२—स्तोः श्चुना श्चुः'—ये दोनों सूत्र प्राप्त होते है, किन्तु जश्त्व (८।४।५३) के असिद्ध होने के कारण प्रथम '६२—स्तोः०' (८।४।४०) सूत्र से जकार के योग में सकार को शकार होकर 'भृ श् ज् + औ' रूप बनेगा। तब झश् जकार परे होने से '१९—झलां०' सूत्र द्वारा तालुस्थानिक शकार के स्थान पर तादृश जकार करने पर 'भृज् ज् औ' = 'भृज्जौ' रूप सिद्ध होता है।

६१. भृट् (भृड्)

यह 'भृस्ज्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'भृस्ज् + स्' (सु)। यहाँ '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'भृस्ज्' रूप बनेगा। तब पदान्त बन जाने पर '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से अन्त्य जकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु पदान्त में संयोग होने के कारण '३०९—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' सूत्र द्वारा 'स्ज्' के आदि सकार का लोप होकर 'भृज्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३०७—व्रश्चभ्रस्ज०'सूत्र से जकार के स्थान पर षकार होकर 'भृष्' रूप बनेगा। यहाँ पदान्त में होने से '६७—झलां जशोऽन्ते' द्वारा झल्-षकार को स्थानकृत सादृश्य से

जश् ङकार होकर 'भृड्' रूप सिद्ध होता है। पुनः अवसान में होने के कारण '१४६—वाऽवसाने' से डकार के स्थान पर वैकल्पिक चर्-टकार करने पर दूसरा रूप 'भृट्' सिद्ध होगा।

६२. मघवान्

यह 'मघवत्' (इन्द्र) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'मघवत्+स्' (सु)। यहाँ सर्वनाम स्थान 'सु' परे होने के कारण '२८९—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से उगित्[1] 'मघवत्' को नुम् आगम होगा। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने से '२४०—मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा द्वारा यह 'मघवत्' के अन्त्य अच्—वकारोत्तरवर्ती अकार के आगे आकर उसी का अन्तावयव होगा और रूप बनेगा—'मघवन्त्+स्। तब '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप होकर 'मघवन् त्' रूप बनता है। पुनः पदान्त बन जाने पर '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद 'मघवन्त्' के अन्त्य तकार का लोप करने पर 'मघवन्' रूप बनेगा। यहाँ प्रत्ययलक्षण द्वारा 'सु' को मानकर '१७७—सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' द्वारा उपधा-वकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार होकर 'मघव् आ न्' = 'मघवान्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि '१८०—न लोपः०' (८।२।७) की दृष्टि में संयोगान्त लोप (८।२।२३) असिद्ध है, अतः नकार का लोप नहीं होगा।

६३. मघोनः

यह 'मघवत्' (इन्द्र) शब्द के द्वितीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'मघवन्+अस्' ('शस्', 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक अंश का लोप करने पर)। इस स्थिति में तद्धित-भिन्न 'अस्' प्रत्यय परे होने के कारण '२९०—श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से भसंज्ञक अङ्ग 'मघवन्'[2] को सम्प्रसारण होता है। अतः '२५६—इग्यणः सम्प्रसारणम्' परिभाषा से वकार के स्थान पर उकार सम्प्रसारण होकर 'मघ उ अन्+अस्' रूप बनेगा। पुनः '२५८—सम्प्रसारणाच्च' द्वारा उकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप उकार करने पर 'मघ उ न्+अस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२७—आद् गुणः' से घकारोत्तरवर्ती अकार और उकार के स्थान पर गुण ओकार एकादेश होकर 'मघ् ओ न् अस्' = 'मघोनस्' रूप बनेगा। अब '१०—ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३—खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'मघोनः' रूप सिद्ध होता है।

---

१. स्मरण रखना चाहिये कि 'मघवत्' शब्द 'मघवतृ' का ही रूप है। उक्-ऋकार की इत्संज्ञा होने के कारण उनका लोप होकर 'मघवत्' रूप बनता है। इसी से यह उगित् है।

२. यहाँ '१६५—यचि भम्' सूत्र से भसंज्ञा होती है।

६४. मत्

यह 'अस्मद्' (मैं) शब्द के पञ्चमी के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'अस्मद्+ङसि'। इसकी साधन-प्रक्रिया 'त्वत्' (४१) के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ मपर्यन्तभाग 'अस्म्' के स्थान 'म' आदेश होता है।

६५. मम

यह 'अस्मद्' शब्द के षष्ठी के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'अस्मद्+ङस्'। इसकी प्रयोग-सिद्धि भी 'तव' (३६) के समान है। अन्तर केवल यही है कि यहाँ मपर्यन्त भाग 'अस्म्' के स्थान 'म' आदेश होगा।

६६. मया

यह 'अस्मद' शब्द के तृतीया के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'अस्मद्+आ' (टा)। इसकी भी प्रयोग-सिद्धि 'त्वया' (४३) के समान है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ 'अस्म्' के स्थान पर 'म' आदेश होता है।

६७. महान्

यह 'महत्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'महत्+स्' (सु)। इसकी भी साधन-प्रक्रिया 'मघवान्' (६२) के समान है। अन्तर केवल एक वात का है, पूर्ववत् प्रक्रिया से 'महन्' रूप वन जाने पर '३४२—सान्तमहतः संयोगस्य' द्वारा उपधा-हकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार करने पर 'मह् आन्' = 'महान्' रूप सिद्ध होता है।

६८. मह्यम्

यह 'अस्मद्' शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'अस्मद्+ङे'। इसकी प्रयोग-सिद्धि 'तुभ्यम्' (३९) के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ मपर्यन्तभाग 'अस्म्' के स्थान पर 'मह्य' आदेश होगा।

६९. माम्

यह 'अस्मद्' शब्द के द्वितीया के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'अस्मद्+अम्'। यहाँ एकत्व कथन होने के कारण '३१७—त्वमावेकवचने' से 'अस्मद्' के मपर्यन्त-भाग 'अस्म्' के स्थान पर 'म' आदेश होता है और रूप वनता है—'म अद्+अम्'। शेप प्रक्रिया 'त्वाम्' (४४) के समान ही है।

७०. यज्वनः

यह 'यज्वन्' (जो विधिपूर्वक यज्ञ कर चुका हो) शब्द के द्वितीया के वहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'यज्वन्+अस्' ('शस्' 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक अंश का लोप करने पर)। यहाँ '१६५—यचि भम्' सूत्र द्वारा 'यज्वन्' की भसंज्ञा होने पर '२४७—अल्लोपोऽनः' से 'अन्' के

अकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु वकारान्त संयोग से परे होने के कारण '२८३–न संयोगाद् वमन्तात्' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब 'यज्वन्+अस्' = 'यज्वनस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'यज्वनः' रूप सिद्ध होता है।

७१. युङ्

यह 'युज्' (योगी) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूल रूप है–'युज्+स्' (सु)। इस स्थिति में सर्वनामस्थान 'सु' परे होने से '३०५–युजेरसमासे' द्वारा 'युज्' को 'नुम्' आगम होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह 'युज्' के अन्त्य अच् (व्यपदेशिवद्भाव से) यकारोत्तरवर्ती उकार के आगे आकर उसका अन्तावयव होगा और रूप बनेगा—'यु न् ज्+स्'। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' द्वारा अपृक्त सकार का लोप होकर 'यु न् ज्' रूप बनता है। तब 'युन् ज्' के पद बन जाने पर संयोगान्त पद होने से '२०–संयोगान्तस्य लोपः' द्वारा उसके अन्त्य जकार का लोप होकर 'युन्' रूप बनेगा। तब '३०४–क्विन् प्रत्ययस्य कुः' [1] सूत्र से अन्त्य नकार के स्थान पर कवर्ग-ङकार आदेश करने पर 'युङ्' रूप सिद्ध होता है।

७२. युञ्जौ

यह 'युज्' शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'युज्+औ'। यहाँ भी सर्वनामस्थान 'औ' ('औ' तथा औट्') परे होने के कारण पूर्ववत् (७१) 'नुम्' आगम होकर 'यु न् ज्+औ' रूप बनेगा। तब अपदान्त होने से पहले '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' द्वारा नकार को अनुस्वार करने पर 'युंज्+औ' रूप बनता है। पुनः यय् जकार परे होने के कारण '७९–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण ञकार आदेश करने पर 'यु ञ् ज् औ' = 'युञ्जौ' रूप सिद्ध होता है।

७३. युवयोः

यह 'युष्मद्' (तू) शब्द के षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन का रूप है। मूल रूप है—'युष्मद्+ओस्'। यहाँ द्वित्वकथन होने से '३१४–युवावौ द्विवचने' सूत्र द्वारा 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' के स्थान पर 'युव' सर्वादेश करने पर 'युव अद्+ओस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया 'आवयोः' (१९) के समान ही है।

७४. युवाम्

यह 'युष्मद्' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूल रूप

१. ध्यान रहे कि 'युज्' में '३०१–ऋत्विग्दधृक्०' सूत्र से क्विन् प्रत्यय हुआ है।

है—'युष्मद्+औ'। इसकी प्रयोग-सिद्धि 'आवाम्' (२१) के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ मपर्यन्तभाग 'युष्म्' के स्थान पर 'युव' आदेश होगा।

७५. युष्मत्

यह 'युष्मद्' शब्द के पञ्चमी के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'युष्मद्+भ्यस्'। इसकी सम्पूर्ण साधन-प्रक्रिया 'अस्मत्' (१३) के ही समान है।

७६. युष्मभ्यम्

यह 'युष्मद्' शब्द के चतुर्थी के वहुवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'युष्मद्+भ्यस्'। इसकी भी प्रयोग-सिद्धि 'अस्मभ्यम्' (१४) के समान है।

७७. युष्माकम्

यह 'युष्मद्' शब्द के षष्ठी के वहुवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'युष्मद्+आम्'। इसकी भी सम्पूर्ण साधन-प्रक्रिया 'अस्माकम्' (१५) के समान ही है।

७८. युष्मान्

यह 'युष्मद्' शब्द के द्वितीया के वहुवचन का रूप है। मूल रूप है—'युष्मद्+शस्'। इसकी भी प्रयोग-सिद्धि 'अस्मान्' (१६) के ही समान है।

७९. यूनः

यह 'युवन्' (युवा) शब्द के द्वितीया के वहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'युवन्+अस्' ('शस्' 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक भाग का लोप करने पर)। इस स्थिति में 'मघोनः' (६३) की भाँति सम्प्रसारण-क्रिया करने पर 'यु उ न्+अस्' रूप बनेगा। तब '४२—अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से यकारोत्तरवर्ती उकार और उकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार करने पर 'य् ऊ न+अस्' = 'यून्+अस्' रूप वनता है। यहाँ '२९०—श्वयुव०' सूत्र से पुनः यकार को भी इकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है, किन्तु सम्प्रसारण परे होने के कारण '२९१—न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब 'यून्+अस्' = 'यूनस्' रूप वनने पर पूर्ववत् रुत्व विसर्ग होकर 'यूनः' रूप सिद्ध होगा।

८०. यूयम्

यह 'युष्मद्' शब्द के प्रथमा के वहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'युष्मद्+जस्'। यहाँ प्रथमा विभक्ति परे होने से '३११—ङे प्रथमयोरम्' द्वारा 'जस्' के स्थान पर 'अम्' सर्वादेश होकर 'युष्मद्+अम्' रूप बनेगा। तब प्रत्ययलक्षण से 'अम्' को 'जस्' मानने पर उस के परे होने के कारण '३१६—यूयवयौ जसि' सूत्र से 'युष्मद्' के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' के स्थान पर 'यूय' आदेश करने पर 'यूय अद्+अम्' रूप वनता है। अव '३१३—शेषे लोपः' से टिलोप पक्ष में 'अद्' का लोप होकर 'यूय अम्' रूप

बनेगा। इस अवस्था में '२७४–अतो गुणे' द्वारा यकारोत्तरवर्ती अकार से गुण अकार परे होने से पूर्व पर के स्थान पर पररूप अकार आदेश होकर 'यूय् अम्' = 'यूयम्' रूप सिद्ध होता है। अन्त्य लोप पक्ष में पहले '२७४-अतो गुणे' से पररूप होकर 'यूयद्+अम्' रूप बनेगा। तब दकार लोप और पुनः पररूप होकर 'यूयम्' रूप सिद्ध होता है।[1]

८१. राजभ्याम्

यह 'राजन्' (राजा) शब्द के तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'राजन्+भ्याम्'। यहाँ हलादि प्रत्यय 'भ्याम्' परे होने से '१६४–स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' द्वारा राजन्' की पद संज्ञा होती है। ततः '१८०–न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से 'राजन्' के अन्त्य नकार का लोप होकर 'राज+भ्याम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१४१–सुपि च' से यञादि सुप् 'भ्याम्' परे होने के कारण अदन्त अङ्ग 'राज' को दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु सुप् विधि होने से '२८२–न लोपः सुप्स्वर०' सूत्र द्वारा उसका बाध हो जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में नकार लोप होता ही नहीं। अतः 'राज+भ्याम्' = 'राजभ्याम्' रूप ही रहता है।

८२. राज्ञः

यह 'राजन्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'राजन्+अस्' ('शस्' 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक अंश का लोप करने पर)। यहाँ स्वरादि विभक्ति 'अस्' परे होने से '१६५–यचि भम्' द्वारा 'राजन्' की भसंज्ञा होती है। अतः '२४७–अल्लोपोऽनः' से भसञ्ज्ञक 'अन्' के अकार का लोप होकर 'राज्न्+अस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में चवर्ग जकार के योग में होने के कारण '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से नकार को तादृश चवर्ग ञकार करने पर 'राज् ञ्+अस्' रूप बनता है। तब जकार और ञकार के योग से ज्ञकार होने पर 'राज्ञ् अस्' = 'राज्ञस्' रूप बनेगा। यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार और पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' द्वारा रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'राज्ञः' रूप सिद्ध होता है।

८३. राज्ञि (राजनि)

यह 'राजन्' शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'राजन्+इ' (ङि)। यहाँ पूर्ववत् स्वरादि प्रत्यय 'इ' परे होने के कारण भसंज्ञा होने पर '२४८–विभाषा ङिश्योः' द्वारा विकल्प से 'अन्' के अकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'राज्न्+इ'। इस स्थिति में जकार के योग में होने से नकार को पूर्ववत्

---

१. ध्यान रहे कि '३१३–शेषे लोपः' के दो अर्थ होते हैं। अतः रूप-सिद्धि में दोनों पक्षों का प्रयोग किया गया है। विशेष विवरण के लिए उक्त सूत्र की व्याख्या देखिये

नकार करने पर 'राजञ्+इ' = राज्ञ्+इ' = 'राज्ञि' रूप सिद्ध होता है।[१] लोपाभाव पक्ष में 'राजन्+इ' = 'राजनि' रूप बनता है।

८४. राट् (राड्)

यह 'राज्' (दीप्तीमान्, राजा) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका आदि रूप है—'राज्+स्' (सु)। इस स्थिति में पहले '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'राज्' रूप बनेगा। तब पदान्त में होने के कारण '३०७–व्रश्च-भ्रस्ज०' सूत्र से जकार के स्थान पर षकार होकर 'राष्' रूप बनता है। यहाँ झल् षकार के पदान्त होने से '६७–झलां जशोऽन्ते' द्वारा उसके स्थान पर मूर्धास्थान साम्य से जश् डकार आदेश होकर 'राड्' रूप सिद्ध होता है। पुनः डकार के अवसान में होने के कारण '१४६–वाऽवसाने' से उसके स्थान पर वैकल्पिक चर्-टकार करने से द्वितीय रूप 'राट्' सिद्ध होगा।

८५. लिट् (लिड्)

यह 'लिह्' (चाटने वाला) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूल रूप है—'लिह्+स्' (सु)। यहाँ पूर्ववत् (८४) अपृक्त सकार का लोप करने पर 'लिह्, रूप बनता है। इस स्थिति में '१९०–प्रत्ययलोपे०' सूत्र की सहायता से '१४–सुप्तिङन्तं पदम्' द्वारा 'लिह्' की पदसंज्ञा से '२५१–हो ढः' द्वारा उसके अन्त्य हकार के स्थान पर ढकार करने से 'लिढ्' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् जश्त्व-डकार और वैकल्पिक चर्त्व-टकार करने पर 'लिड्' और 'लिट्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

८६. वयम्

यह 'अस्मद्' (मैं) शब्द के प्रथमा के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'अस्मद्+जस्'। इसकी प्रयोग-सिद्धि 'यूयम्' (८०) के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ मपर्यन्तभाग 'अस्म्' के स्थान पर 'वय' आदेश होगा।

८७. विट् (विड्)

यह 'विश्' (बनिया, प्रजा) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है 'विश्+स्' (सु)। इसकी सम्पूर्ण साधन-प्रकिया 'राट्' (८४) के ही समान है।

८८. विदुषः

यह 'विद्वस्' (विद्वान्) शब्द के द्वतीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है–'विद्वस्'+अस्' ('शस्' 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक भाग का लोप करने पर)। यहाँ 'विद्वस्' शब्द वसुप्रत्ययान्त[२] है और स्वरादि

१. इसकी विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वपद (८२) की रूप सिद्धि देखिये।

२. ध्यान रहे कि 'विदेः शतुर्वसुः' (७।१।३६) सूत्र से शतृ प्रत्यय को 'वसु' आदेश हुआ है।

'अस्' प्रत्यय परे होने के कारण '१६५–यचि भम्' सूत्र से भसंज्ञक भी है। अतः '३५३–वसोः सम्प्रसारणम्' द्वारा उसको सम्प्रसारण आदेश होता है। तब '२५६–इग्यणः सम्प्रसारणम्' परिभाषा से द्वितीय वकार[1] के स्थान पर उकार सम्प्रसारण होकर 'विद् उ अस्+अस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२५८–सम्प्रसारणाच्च' द्वारा उकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप उकार आदेश करने पर 'विद् उ स्+अस्' रूप बनता है। अब पुनः आदिवर्ती वकार के स्थान पर उकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है, किन्तु सम्प्रसारण परे होने के कारण '२९१–न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब 'विद् उ स्+अस्'='विदुसस्' रूप बनने पर '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' द्वारा रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'विदुसः' रूप बनेगा। यहाँ इण् उकार से परे होने से '१५०–आदेशप्रत्यययोः' द्वारा 'वसु' प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'विदुषः' रूप सिद्ध होता है।

८९. विद्वान्

यह 'विद्वस्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'विद्वस्+स्' (सु)। यहाँ 'विद्वस्' शब्द वसुप्रत्ययान्त है। 'वसु' प्रत्यय के उकार के इत्संज्ञक होने के कारण यह उगित् है। अतः सर्वनामस्थान 'सु' परे होने से '२८९–उगिदचाम्०' सूत्र द्वारा इसको 'नुम्' आगम होता। शेष प्रक्रिया 'महान्' (६७) के समान ही है।

९०. विश्वाराट् (विश्वाराड्)

यह 'विश्वराज्' (संसार का स्वामी, परमात्मा) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'विश्वराज्+स्' (सु)। यहाँ 'राट्' (८४) के समान ही 'विश्वराट्' और 'विश्वराड्—ये दो रूप बनते हैं। इस अवस्था में 'राट्' (राड्) परे होने के कारण '३०८–विश्वस्य वसुराटोः' द्वारा 'विश्व' के अन्त्य अकार के स्थान पर दीर्घ आकार करने पर 'विश्व् आ राट्'='विश्वाराट्' और 'विश्व् आ राड्'= 'विश्वाराड्' रूप सिद्ध होते हैं।

९१. विश्वौहः

यह 'विश्ववाह्' (विश्ववाहक, परमात्मा) शब्द के द्वितीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'विश्ववाह्+अस्' ('शस्' 'ङसि' तथा तथा 'ङस्' के इत्संज्ञक अंश का लोप करने पर)। यहाँ '१६५–यचि भम्' सूत्र से 'वाह्' की भसंज्ञा है, अतः '२५७–वाह ऊठ्' द्वारा इसके वकार के स्थान पर 'ऊठ्' आदेश होता है। 'ऊठ्' में '१–हलन्त्यम्' से टकार की इत्संज्ञा और

१. ध्यान रहे कि '२९१–न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' के फलितार्थानुसार पूर्ववर्ती वकार को प्रथम सम्प्रसारण नहीं होगा। विशेष स्पष्टीकरण के लिए उक्त सूत्र की व्याख्या देखिये।

'३–तस्य लोपः' से लोप करने पर 'विश्व ऊ आह्+अस्' रूप बनेगा। तब '२५८–सम्प्रसारणाच्च' द्वारा सम्प्रसारण 'ऊ' से 'अच्-आकार परे होने के कारण पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप ऊकार आदेश होकर 'विश्व ऊ ह्+अस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३४–एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र से वकारोत्तरवर्ती अकार और ऊठ् के ऊकार के स्थान पर वृद्धि औकार करने पर 'विश्व् औ ह्+अस्'='विश्वौहस्' रूप बनेगा। अब '१०५–ससजुषो रुः' द्वारा पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'विश्वौहः' रूप सिद्ध होता है।

९२. वृत्रघ्नः

यह 'वृत्रहन्' (इन्द्र) शब्द के द्वितीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'वृत्रहन्+अस्' ('शस्' 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक भाग का लोप करने पर)। यहाँ 'राज्ञः' (८२) की भाँति अकार लोप होकर 'वृत्रह्न्+अस्' रूप बनने पर नकार परे होने के कारण '२८७–हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' सूत्र द्वारा 'हन्' धातु के हकार को स्थानकृत सादृश्य (संवाद, नाद, अघोष और महाप्राण) से कवर्ग घकार होकर 'वृत्रघ्न् अस्'='वृत्रघ्नस्' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् (८२) रुत्व विसर्ग करने पर 'वृत्रघ्नः' सिद्ध होता है।

९३. वृत्रहणौ

यह 'वृत्रहन्' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूलरूप है—'वृत्रहन्+औ'। यहाँ सर्वनामस्थान 'औ' ['औ' तथा 'औट्'] परे होने से '१७७–सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' द्वारा नान्त उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु हन् शब्दान्त होने के कारण '२८४–इन्हन्०' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब पूर्वपद 'वृत्र' में रकार होने के कारण '२८६–एकाजुत्तरपदे णः' सूत्र से उससे पर एकाच् 'हन्' के नकार को णकार करने पर 'वृत्रहण् औ'='वृत्रहणौ' रूप सिद्ध होता है

विशेष—ध्यान रहे कि समास में एकपद (अखंड पद) न होने के कारण '१३८–अट्कुप्वाङ्०' से णत्व प्राप्त नहीं होता।

९४. वृत्रहा

यह 'वृत्रहन्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'वृत्रहन्+स्' (सु)। यहाँ पूर्ववत् (९३) उपधादीर्घ प्राप्त होनेपर '२८४-इन्हन्०' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तव हन्नन्त होने के कारण '२८५–सौ च' से पुनः उपधा-हकारोत्तरवर्ती अकार-को दीर्घ आकार होकर 'वृत्र ह आन्+स्='वृत्रहान्+स्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप करने पर 'वृत्रहान्' रूप बनेगा। यहाँ पदान्त होने के कारण '१८०–नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से अन्त्य नकार का लोप होकर 'वृत्रहा' रूप सिद्ध होता है।

९५. वेधाः

यह 'वेधस्' (ब्रह्मा) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'वेधस्+स्' (सु)। इस स्थिति में धातु भिन्न-असन्त होने के कारण '३४३–अत्व सन्तस्य चाधातोः' सूत्र से 'वेधस्' की उपधा धकारोत्तरवर्ती अकारको दीर्घ करने पर 'वेध् आ स्+स्' = 'वेधास्+स्' रूप बनेगा। तब '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप होने पर 'वेधास्' रूप बनता है। यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'वेधाः' रूप सिद्ध होता है।

९६. सुद्युभ्याम्

यह 'सुदिव्' (सुन्दर आकाश वाला दिन) शब्द के तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी क द्विवचन का रुप है। इसका मूलरूप है—'सुदिव्+भ्याम्'। यहाँ हलादि विभक्ति 'भ्याम्' परे होनें के कारण '१६४–स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से 'दिव्' की पदसंज्ञा है। अतः 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' वार्तिक की सहायता से '२६५–दिव उत्' सत्र द्वारा 'सुदिव्' के अन्त्य वकार के स्थान पर उकार होकर 'सुदि उ+भ्याम्' रूप बनेगा। तव '१५–इको यणचि' से इकार के स्थान पर यण्-यकार करने पर 'सुद् य् उ भ्याम्' = 'सुद्युभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

९७. सुद्यौः

यह 'सुदिव्' शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'सुदिव्+स्' (सु)। यहाँ 'सु' परे होने के कारण पूर्ववत् अङ्गाधिकार की सहायता से '२६४–दिव् औत्' सूत्र द्वारा 'सुदिव्' के अन्त्य वकार को औकार होकर 'सुदि औ स्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५–इको यणचि' से इकार के स्थान पर यकार करने पर 'सुद् य् औ स्' = 'सुद्यौस्' रूप बनेगा। तब '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '९३–खरवसानयोः०' द्वारा रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'सुद्यौः' रूप सिद्ध होता है।

९८. सुपदः

यह 'सुपाद्' (सुन्दर पैरों वाला) शब्द के द्वितीया के बहुवचन और पञ्चमी तथा षष्ठी के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'सुपाद्+अस्' ('शस्', 'ङसि' और 'ङस्' के इत्संज्ञक अंश को लोप करने पर)। यहाँ स्वरादि 'अस्' प्रत्यय परे होने से '१६५–यचि भम्' के अनुसार 'सुपाद्' की भसंज्ञा है। अतः '३३३–पादः पत्' सूत्र से इसके अवयव 'पाद्' के स्थान पर 'पद्' सर्वादेश होकर 'सुपद्+अस्' = 'सुपदस्' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् (९७) रुत्व-विसर्ग करने पर 'सुपदः' रूप सिद्ध होता है।

९९. सम्यङ्

यह 'सम् अच्' (ठीक चलने वाला) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है।

मूलरूप है—'सम् अच्+स्' (सु)। इस अवस्था में वप्रत्ययान्त[1] 'अञ्चु' धातु परे होने के कारण '३३८–समः समि' सूत्र से 'सम्' के स्थान पर 'समि' सर्वादेश होकर 'समि अच् स्' रूप बनता है। तब 'प्राङ्' (५६) के समान 'समि अङ्' रूप बनेगा। यहाँ '१५–इको यणचि' से इकार के स्थान पर यण् यकार करने पर 'सम् य् अ ङ्= 'सम्यङ्' रूप सिद्ध होता है।

१००. सुयुक् (सुयुग्)

यह 'सुयुज्' (अच्छा योगी) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'सुयुज्+स्' (सु)। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'सुयुज्' रूप बनेगा। तब पदान्त बन जाने पर '३०६–चोः कुः' द्वारा अन्त्य जकार को कवर्ग-गकार करने पर 'सुयुग्' रूप सिद्ध होता है। पुनः गकार के अवसान में होने के कारण '१४६–वाऽवसाने' से उसके स्थान पर वैकल्पिक चर्–ककार होकर द्वितीय रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि यहाँ समास में होने से '३०५–युजेरसमासे' द्वारा 'युज्' को नुम् आगम नहीं होता।

१०१. स्नुक् (स्नुग्, स्नुट्, स्नुड्)

यह 'ष्णुह्' (वमनकारी) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'ष्णुह्+स्' (सु)। यहाँ '२५५–धात्वादेः षः सः' सूत्र से 'ष्णुह्' धातु के मूर्धन्य षकार को दन्त्य सकार करने पर 'स्णुह्' रूप बनेगा। तब षकार के हट जाने पर 'निमित्तापये नैमित्तिकस्याप्यपायः' न्यायानुसार णकार भी अपने पूर्वरूप नकार में आ जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'स्नुह्+स्'। शेष प्रक्रिया 'ध्रुक्' (४८) के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ '२५३–एकाचो बशः०' से धकारादि भष् आदेश नहीं होता।

१०२. स्यः

यह 'त्यद्' (वह) शब्द के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'त्यद्+स्' (सु)। यहाँ पहले '१९३–त्यादादीनामः' सूत्र से अन्त्य दकार को अकार होकर 'त्य अ+स्' रूप बनेगा। तब यकारोत्तरवर्ती अकार और द्वितीय अकार के स्थान पर '२७४–अतो गुणे' द्वारा पररूप अकार एकादेश करने पर 'त्य् अ+स्' = 'त्य+स्' रूप बनता है। इस अवस्था में '३१०–तदोः सः सावनन्त्ययोः' से अनन्त्य तकार के स्थान पर सकार होकर 'स् य+स्' = 'स्य स्' रूप बनेगा। यहाँ '१०५–ससजुषो रुः' से पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः '१९३–खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग करने पर 'स्यः' रूप सिद्ध होता है।

---

1. 'व' प्रत्यय से 'क्विन्' प्रत्यय का ग्रहण होता है। ध्यान रहे कि 'अच्' में '३०१–ऋत्विग्दधृक्०' सूत्र से 'क्विन्' प्रत्यय हुआ है।

१०३. हे अनड्वन्

यह 'अनडुह्' (बैल) शब्द के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'हे अनडुह्+स्' (सु)। यहाँ सम्बुद्धि 'सु' परे होने के कारण '२६१—अम् सम्बुद्धौ' द्वारा 'अनडुह्' को 'अम्' आगम होता है। 'अम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने से '२४०—मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा द्वारा यह 'अनडुह्' के अन्त्य अच्—डकारोत्तरवर्ती उकार के आगे आकर उसी का अन्तावयव होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'हे अनडु अ ह्+स्'। तब '१५—इको यणचि' से उकार के स्थान पर वकार करने पर 'हे अ न ड् व् अ ह्+स्' = 'हे अनड्वह्+स्' रूप बनता है। इस अवस्था में 'सु' परे होने के कारण '२६०—सावनडुहः' द्वारा पुनः 'अनड्वह्' को 'नुम्' ('उम्' इत्संज्ञक है, अतः नकार ही शेष रहता है) आगम होता है। मित् होने के कारण यह पूर्ववत् अन्त्य अच् वकारोत्तरवर्ती अकार के आगे आवेगा और रूप बनेगा—'हे अनड्वन ह्+स्'। यहाँ पहले '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो जाने पर 'हे अनड्वन्ह्' रूप बनता है। अब पदान्त बन जानेपर '२०—संयोगान्तस्य लोपः' द्वारा संयोगान्त हकार का लोप करने पर 'हे अनडवन्' रूप सिद्ध होगा।

विशेष—ध्यान रहे कि '१०८—न लोपः०' (८।२।७) की दृष्टि में संयोगान्त-लोप (८।२।२३) असिद्ध होने से पदान्त नकार का लोप नहीं होता है।

१०४. हे राजन्

यह 'राजन्' (राजा) शब्द के सम्बोधन के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'हे राजन्+स्' (सु)। इस अवस्था में पहले '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप होकर 'हे राजन्' रूप बनेगा। तब पदान्त बन जाने पर '१०८—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' द्वारा नकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु प्रत्यय लक्षण परिभाषा से सम्बुद्धि मानने पर '२८१—न ङिसम्बुद्ध्योः' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। अतः 'हे राजन्' रूप ही रहेगा।

हलन्तस्त्रीलिङ्ग-प्रकरण

१. अद्भिः

यह 'अप्' (जल) शब्द के तृतीया के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'अप्+भिस्'। यहाँ भकारादि प्रत्यय 'भिस्' परे होने के कारण '२६२—अपो भि' से अन्त्य पकार के स्थान पर तकार होकर 'अत्+भिस्' रूप बनेगा। तब '६७—झलां जशोऽन्ते' से पदान्त तकार को जश्—दकार करने पर 'अद्+भिस्' = 'अद्भिस्' रूप बनता है। इस अवस्था में '१०५—ससजुषो रुः' द्वारा पदान्त सकार को रुत्व-रकार तथा पुनः

'९३–खरवसानयोः०' सूत्र से रकार के स्थान पर विसर्ग करने पर 'अद्भिः' रूप सिद्ध होगा।

२. अमुष्यै

यह 'अदस्' (वह) शब्द के चतुर्थी के एकवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'अदस्+ए' (ङे)। यहाँ '१९३–त्यदादीनामः' से अन्त्य सकार के स्थान पर अकार करने पर 'अद अ+ए' रूप वनेगा। तव '२७४–अतो गुणे' द्वारा पूर्वपर के स्थान पर पररूप अकार एकादेश होकर 'अद् अ+ए'='अद+ए' रूप वनता है। इस अवस्था में अकारान्त वन जाने पर 'अजाद्यतष्टाप्' ४।१।४ से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में टाप् (आ) होकर 'अद् आ+ए'='अदा+ए' रूप वनेगा। अव आवन्त सर्वनाम से परे होने के कारण '२२०–सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' द्वारा 'ङे' को 'स्याट्' आगम और 'अदा' के आकार को ह्रस्व होता है। 'स्याट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'ङे' (ए) का आद्यवयव होगा और रूप वनेगा—'अद् अ+स्या ए'='अद+स्या ए'। इस स्थिति में यकारोत्तरवर्ती आकार और एकार के स्थान पर '३३–वृद्धिरेचि' सूत्र से ऐकार एकादेश करने पर 'अदस्य् ऐ'='अदस्यै' रूप वनता है। यहाँ '३५६–अदसोऽसेर्दादु दो मः' द्वारा दकारोत्तरवर्ती अकार को उकार तथा दकार को मकार होने पर 'अमुस्यै' रूप वनेगा। अव इण् उकार से पर प्रत्ययावयव सकार को '१५०–आदेशप्रत्ययोः' से मूर्धन्य षकार आदेश करने पर 'अमुष्यै'='अमुष्यै' रूप सिद्ध होता है।

३. इयम्

यह 'इदम्' (यह) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'इदम्+स्' (सु)। यहाँ स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '३६१–यः सौ' से 'सु' परे होने के कारण 'इदम्' के दकार को यकार होकर 'इयम्+स्' रूप वनेगा। तव '१७९-हल्ङ्या-ब्भ्यः०' सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप होकर 'इयम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि यहाँ अन्त्य मकार के स्थान पर '१९३–त्यदादीनामः' से अकार नहीं होता, क्योंकि '२७२–इदमो मः' द्वारा उसका निषेध हो जाता है

४. उपानत् (उपानद्)

यह 'उपानह्' (जूता) शब्द के प्रथमा के एकवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'उपानह्+स्' (सु)। इस स्थिति में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप करने पर 'उपानह्' रूप वनेगा। तव पदान्त वन जाने पर '३५९–नहो धः' द्वारा 'नह्' धातु के हकार को धकार होकर 'उपानध्' रूप वनता है। यहाँ '६७–झलां जशोऽन्ते' से झल्-धकार के स्थान पर जश्-दकार करने पर 'उपानद्' रूप सिद्ध होता है। पुनः दकार के अवसान में होने के कारण '१४६–वाऽवसाने' द्वारा उसको चर्-तकार करने पर द्वितीया वैकल्पिक रूप 'उपानत्' सिद्ध होगा।

हलन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण

१. अहोभ्याम्

यह 'अहन्' (दिन) शब्द के तृतीया चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन का रूप है। इसका मूल रूप है—'अहन्+भ्याम्'। यहाँ हलादि विभक्ति 'भ्याम्' परे होने से '१४६-स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' द्वारा 'अहन्' की पद संज्ञा है। अतः '३६३-अहन्' सूत्र से पदान्त नकार के स्थान पर 'रु' आदेश होकर 'अह रु+भ्याम्' रूप बनेगा। तब हश् भकार परे होने के कारण '१०७-हशि च' से 'रु' को उकार होकर 'अह उ+भ्याम्' रूप बनता है। पुनः '२७-आद् गुणः' से हकारोत्तरवर्ती अकार और उकार के स्थान पर ओकार एकादेश करने पर 'अह ओ भ्याम्'='अहोभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

२. तुदन्ती (तुदती)

यह 'तुदत्' (पीड़ा पहुँचाता हुआ) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन का रूप है। मूल रूप है—'तुदत्+औ'। '२३५-नपुंसकाच्च' सूत्र से यहाँ 'औ' ('औ' और 'औट्') के स्थान पर 'शी' आदेश करने पर 'तुदत्'+शी' रूप बनेगा। तब स्थानिवद्भाव से 'शी' में प्रत्ययत्व लाने पर १३६-'लशक्वतद्धिते' द्वारा शकार का लोप होकर 'तुदत्'+ई' रूप बनता है। इस स्थिति में 'शी' (ई) परे होने के कारण '३६५-आच्छीनद्योर्नुम्' से शत्रन्त[1] 'तुदत्' को नुम् आगम होता है। 'नुम्' में उम्' इत्संज्ञक है, अतः '२४०-मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से 'मित्' होने के कारण यह 'तुदत्' के अन्त्य अच् दकारोत्तवर्ती अकार के आगे होगा और रूप बनेगा—'तुदन् त्+ई'='तुदन्ती'। ध्यान रहे कि 'नुम्' आगम विकल्प से होता है। अतः अभाव पक्ष में 'तुदत्+ई'='तुदती' रूप बनता है।

३. ददन्ति (ददति)

यह 'ददत्' (देता हुआ) शब्द के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'ददत्'+अस्' ('जस्' तथा 'शस्')। यहाँ नपुंसकलिङ्ग से परे होने के कारण '२३७-जश्शसोः शिः' से 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'शि' होकर 'ददत्+शि' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् (२) स्थानिवद्भाव से 'शि' में प्रत्ययत्व लाने पर शकार का लोप होकर 'ददत्+इ' रूप बनता है। इस स्थिति में सर्वनाम स्थान 'शि' (इ) परे होने से '२८९-उगिदचाम०' अथवा '२३९-नपुंसकस्य झलचः' सूत्र द्वारा नित्य 'नुम्' आगम प्राप्त होता है, परन्तु '३४४-उभे अभ्यस्तम्' से 'ददत्' की अभ्यस्त संज्ञा होने पर '३४५-नाभ्यस्ताच्छतुः' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। अब 'शतृ' प्रत्ययान्त होने से '३६४-वा नपुंसकस्य' से 'ददत्' को पुनः विकल्प से 'नुम्' (नकार) आगम होता है। शेष प्रक्रिया 'तुदन्ती' (२) के समान है।

---

१. ध्यान रहे कि 'तुद्' से शतृ प्रत्यय होकर 'तुदत्' रूप बनता है।

२. '२३८-शि सर्वनामस्थानम्' से 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है।

४. धनूंषि

यह 'धनुस्' (धनुष्) शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'धनुस्+अस्' ('जस्' तथा 'शस्')। यहाँ 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर पूर्ववत् (३) 'शि' होकर 'धनुस्+शि=धनुस्+इ' रूप बनेगा। तब '२३९–नपुंसकस्य झलचः' द्वारा सर्वनामस्थान 'शि' (इ) परे होने से झलन्त 'धनुस्' को 'नुम्' आगम होकर 'तुदन्ती' (२) के समान 'धनु न् स्+इ' रूप बनता है। इस स्थिति में सान्त संयोग और सर्वनामस्थान पर होने के कारण '३४२–सान्तमहतः संयोगस्य' से नान्त उपधा उकार को दीर्घ ऊकार करने पर 'धन् ऊ न् स्+इ' = 'धनू न् स्+इ' रूप बनेगा। अब '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' सूत्र से झल् सकार परे होने से ऊकारोत्तरवर्ती नकार को अनुस्वार तथा नुम्स्थानिक अनुस्वार के व्यवधान होने पर भी '३५२–नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' से इण्–ऊकार से पर सकार को षत्व होकर 'धनूंष्+इ' = 'धनूंषि' रूप सिद्ध होता है।

५. पचन्ती

यह 'पचत्' (पकाता हुआ) शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। इसका मूलरूप है—'पचत्+औ'। यहाँ 'तुदन्ती' (२) के समान 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश होकर 'पचत्+शी' = 'पचत्+ई' रूप बनता है। इस स्थिति में '४१-अन्तादिवच्च' की सहायता से 'पच' की अङ्ग संज्ञा होती है, उस से पर शतृ–प्रत्यय का अवयव तकार है, अतः '३६६–शप्श्यनोर्नित्यम्' सूत्र से तदन्त 'पचत्' शब्द को नित्य 'नुम्' आगम होता है। इसके आगे की प्रक्रिया 'तुदन्ती' (१) के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ नित्य आगम होने के कारण कोई अन्य वैकल्पिक रूप नहीं बनेगा।

६. स्वनडुत् (स्वनडुद्)

यह 'स्वनडुह्' (अच्छे बैलों वाला कुल व क्षेत्र आदि) शब्द के प्रथमा के एक-वचन का रूप है मूलरूप है–'स्वनडुह+स्' (सु)। इस स्थिति में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से 'सु' के सकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु नपुंसक अङ्ग से परे होने के कारण '२४४–स्वमोर्नपुंसकात्' द्वारा उसका बाध होकर लुक् होगा और रूप बनेगा–'स्वनडुह्'। तब पदान्त बन जाने पर 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' परिभाषा की सहायता से '२६२–वसुस्रंसु०' सूत्र द्वारा हकार को दकार करने पर 'स्वनडुद्' रूप सिद्ध होता है। पुनः दकार के अवसान में होने के कारण '१४६–वाऽवसाने' से उसके स्थान पर चर्-तकार होकर वैकल्पिक रूप 'स्वनडुत्' सिद्ध होता है।

७. स्वनडूांहि

यह 'स्वनडुह' शब्द के प्रथमा तथा द्वितीया के बहुवचन का रूप है। मूलरूप है—'स्वनडुह्+अस्' ('जस्' और 'शस्' के इत्संज्ञक अंश का लोप करने पर)। यहाँ

'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'ददन्ति' (३) की भाँति 'शि' आदेश करने पर 'स्वनडुह्+शि' = 'स्वनडुह्+इ' रूप बनेगा। तब सर्वनामस्थान 'शि' पर '२५६–चतुरनडुहोरामुदात्तः' द्वारा 'स्वनडुह्' को 'आम्' आगम होता है। 'आम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह 'स्वनडुह्' के अन्त्य अच् डकारोत्तरवर्ती उकार के आगे होगा और रूप बनेगा— 'स्वनडु आ ह्+इ'। यहाँ '१५ इको यणचि' से उकार के स्थान में वकार करने पर 'स्वनड् व् आ ह्+इ' = 'स्वनड्वाह्+इ' रूप बनता है। इस अवस्था में '२२९–नपुंसकस्य झलचः' से पुनः नुम् का आगम होगा। मित्[1] होने के कारण यह पूर्ववत् 'स्वनड्वाह्' के अन्त्य अच् वकारोत्तरवर्ती आकार के आगे आवेगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'स्वनड्वान् ह्+इ'। अब यहाँ झल् हकार परे होने से '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' द्वारा आकारोत्तरवर्ती अपदान्त नकार को अनुस्वार होकर 'स्वनड् वांह्+इ' = 'स्वनड्वांहि' रूप सिद्ध होता है।

भ्वादि-प्रकरण

१. अकटत्

यह 'कट्' धातु का लङ्लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है —'कट् लङ्'। यहाँ 'लङ्' परे होने के कारण '४२३–लुङ्०' से अंग 'कट्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ कट् लङ्' रूप बनता है। तब '३७५–तिप्तस्झि०' से 'लङ्' के स्थान में 'तिप्, तस् आदि प्राप्त होने पर '३८१–तिङस्त्रीणि०' और '३८२–तान्येकवचन०' की सहायता से प्रथमपुरुष-एकवचन में परस्मैपद 'तिप्' आदेश होता है। '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'लङ्' के स्थान में होता है—'अकट् तिप्'। इस स्थिति में '१–हलन्त्यम्' से 'तिप्' के पकार की इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है—'अकट् ति'। तब '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अकट्त्' रूप बनता है। यहाँ सार्वधातुक 'तिप्' (त्) परे होने के कारण '३८७–कर्तरि०' से 'शप्' आगम होकर 'अकट् शप् त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१–हलन्त्यम्' से 'शप्' के पकार और '१३६–लशक्वतद्धिते' से शकार की इत् संज्ञा हो जाती है। तब '३–तस्य लोपः' से उनका लोप होकर 'अकट् अत् = 'अकटत्' रूप सिद्ध होता है।

२. अकटिष्यत्

यह 'कट' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'कट् लृङ्'। तब पूर्ववत् 'अट्' आगम आदि होकर 'अकट् त्' रूप

---

१. ध्यान रहे कि 'नुम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः यह मित् है। उकार भी उच्चारणार्थक है। इसलिए केवल नकार ही शेष रह जाता है।

बनता है। यहाँ सार्वधातुक तिप (त्) परे होने से '३८७–कर्तरि०' से 'शप्' प्राप्त होता है, किन्तु '४०३-स्यतासी०' से उसका बाध होकर 'स्य' आगम हो जाता है–'अकट् स्य त्'। इस स्थिति में वलादि आर्धधातुक 'स्य' को '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' (इ) आगम होकर 'अकट् इ स्य त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५०–आदेश-प्रत्यययोः' से इण्-इकार से परे 'स्य' प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'अकट् इ ष् यत्' = 'अकटिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

३. अकटीत्

यह 'कट्' धातु का लुङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कट् लुङ्'। प्रथम पद के समान यहाँ भी 'अट्' आदि होकर 'अकट् त्' रूप बनता है। तब '३८७–कर्तरि०' से शप् प्राप्त होने पर '४३७–च्लि लुङि' से उसका बाध होकर 'च्लि' हो जाता है—'अकट् च्लि त्' यहाँ '४३८–च्लेः' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्'[1] होकर 'अकट् स् त्' रूप बनता है। तब '४०४–आर्धधातुकं०' से 'सिच्' (स्) को आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' (इ) आगम होकर 'अकट् इ स् त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४४५–अस्तिसिचो–०' से सिच् (स्) से परे अपृक्त हल् 'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होकर 'अकट् इ स् ई त्' रूप बनता है। यहाँ परस्मैपद सिच् (इ स् ई त्) परे होने पर '४६५–वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश प्राप्त होता है, किन्तु 'कट्' धातु के एदित् होने से '४६६–ह्म्यन्तक्षण०' से उसका निषेध हो जाता है। तब इट् (इ) परे होने पर '४४६–इट०' से 'इट्' (इ) के बाद सकार का लोप होकर 'अकट् इ ईत्' रूप बनता है। यहाँ '४२–अकः सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से सकार-लोप के असिद्ध होने से उसका बाध हो जाता है। इस स्थिति में 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' वार्तिक से सिच् के सकार का लोप सिद्ध होने पर पुनः सवर्ण दीर्घ होकर 'अकट् ईत्' = 'अकटीत्' रूप सिद्ध होता है।

४. अकमिष्यत

इसके लिए आगामी पद की रूपसिद्धि देखिये।

५. अकामयिष्यत (अकमिष्यत)

यह 'कम्' (कमु) धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। 'कम्' धातु से '५२५–कमेर्णिङ्' से 'णिङ्' प्रत्यय होता है। '४०४–आर्ध-धातुकं०' से 'णिङ्' आर्धधातुक संज्ञक है, अतः '४६९–आयादय०' से यह विकल्प से होता है। इस प्रकार दो रूप बनते हैं—णिङ् होने पर और णिङ् के अभाव में।

(क) णिङ्पक्ष—यहाँ 'कम्' धातु से णिङ् होकर 'कम् इ' रूप बनता है। तब 'णित्' (इ) परे होने से '४५५–अत०' से उपधा-अकार को वृद्धि होकर 'क् आ म् इ' =

---

१. 'सिच्' में इकार और चकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल सकार ही शेष रहता है।

'कामि' रूप बनता है। '४६८–सनाद्यन्ता' से इसकी धातु संज्ञा होने पर लृङ् लकार में 'कामि लृङ्' रूप बनता है। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' आगम और प्रथम पुरुष एकवचन में आत्मनेपद 'त' होकर 'अकामि त' रूप बनेगा। तब दूसरे पद की भाँति 'स्य' आदि होकर 'अकामि इ ष् य त' रूप बनता है। इस स्थिति में आर्धधातुक परे होने से '३८८–सार्वधातुक०' से इगन्त अंग को गुण होकर 'अकाम् ए इ ष् यत्' रूप बनेगा। तब '२२–एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'अकाम् अय् इ ष् य त' = 'अकामयिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

(ख) णिङ्-अभाव पक्ष—यहाँ 'णिङ्' न होने से लृङ् में 'कम् लृङ्' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् 'अकम् इ ष् य त' = 'अकमिष्यत' रूप बनता है। इगन्त अंग न होने से यहाँ गुण आदि नहीं होता है।

६. अकामयत

यह णिङ् परक 'कम्' धातु का लङ्-लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कामि लङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' आदि होकर 'अकामि अ त' रूप बनता है। तब पूर्ववत् गुण और 'अय्' आदेश होकर 'अकाम् अय् अ त् = 'अकामयत' रूप सिद्ध होता है।

७. अक्रमीत्

यह 'क्रम्' (क्रमु) धातुका लुङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लुङ्'। शेष प्रक्रिया तीसरे पद के समान ही है।

८. अक्रमिष्यत्

यह 'क्रम्' धातु का लृङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लृङ्'। शेष प्रक्रिया दूसरे पद के समान है।

९. अक्रामत्

इसके लिए अगले पद की रूप सिद्धि देखिये।

१०. अक्राम्यत् (अक्रामत्)

यह 'क्रम्' (क्रमु) धातु का लङ् लकार में प्रथम पुरुष एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लङ्'। तब प्रथम पद की भाँति 'अट्' आदि होकर 'अक्रम् त्' रूप बनता है इस स्थिति में '३८७–कर्तरि०'से शप् प्राप्त होने पर '४८५–वा भ्राश०' से उसका बाध हो विकल्प से 'श्यन्' (य) होता है—'अक्रम् य त्'। तब '४८६–क्रमः०' से 'क्रम्' के अकार को दीर्घ होकर 'अक्र् आम् यत्' = 'अक्राम्यत्' रूप सिद्ध होता है। 'श्यन्' के अभावपक्ष में शप् (अ) और 'क्रम्' के अकार को दीर्घ होकर 'अ क्र् आ म् अ त्' = 'अक्रामत्' रूप सिद्ध होता है।

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्व पद की रूप-सिद्धि देखिये।

११. अक्षयत्

यह 'क्षि' धातुका लङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अक्षि अत्' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से इगन्त अंग को गुण होकर 'अक्ष् ए अ त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२२–एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' आदेश होकर 'अक्ष् अय् अत्' = 'अक्षयत्' रूप सिद्ध होता है।

१२. अक्षेष्यत्

यह 'क्षि' धातुका लृङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'क्षि लृङ्'। यहाँ दूसरे पद के समान 'अ क्षि स्य त्' रूप बनने पर '४०१–अर्धधातुकस्य०' से 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु 'क्षि' के उपदेशावस्था में एकाच् होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '३८८–सार्वधातुक०' से इगन्त अंग को गुण होकर 'अक्ष् ए स्य त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५०–आदेश०' से 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'अ क्ष् ए ष् य त् = 'अक्षेष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

१३. अक्षैषीत्

यह 'क्षि' धातुका लुङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'क्षि लुङ्'। यहाँ तीसरे पद की भाँति 'अक्षिसत्' रूप बनने पर '४१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४४५–अस्तिसिचो०' से अपृक्त 'त्' को 'ईट्' होकर 'अक्षि स् ई त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४८४–सिचि वृद्धिः०' से इगन्त अंग को वृद्धि होकर 'अक्ष् ऐ स् ई त्' रूप बनता है। तब '१५०–आदेश०' से सकार को षकार होकर 'अक्ष् ऐ ष् ई त्' = 'अक्षैषोत्' रूप सिद्ध होता है।

१४. अगच्छत्

यह 'गम्' (गम्लृ) धातु का लङ् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक-रूप है। मूलरूप है—'गम् लङ्'। यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अगम् अ त्' रूप बनने पर '५०४–इषुगमियमां०' से मकार को छकार होकर 'अगछ अ त्' रूप बनता है। तब '१०१– छे च' से तुक् (त्) होकर 'आगत् छ् अ त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६२–स्तोः श्चुना०' से गकार के उत्तरवर्ती तकार को चकार होकर 'अग च् छ् अ त्' = 'अगच्छत्' रूप सिद्ध होता है।

१५. अगदत्

यह 'गद्' धातुका लङ् लकार में प्रथम पुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गद् लङ्'। शेष प्रक्रिया प्रथमपद के समान ही है।

१६. अगदिष्यत्

यह 'गद्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गद् लृङ्'। शेष प्रक्रिया द्वितीय पद के समान है।

१७. अगदीत्

इसके लिए २० वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

१८. अगमत्

यह 'गम्' (गम्लृ) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लुङ्'। यहाँ तीसरे पद की भाँति 'अगम् च्लि त्' रूप बनने पर '४३८–च्लेः०'से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' प्राप्त होता है। किन्तु 'गम्' धातु के 'लृदित्' होने के कारण '५०७–पुषादि०' से उसका बाध होकर 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' (अ) आदेश होकर 'अ गम् अ त्' = 'अगमत्' रूप सिद्ध होता है।

१९. अगमिष्यत्

यह 'गम्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लृङ्'। यहाँ दूसरे पदकी भाँति 'अगम् स्य त्' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु 'गम्' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '५०६–गमेरिट्०' से पुनः 'इट्' आगम होकर 'अगम् इ स्यत्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५०–आदेश०' से सकार को षकार होकर 'अगम् इ ष् य त्' = 'अगमिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

२०. अगदीत् (अगदीत्)

यह 'गद्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गद् लुङ्'। यहाँ तीसरे पद की भाँति 'अ गद् इ स् ई त्' रूप बनने पर '४५७–अतो हलादेः०' से गकारोत्तरवर्ती लघु अकार को विकल्प से वृद्धि आकार होकर 'अ ग् आ द् इ स् ई त्' रूप बनता है। तब सकार-लोप आदि होकर 'अगादीत्' रूप सिद्ध होता है।[1] वृद्धि के अभाव पक्ष में 'अ ग द् इ स् ईत्' रूप बनने पर पूर्ववत् सकार लोप आदि होकर 'अगदीत्' रूप बनता है।

२१. अगोपायत्

यह 'गुप्' (गुपू) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल धातु 'गुप्' से '४६८–गुपू-धूप०' से 'आय' प्रत्यय होकर 'गुप् आय' रूप बनता है। तब '४५१–पुगन्त०' से लघूपध 'गुप्' को गुण होकर 'ग् ओ प् आय' = 'गोपाय' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४६८–सनाद्यन्ता०' से 'गोपाय' की धातुसंज्ञा

---

१. विस्तृत-प्रक्रिया के लिए तीसरे पद की रूप-सिद्धि देखिये।

होने पर लङ् लकार में 'गोपाय लङ्' रूप बनता है। तब प्रथम पद के समान 'अगोपाय अ त्' रूप बनने पर '२७४—अतो गुणे०' से पररूप एकादश होकर 'अगोपाय् अत्' = 'अगोपायत्' रूप सिद्ध होता है।

२२. अगोपायिष्यत् (अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत्)

यह 'गुप्' (गुपू) धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ आर्धधातुक की विवक्षा में '४९६—आयादय०' से 'गुप्' धातु के बाद विकल्प से 'आय' प्रत्यय होता है, अतः दो रूप बनते हैं—'आय' होने पर और 'आय' न होने पर। दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) 'आय'-पक्ष-यहाँ 'गुप्' धातु से 'आय' आदि होकर 'गोपाय लृङ्' रूप बनता है।[1] इस स्थिति में दूसरे पद के समान 'अ गोपाय इ स्य त्' रूप बनने पर '४७०—अतो लोपः' से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'अ गोपाय् इ स्यत्' रूप बनता है। तब '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अ गोपाय् इ ष् यत्' = 'अगोपायिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) आयाभावपक्ष—मूल रूप है—'गुप् लृङ्'। तब दूसरे पद की भांति 'अ गु प् स्य त्' रूप बनने पर आर्धधातुक 'स्य' परे होने के कारण '४५१—पुगन्त०' से लघूपध-अंग को गुण होकर 'अ ग् ओप् स्यत्' = 'अगोप् स्यत्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४७६—स्वरति-सूति०' से आर्धधातुक 'स्य' को विकल्प से 'इट्' होकर 'अगोप् इ स्य त्' रूप बनेगा। तब '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अगोप् इष् यत्' = 'अगोपिष्यत्' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव में 'अगोप्स्यत्' = 'अगोप्स्यत्' रूप ही रहता है।

२३. अगोपायीत् (अगोपीत्, अगौप्सीत्)

यह 'गुप्' (गुपू) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ आर्धधातुक की विवक्षा में '४६८-आयादय०' से 'गुप्' धातु के बाद विकल्प से 'आय' प्रत्यय होता है। अतः यहाँ भी दो प्रकार से रूप बनते हैं—'आय' होने पर और 'आय' न होने पर दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि पृथक्-पृथक् दी जा रही है।

(क) 'आय' पक्ष—यहाँ 'गुप्' धातु से 'आय' आदि होकर 'गोपाय लुङ्' रूप बनता है[2] तब तीसरे पद की भाँति 'अ गोपाय इ स् ई त्' रूप बनने पर ४७०—अतो लोपः' से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'अ गोपाय् इस् ई त्' रूप बनता है। इस स्थिति में सकार-लोप और सवर्णदीर्घ होकर 'अ गोपायईत्' = 'अगोपायीत्' रूप सिद्ध होता है।[3]

(ख) आयाभाव-पक्ष—मूल रूप है—'गुप् लुङ्'। यहाँ तीसरे पद के समान 'अ गुप्स् त्' रूप बनने पर '४७६—स्वरति-सूति०' से विकल्प से 'इट्' होकर 'अ

१. २. विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वपद (२१) की रूपसिद्धि देखिये।

३. विस्तृत प्रक्रिया के लिए तीसरे पद दी रूप-सिद्धि देखिये।

गुप् इ स् त्' रूप बनता है । इस स्थिति में '४६५—वदव्रज०' से वृद्धि आदेश प्राप्त होता है, किन्तु इडादि सिच् परे होने के कारण '४७७—नेटि' से उसका निषेध हो जाता है । तब '४५१—पुगन्त०' से लघूपध 'गुप्' को गुण होकर 'अग् ओ प् इ स् त्' रूप बनता है । यहाँ 'इट्' और सकार-लोप आदि होकर 'अगोप् ईत्' = 'अगोपीत्' रूप सिद्ध होता है । 'इड्' के अभाव पक्ष में 'अ गुप् स् त्' रूप बनने पर '४४५—'अस्तिसिचो०' से 'ईट्' होकर 'अगुप् स् ईत्' रूप बनता है तब '४६५—वद-व्रज०' से 'गुप्' को वृद्धि आदेश होकर 'अ ग् औ प् स् ईत्' = अगौप्सीत्' रूप सिद्ध होता है ।

२४. अगोपिष्यत्

इसके लिए २२ वें पद की रूपसिद्धि देखिये ।

२५. अगोपीत्

इसके लिए २३ वें पद की रूपसिद्धि देखिये ।

२५. अगोप्स्यत्

इसके लिए २२ वें पद की रूपसिद्धि देखिये ।

२७. अगौप्त

यह 'गुप्' का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है—'गुप् लुङ्' । यहाँ प्रथमपद के समान 'अट्' और मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'थ' होकर 'अ गुप् थ' रूप बनता है । तब '४४१—तस्थस्०' से 'थ' के स्थान में 'त' होकर 'अ गुप् त' रूप बनेगा । इस स्थिति में तीसरे पद की भाँति 'अ गुप् स् थ' रूप बनने पर '४६५—वद-व्रज०' से 'गुप्' को वृद्धि आदेश होकर 'अ गौप् स् त्' रूप बनता है । तब '४७८—झलो झलि' से सकार का लोप होकर 'अगौ प् त' = 'अगौप्त' रूप सिद्ध होता है ।

२८. अगौप्तम्

यह 'गुप्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है । मूल रूप 'गुप् लुङ्' । तब प्रथम पद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुप-द्विवचन की विवक्षा में 'थस्' होकर 'अ गुप् थस्' रूप बनता है । यहाँ '४१४—तस्थस्०' से 'थस्' के स्थान में 'तम्' होकर 'अ गुप् तम' रूप बनेगा । शेष प्रक्रिया २७ वें पद के समान है ।

२९. अगौप्ताम्

यह 'गुप्' धातुका लुङ्' लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है । मूल रूप है—'गुप् लुङ्' । यहाँ प्रथम पद के समान 'अट्' और प्रथमपुरुप-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' होकर 'अगुप् तस्' रूप बनता है । तब '४१४—तस्यस्०' से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' होकर 'अगुप् ताम्' रूप बनेगा । शेप प्रक्रिया २७ वें पद के समान ही है ।

३०. अगौप्सम्

यह 'गुप्' धातुका लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है ।

मूल रूप है–'गुप् लुङ्' । तव प्रथम पद की भाँति 'अट्' और उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'मिप्' होकर 'अ गुप् मिप्' रूप वनता है। यहाँ '४१४–तस्थस्०' से 'मिप्' के स्थान में 'अम्' होकर 'अ गुप् अम्' रूप वनेगा। इस स्थिति में २९ वें पद के समान 'अ गौप् स् अम्' = 'अगौप्सम्' रूप सिद्ध होता है। झल् परे न होने से यहाँ '४९८–झलो झलि' से सकार का लोप नहीं होता है।

३१. अगौप्सीः

यह 'गुप्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है मूल रूप है—'गुप् लुङ्'। यहाँ प्रथम पद के समान 'अट्' और मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' आदि होकर 'अ गुप् स्' रूप बनता है। तव २७ वें पद की भाँति 'अ गौप् स्' रूप वनने पर '४४५–अस्तिसिचो०' से अपृक्त हल् सकार को 'ईट्' होकर 'अगौ प् स्' ई स् रूप वनता है। इस स्थिति में '१०५–ससजुषो रुः' से अन्त्य सकार को रुत्व होकर 'अ गौप् स ई र्' रूप वनेगा। तव '९३–खरवसानयो०' से अन्त्यरकार के स्थान में विसर्ग होकर 'अ गौप् स् ईः' = 'अगौप्सीः' रूप सिद्ध होता है।

३२. अगौप्सीत्

इसके लिए २३ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

३३. अगौप्सुः

यह 'गुप्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गुप् लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और प्रथम पुरुष-वहुवचन की विवक्षा में 'झि' होकर 'अ गुप् झि' रूप वनता है। तव तृतीय पद के समान 'च्लि' आदि होकर 'अगुप् स् झि' रूप वनने पर '४४७–सिजभ्यस्त०' से 'झि' के स्थान में-'जुस्' होकर 'अगुप् स् जुस्' रूप वनता है। इस स्थिति में 'जुस्' के जकार का '१२९–'चुटू' से लोप हो जाता है। और इस प्रकार रूप वनता है– 'अगुप स् उस्'। तव इडाभाव पक्ष में '४६५–वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश होकर 'अगौप्सुस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ३१ वें पद के समान है।

३४. अगौप्स्म

यह 'गुप्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है— 'गुप् लुङ्'। इस स्थिति में प्रथम पद के समान 'अट्' और उत्तमपुरुष वहुवचनकी विवक्षा में 'मस्' आदि होकर 'अ गुप् म' में रूप वनता है। तव २७ वें पद की भाँति 'सिच्' आदि होकर 'अगौप् स् म' = 'अगौप्स्म' रूप सिद्ध होता है। झल् न परे होने से '४७८–झलो झलि' से सकार का लोप नहीं होता।

३५. अगौप्स्व

यह 'गुप्' धातु का लृङ् लकार में उत्तमपुरुप-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'गुप्' लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और उत्तमपुरुप-द्विवचन की

विवक्षा में 'वस' आदि होकर 'अ गुप् व' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया ३४ वें पद के समान ही है।

३६. अग्लायत

यह 'ग्लै' धातु का लङ लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—ग्लै लङ्। इस स्थिति में प्रथम पद की भाँति 'अग्लै अत्' रूप वनने पर '२२–एचो०' से ऐकार के स्थान में 'आय्' होकर 'अ ग्ल् आय् अ त्' = 'अग्लायत्' रूप सिद्ध होता है।

३७. अग्लासीत्

यह 'ग्लै' धातुका लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'ग्लै लुङ्'। यहाँ तृतीय पद के समान 'अ ग्लै स् त्' रूप बनने पर '४९३–आदेच उपदेशे०' से एजन्त धातु ग्लै को आत्व होकर 'अ ग्ल् आ स् त्' = 'अ ग्ला स् त्' रूप वनता है। तव '४९५–यमरमनमातां०' से आकारन्त धातु 'ग्ला' को 'सक्' (स्) और 'सिच्' (स्) को 'इट्' होकर 'अ ग्ला स् इ स् त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'इट्' और सकार लोप आदि होकर 'अग्लासित्' रूप सिद्ध होता है।[1]

३८. अग्लास्यत्

यह 'ग्लै' धातुका लृङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचनका परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है 'ग्लै लृङ्'। तव द्वितीय पद की भाँति 'अ ग्लै स्यत्' रूप वनने पर '४९३–आदेच उपदेशे०' से एजन्त धातु 'ग्लै' को आत्व होकर 'अ ग्ल् आ स्य त्' = 'अग्ला-स्यत्' रूप सिद्ध होता है।

३९. अचकमत

इसके लिए अगले पद की रूप-सिद्धि देखिये।

४०. अचीकमत (अचकमत)

यह 'कम्' (कमु) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। 'कम्' धातु से '५२५--कमेर्णिङ्' से 'णिङ्' प्रत्यय होता है। '४०४-आर्धधातुकं०' से 'णिङ्' आर्धधातुक संज्ञक है। अतः '४६९--आयादय०' से यह विकल्प से होता है। इस प्रकार दो रूप वनते—'णिङ्' होने पर और 'णिङ्' के अभाव में। दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) णिङ्पक्ष–मूलरूप है–'कामि लुङ्'।[2] यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'अ कामि त' रूप वनता है। तव '४३७–च्लि लुङि' से 'च्लि' होकर 'अकामि च्लि त' रूप वनने पर '५३८–णि–श्रि०' से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' (अ) होकर 'अकामि अ त' रूप वनता है। इस स्थिति में '५२९–णेरनिटि' से

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए तीसरे पद की रूप सिद्धि देखिये।

२. पूर्व-प्रक्रिया के लिए ५ वें पद की रूप सिद्धि देखिये।

में '४२८—अतो येयः' से 'यास्' के स्थान में 'इय्' होकर 'अतः इ य् त्' रूप बनता है। तब '२७—आद् गुणः' से गुण होकर 'अत् ए य् त्' = 'अतेय् त्' रूप बनेगा। यहाँ '४३९—लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप होकर 'अतेत्' रूप सिद्ध होता है।

४९. अत्यात्

यह 'अत्' धातुका आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचनका परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'अत् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'अत् ति' रूप बनने पर '४३१—लिङाशिषि' से 'तिप्' (ति) के आर्धधातुक संज्ञक होने से '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' नहीं होता है। तब '४२४—इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अत् त्' रूप बनने पर '४२६—यासुट्०' से 'तिप्' (त्) को (यास्) 'यासुट्' आगम हो 'अत् यास् त्' रूप बनता है। यहाँ 'यास्' सार्वधातुक का अवयव नहीं है। अतः '४२८—अतो येयः' से उसके स्थान में 'इय्' नहीं होता है। तब '३०९—स्कोः संयोगाद्योः०' से सकार का लोप होकर 'अत् यात्' = 'अत्यात्' रूप सिद्ध होता है।

५०. अत्यास्ताम्

यह 'अत्' धातु का अशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अत् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान में 'तस्' होकर 'अत् तस्' रूप बनता है। तब '४१४—तस्थस्०' से 'तस्' के स्थान् में 'ताम्' होकर 'अत् ताम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान ही है। यहाँ झल परे न होने से '३०९—स्कोः संयोगाद्योः०' से सकार का लोप नहीं होता।

५१. अत्रपत

यह 'त्रप्' (त्रपूष्) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लङ्' शेष प्रक्रिया प्रथमपद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ परस्मैपद 'तिप्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' होता है।

५२. अत्रपिष्ट (अत्रप्त)

यह 'त्रप्' (त्रपूष्) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है–'त्रप् लुङ्'। यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अट्' और प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'अ त्रप्त' रूप बनता है। तब तीसरे पद के समान 'अ त्रप् स्त' रूप बनने पर '४७६—स्वरति-सूति०' से विकल्प से 'इट्' होकर अत्रप् इ स् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'अत्रप् इ ष् त' रूप बनता है। यहाँ '६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान में टकार होकर 'अत्रप् इप् ट् अ' = 'अत्रपिष्ट' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव पक्ष में 'अ त्रप् स्त' रूप बनने पर '४७८—झलो झलि' से सकार का लोप होकर 'अ त्रप् त' = 'अत्रप्त' रूप सिद्ध होता है।

५३. अत्रपिष्यत (अत्रप्स्यत)

यह 'त्रप्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'त्रप् लृङ्'। यहाँ ५२ वें पद के समान 'अ त्रप् त' रूप वनता है। तब दूसरे पद के समान 'अत्रप् स्यत' रूप वनने पर '४७६-स्वरति-सूति०' से विकल्प से 'इट्' होकर 'अ त्रप् इस्यत' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य पकार होकर 'अ त्रप् इ ष् य त' = ,अत्रपिष्यत' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभावपक्ष में 'अत्रप् स्यत' = 'अत्रप्स्यत' रूप ही रहता है।

५४. अत्रप्त

इसके लिए ५२ वें पद की रूपसिद्धि देखिये।

५५. अत्रप्स्यत

इसके लिए ५३ वें पद की रूपसिद्धि देखिये।

५६. अदद्त

यह 'दद्' (दद) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लङ्'। शेप प्रक्रिया ५१ वें पद के समान है।

५७. अददिष्ट

यह 'दद्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचनका आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लुङ्'। यहाँ ५२ वें पद की भाँति 'अ दद् स् त' रूप वनने पर '४०१–अर्धधातुकस्य०' से 'इट्' आगम होकर 'अदद् इ स् त' रूप बनता है। तब '१५०—आदेश प्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अदद् इ ष् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६४-ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान में टकार होकर 'अदद् इ ष् ट्अ' = 'अददिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

५८. अददिष्यत

यह 'दद्' धातुका लृङ् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचनका आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लृङ्'। यहाँ ५२ वें पद की भाँति 'अदद्त' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया दूसरे पद के समान ही है।

५९. अद्युतत्

यह 'द्युत्' (द्युत) धातु के लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'द्युत् लुङ्'। यहाँ तीसरे पद के समान 'अद्युत् च्लि त्' रूप वनने पर 'सिच्' आदेश प्राप्त होता है, किन्तु '५०७-पुषादिद्युतादि०' से उसका वाध हो 'च्लि' के स्थान 'अङ्' (अ) होने से पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

६०. अद्योतिष्ट

यह 'द्युत्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है।

मूलरूप है–'द्युत् लुङ्'। यहाँ ५७ वें पद की भाँति 'अद्युत् इ स्त' रूप वनने पर '४५१-पुगन्त०'से लघूपध को गुण होकर 'अ द्य् ओ त् इ स् त' = 'अद्योति स् त' रूप वनता है। तव षत्व और ष्टुत्व होकर 'अद्योतिष्ट' रूप सिद्ध होता है।[1]

६१. अद्योतिष्यत

यह 'द्युत्' धातु का 'लृङ्' लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है–'द्युत् लृङ्'। इस स्थिति में ५८ वें पद के समान 'अद्युतइ स्य त' रूप वनने पर '४५१–पुगन्त' से लघूपध 'द्युत्' को गुण होकर 'अद्योत् इ स्य त' रूप वनता है। तव १५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अद्यो त्इ ष्यत' = 'अद्योतिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

६२. अनदत्

यह 'नद्' (णद) धातुका लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नद् लङ्'। शेप प्रक्रिया प्रथम पद के समान है।

६३. अनदिष्यत

यह 'नद्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लृङ्'। शेप प्रक्रिया दूसरे पद के समान ही है।

६४. अनदीत

इसके लिए ६८ वें पद की रूपसिद्धि देखिये।

६५. अनन्दत्

यह 'टुनदि' (नन्द्लृ) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। 'टुनदि' में इकार अनुवन्ध मात्र है और 'टु' की '४६२-आदिर्ञिटुडवः' से इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से लोप हो जाता है। तव रूप वनता है–'नद'। यहाँ '४६३–इदितो नुम्०' से 'नद्' को 'नुम्' होता है। 'नुम्' में उकार और मकार इत्संज्ञक हैं, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह अन्त्य अच् नकारोत्तरवर्ती अकार के वाद होता है और इस प्रकार 'नन्द्' रूप वनता है। तव लङ् लकार की विवक्षा में 'नन्द् लङ्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया प्रथम पद के समान है।

६६. अनन्दिष्यत्

यह 'टुनदि' (नन्द्लृ) धातु का लृङ्' लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप –'नन्द लृङ्'।[2] शेष प्रक्रिया दूसरे पदके समान है।

६७. अनन्दीत्

यह 'टुनदि' (नन्द्) धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नन्द् लृङ्[3]'। शेप प्रक्रिया तीसरे पदके समान है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ५७ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

२ ३. पूर्वप्रक्रिया के लिए ६५ वें पद रूप-सिद्धि देखिये।

६८. अनादीत् (अनदीत्)

यह 'नद्' (णद) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'नद् लुङ्'। शेष प्रक्रिया २० वें पद के समान है।

६९. अन्तर्भवाणि

मूलरूप है—'अन्तर्+भवानि'। यहाँ 'अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्' वार्तिक से 'अन्तर्' की उपसर्गसंज्ञा होने पर '४२०–आनि लोट्' से 'आनि' के नकार को णकार होकर 'अन्तर्भवाणि' रूप सिद्ध होता है।

७०. अपात्

यह 'पा' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लुङ्'। इस स्थिति में तीसरे पद की भाँति 'अ पा स् त्' रूप बनने पर '४३९ गातिस्था०' से 'सिच्' (स्) का लोप होकर 'अपात्' रूप सिद्ध होता है।

७१. अपाताम्

यह 'पा' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लुङ्'। तब प्रथम पद के समान प्रथमपुरुष–द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' होकर 'अ पा तस्' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' होकर 'अ पा ताम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ७० वें पद के समान है।

७२. अपास्यत्

यह 'पा' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुप–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पा लृङ्'। यहाँ दूसरे पद की भाँति 'अ पा स्य त्' रूप सिद्ध होता है। इसमें '४७५–एकाच उपदेशे०' से 'इट्' का निषेध हो जाता है।

७३. अपिबत्

यह 'पा' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लङ्'। यहाँ प्रथम पद के समान 'अ पा अ त्' रूप बनने पर '४८७–पाघ्राध्मा०' से 'पा' के स्थान में 'पिब' होकर 'अ पिब अ त्' रूप बनता है। तब '२७४–अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'अ पिब् अ त्' = 'अपिबत्' रूप सिद्ध होता है।

७४. अपुः

यह 'पा' धातु का लुङ् लकार में प्रथपुरुष–बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पा लुङ्'। इस स्थिति में ३३ वें पद की भाँति 'अ पा स् झि' रूप बनने पर

१. इसके लिए 'भवानि' (५८१) की रूपसिद्धि देखिये।

'४३९–गातिस्था०' से 'सिच्' (स्) का लोप होकर 'अ पा झि' रूप वनता है। तव '४९१–आतः' से 'झि' को 'जुस्' (उस्) होकर 'अ पा उस्' रूप वनेगा। यहाँ '४९२–उस्यपदान्तात्' से अवर्ण के वाद 'उस्' होने के कारण पररूप एकादेश होकर 'अ प् उ- स्' = 'अपुस्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया ३१ वें पद के समान है।

७५. अभक्त

यह 'भज्' (भज) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भज् लुङ्'। यहाँ ५२ वें पद की भाँति 'अ भ ज् स् त' रूप वनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु '४७५-एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तव '४७८–झलो झलि' से सकार का लोप होकर 'अ भ ज् त' रूप वनता है। इस स्थिति में '३०६–चोः कुः' से जकार को गकार होकर 'अ भ ग् त' रूप वनेगा। यहाँ '२४–खरि च' से गकार के स्थान में ककार आदेश होकर 'अभक्त' रूप सिद्ध होता है।

७६. अभक्षाताम्

यह 'भज्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष–द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भज् लुङ्'। तव प्रथमपुरुष–द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आताम्' होकर ७५ वें पद के समान 'अ भक् स् आताम्' रूप वनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान में 'मूर्धन्य षकार' होकर 'अ भक् ष् आताम्' रूप वनता है। यहाँ ककार और षकार मिलकर क्षकार हो जाने पर 'अ भ क्ष् आताम्' = 'अभक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है। इसमें झल् न परे होने के कारण '४७८–झलो झलि' से सकार का लोप नही होता।

७७. अभरत्

यह 'भृ' (भृञ्) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लुङ्'। तव प्रथम पद की भाँति 'अ भृ अ त्' रूप बनने पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ऋकार के स्थान में गुण 'अर्' होकर 'अभ् अर् अ त्' = 'अभरत्' रूप सिद्ध होता है।

७८. अभरत

इसकी सिद्धि की प्रक्रिया पूर्व पद (७७) के समान ही है। केवल 'तिप्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' हो जाता है।

७९. अभरिष्यत्

यह 'भृ' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'भृ लृङ्'। इस स्थिति में द्वितीयपद की भाँति 'अभृस्यत्' रूप वननेपर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे' से उसका निषेध हो जाता है। तव '४९८–ऋद्धनोः स्ये' से 'स्य' को 'इट्' होकर 'अ भृ इस्य त्' रूप वनेगा। यहाँ '३८८–सार्वधातुक०' से ऋकार के स्थान में गुण 'अर्' होकर 'अ भ् अर्

इ स्य त्' रूप बनने पर '१५०-आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अभ् अर् इ ष् यत्' = 'अभरिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

८०. अभरिष्यत

यह 'भृ' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। इसकी सिद्धि-प्रक्रिया पूर्वपद (७९) के समान है। केवल परस्मैपद 'तिप्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' हो जाता है।

८१. अभवत्

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'भू लङ्'। तब ७७ वें पद की भाँति गुण आदि होकर 'अ भो अ त्' रूप बनने पर '२२-एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश होकर 'अभ् अव् अत्' = 'अभवत्' रूप सिद्ध होता है।

८२. अभवत

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भू लङ्'। यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'थ' होकर 'अभूथ' रूप बनने पर '४१४-तस्थस्०' से 'थ' के स्थान में 'त' होकर 'अभूत' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ८१ वें पद के समान है।

८३. अभवतम्

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल-रूप है–'भू लङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'थस्' होकर 'अभूथस्' रूप बनने पर '४१४-तस्थस्०' से 'थस्' के स्थान में 'तम्' होकर 'अभू तम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ८१ वें पद के समान है।

८४. अभवताम्

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भू लङ्'। इस स्थिति में प्रथमपद के समान 'अट्' और प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' होकर 'अभू तस्' रूप बनने पर '४१४-तस्थ०' से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' होकर 'अभूताम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ८१ वें पद के समान है।

८५. अभवः

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भू लङ्'। तब प्रथमपद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' आदि होकर 'अ भू स्' रूप बनता है। यहाँ ८१ वें पद के समान 'अभवस्' रूप बनने पर रुत्वविसर्ग होकर 'अभवः' रूप सिद्ध होता है।[1]

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम भाग भी देखिये।

८६. अभवन्

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भू लङ्'। यहाँ प्रथमपद के समान 'अट्' और प्रथमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में 'झि' होकर 'अ भू झ्' रूप वनने पर '३८९—झोऽन्तः' से झकार के स्थान में 'अन्त्' होकर 'अभू अन्त्' रूप वनता है। तव ८१ वें पद की भाँति 'अभव् अ अन्त्' रूप वनने पर '२७४—अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'अभव् अन्त्' = अभवन्त' रूप वनेगा। यहाँ '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होकर 'अंभवन्' रूप सिद्ध होता है।

८७. अभवम्

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भू लङ्'। इस स्थिति में प्रथमपद के समान 'अट्' और उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'मिप्' होकर 'अ भू मिप्' रूप वनने पर '४१४—तस्थस्०' से 'मिप्' के स्थान में 'अम्' होकर 'अभू अम्' रूप वनता है। तव ८६ वें पद की भाँति पररूप एकादेश होकर 'अभवम्' रूप सिद्ध होता है।

८८. अभवाम

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुप-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और उत्तमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में 'मस्' होकर 'अ भू मस्' रूप वनता है। तव ८१ वें पद के समान 'अभव मस्' रूप वनने पर'३९०-अतो दीर्घो यञि' से अदन्त अंग को दीर्घ होकर 'अभव् आ मस्' रूप वनेगा। इस स्थिति में '४२१-नित्यं ङितः' से सकार का लोप होकर 'अभवाम' रूप सिद्ध होता है।

८९. अभवाव

यह 'भू' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल-रूप है—'भू लङ्'। इस स्थिति में प्रथमपद की भाँति 'अट्' और उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'वस्' होकर 'अ भू वस्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया ८८ वें पद के समान है।

९०. अभविष्यत्

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल-रूप है—'भू लृङ्'। यहाँ द्वितीयपद के समान 'अ भू इ स्य त्' रूप वनने पर '३८८-सर्व-धातुकार्धधातुकयोः' से गुण ओकार होकर 'अ भ् ओ इ स्यत्' = 'अभो इस्य त्' रूप वनता है। तव '२२-एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान में 'अव्' होकर 'अभ् अ व् इ स्य त्' रूप वनेगा। इस स्थिति में '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अ भ् अ व् इ ष् यत्' = 'अभविष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

९१. अभविष्यत

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में मध्यमपुरुप-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल

रूप है—'भू लृङ्' इस स्थिति में ८२ वें पद की भाँति 'अ भू त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ९० वें पद के समान हैं।

९२. अभविष्यतम्

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल है—'भू लृङ्'। यहाँ ८३ वें पद की भाँति 'अ भू तम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ९० वें पद के समान ही हैं।

९३. अभविष्यताम्

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल-रूप है—'भू लृङ्'। यहाँ ८४ वें पद के समान 'अभूताम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ९० वें पद के समान है।

९४. अभविष्यन्

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल-रूप है—'भू लृङ्'। तब ८६ वें पद की भाँति 'अ भू अन्त्' रूप बनता है। इस स्थिति में ९० वें पद के समान 'अ भव् इ स्य अन्त्' रूप बनने पर '२७४—अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'अ भव् इ स्य् अन्त्' = 'अभविस् यन्त्' बनेगा यहाँ '२०—संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप हो 'अभवि स्यन् 'रूप बनने पर '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अभविष्यन्' रूप सिद्ध होता है।

९५. अभविष्यम्

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृङ्'। यहाँ ८७ वें पद के समान 'अभू अम्' रूप बनता है। तब ९४ वें पद की पद की भाँति 'अभविष्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसमें '२०—संयोगान्तस्य०' से अन्त्य मकार का लोप नही होता।

९६. अभविष्याम

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है 'भू' लृङ्'। इस स्थिति में ८८ वें पद के समान 'अभू मस्' रूप बनेगा। तब ९० वें पद की भाँति 'अभव् इस्य म स्' रूप बनने पर '३९०—अतो दीर्घो०' से अदन्त अंग को दीर्घ होकर 'अभ व् इस्य् आमस्' रूप बनता है। यहाँ '४३१—नित्यं ङितः' से सकार का लोप होकर 'अभव् इस्य् आम' रूप बनेगा। तब '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार 'अभ व् इष् य् आम' = 'अभविष्याम' रूप सिद्ध होता है।

९७. अभविष्याव

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृङ्'। यहाँ ८९ वें पद की भाँति 'अभू वस्' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया ९६ वें पद के समान है।

९८. अभविष्यः

यह 'भू' धातु का लृङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृङ्'। इस स्थिति में ८५ वें पद के समान 'अ भू स्' रूप वनेगा। तव ९० वें पद की भाँति 'अभविष्यस्' रूप वनने पर रुत्व विसर्ग होकर 'अभविष्यः' रूप सिद्ध होता है।[1]

९९. अभाक्षीत्

यह 'भज्' (भज) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भज् लुङ्'। यहाँ प्रथमपद के समान 'अ भज् त्' रूप वनता है। तव ७५ वें पद की भाँति 'अ भज् स् त् रूप वनने पर '४४५-अस्तिसिचो०' से ईट् होकर 'अभ ज् स् ई त्' रूप वनेगा। इस स्थिति में '४६५—वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश होकर 'अ भ् आ ज् स् ई त्' रूप वनता है। तव ७६ वें पद के समान 'अ भ् आ क् ष् ई त्' रूप वनने पर ककार और षकार के मिल जाने से 'अभाक्षीत्' रूप सिद्ध होता है।

१००. अभार्षीत्

यह 'भृ' (भृञ्) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भृ लुङ्'। यहाँ ९९ वें पद की भाँति 'अ भृ स् ई त्' रूप वनने पर '४८४—सिचि वृद्धिः' से वृद्धि 'आर्' होकर 'अ भ् आर् स् ई त्' वनता है। तव '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अभ् आर् ष् ई त्' = 'अभार्षीत् रूप सिद्ध होता है।

१०१. अभूत्

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'भू लुङ्'। इस स्थिति में तृतीयपद के समान 'अ भू स् त्' रूप वनने पर '४३९—गातिस्था०' से सकार का लोप होकर 'अभूत्' रूप सिद्ध होता है। यहाँ '३८८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुण का '४४०—भूसुवोः०' द्वारा निषेध हो जाता है।

१०२. अभूत

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भू लुङ्'। यहाँ ८२ वें पद की भाँति 'अभूत' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १०१ वें पद के समान है।

१०३. अभूतम्

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लुङ्'। इस स्थिति में ८३ वें पद के समान 'अभूतम्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया १०१ वें पद के समान ही है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप सिद्धि का अन्तिम भाग देखिये।

१०४. अभूताम्

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लुङ्'। तब ८४ वें पद की भाँति 'अ भू ताम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १०१ वें पद के समान ही है।

१०५. अभूम

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल-रूप है—'भू लुङ्'। यहाँ ८८ वें पद के समान 'अ भू मस्' रूप बनेगा। तब १०१ वें पद की भाँति 'अ भू मस्' रूप बनने पर '६२१—नित्यं ङितः' से सकार का लोप होकर 'अभूम' रूप सिद्ध होता है।

१०६. अभूव

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भू लुङ्'। तब ९९ वें पद की भाँति 'अभू वस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १०५ वें पद के समान है।

१०७. अभूवन्

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'भू लुङ्'। यहाँ ८६ वें पद के समान 'अ भू अन्त्' रूप बनेगा। तब १०१ वें पद की भाँति 'अ भू अन्त्' रूप बनने पर '३९३—भुवो वुग्०' से 'वुक्' (व्) होकर 'अ भू व् अन्त्' = 'अ भू वन्त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२०—संयोगान्तस्य' से तकार लोप होकर 'अभूवन्' रूप सिद्ध होता है।

१०८. अभूवम्

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लुङ्'। इस स्थिति में ८७ वें पद के समान 'अ भू अम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १०७ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ संयोगान्त न होने से '२०—संयोगान्तस्य०' से मकार का लोप नहीं होता।

१०९. अभूः

यह 'भू' धातु का लुङ् लकार मे मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लुङ्'। यहाँ ८५ वें पद की भाँति 'अ भू स्' रूप बनता है। तब १०१ वें पद के समान फिर 'अ भूस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ३१ वें पद के अन्तिम भाग के समान है।

११०. अभृत

यह 'भृ' (भृञ्) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लुङ्'। यहाँ ७५ वें पद के समान 'अ भृ स् त' रूप बनने पर

'३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु '५४४–उश्च' से 'सिच्' (स्) के कित् हो जाने पर '४३३–क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है तब '५४५-ह्रस्वादङ्गात्' से 'सिच्' (स्) का लोप होकर 'अभृत' रूप सिद्ध होता है।

१११. अभृषाताम्

यह 'भृ' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लुङ्'। इस स्थिति में प्रथमपद की भाँति 'अट्' और प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आताम्' रूप बनता है। तब ११० वें पद के समान 'अ भृ ष् आताम्' = 'अभृषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

११२. अयताम्

यह 'अय्' (अय) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अय् लोट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान आत्मनेपद प्रत्यय 'त' आदि होकर 'अय् अ त' रूप बनता। तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से टि' को एत्व होकर 'अय् अ त् ए' रूप बनने पर '५१७–आमेतः' से एकार के स्थान में 'आम्' होकर 'अय् अ त् आम्' = 'अयताम्' रूप सिद्ध होता है।

११३. अयते

यह 'अय्' धातु का लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है–'अय् लट्'। यहाँ ११२ वें पद के समान 'अय् अ त' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' एत्व होकर 'अय् अत् ए' = 'अयते' रूप सिद्ध होता है।

११४. अयष्ट

यह 'यज्' (यज) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लुङ्'। तब ७५ वें पद की भाँति 'अयज् त' रूप बनने पर '३०७–व्रश्च-भ्रस्ज०' से जकार के स्थान में षकार होकर अय ष् त' = 'अयष्ट' रूप सिद्ध होता है। यहाँ '६८–ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान में टकार हुआ है।

११५. अयाक्षीत्

यह 'यज्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'यज् लुङ्'। शेष प्रक्रिया ९९ वें पद के समान है।

११६. अयाञ्चक्रे

यह 'अय्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अय् लिट्'। इस स्थिति में '५३६ दयाऽयासश्च' से 'आम्' होकर 'अय् आम् लिट्' रूप बनने पर '४७१-आमः' से 'लिट्' का लोप हो जाता है और रूप बनता है–'अय् आम्'। तब '४७२–कृञ् चानुप्रयुज्यते' से लिट्परक

'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'अय् आम् कृ लिट्' रूप बनेगा। यहाँ तिबादि प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर प्रथमपुरुष-एकवचन और उत्तमपुरुष-एकवचन में अलग-अलग रूप सिद्धि दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४१ वें पद के समान 'लिट्' के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'अय् आम् कृ त' रूप बनता है। तब '५१३—लिटस्तझयोः०' से 'त' के स्थान में 'एश्' (ए) होकर 'अय् आम् कृ ए' रूप बनने पर '३९४—लिटि धातोः०' से द्वित्व होकर 'अय् आम् कृ कृ ए' = 'अयाम् कृ कृ ए' रूप बनेगा। इस स्थति में '३९५ पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'कृ' की अभ्यास संज्ञा होने पर '४७६—उरत्' से ऋवर्ण के स्थान में '२९ उरण् रपरः' की सहायता से 'अर्' होकर 'अयाम् क् अर् कृ ए' रूप बनता है। यहाँ '३९६-हलादिः शेषः' से रकार का लोप होकर 'अयाम् क कृ ए' रूप बनने पर '४५८—कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार को चकार होकर 'अयाम् च् अ कृ ए' = ' 'अयाम् च कृ ए' रूप बनेगा। इस स्थिति में १५—इको यणचि' से ऋकार के स्थान में रकार होकर 'अयाम् च क् र् ए = 'अयाम् चक्रे' रूप बनता है। तब ७७—मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान में अनुस्वार और '७९-अनुस्वारस्य ययि०' से पुनः अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण ञकार होकर 'अयाञ् चक्रे' = 'अयाञ्चक्रे' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ 'अय् आम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'इट्' होकर 'अय् आम् कृ इ' रूप बनेगा। तब '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' के स्थान में 'ए' होकर 'अय् आम् कृ ए' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया पूर्ववत् है।

११७. अयिता

यह 'अय्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अय् लुट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'लुट्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' होकर 'अय् त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

११८. अयिष्यते

यह 'अय्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अय् लृट्'। इस स्थिति में ११७ वें पद के समान 'अय् त' रूप बनेगा। तब ४७ वें पद की भाँति 'अय् इ स्य त' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'त' को टि अकार को एकार होकर 'अय् इस्य त् ए' रूप बनता है। यहाँ '१५०-आदेश प्रत्यययोः' से सकार को षकार हो 'अय् इष् यत् ए' = 'अयिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

११९. अयिषीढ्वम् (अयषीध्वम्)

यह 'अय्' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है 'अय् लिङ्'। इस स्थिति में ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'ध्वम्' होकर 'अय् ध्वम्' रूप बनने पर '३८७—कर्तरि०' से शप् प्राप्त

होता है, किन्तु '४३१—लिङ्शिषि' से 'ध्वम्' के आर्धधातुक होने के कारण उसका निषेध हो जाता है। तव '५२०—लिङः०' से 'सीयुट्' (सीय्) होकर 'अय् सीय् ध्वम्' रूप वनने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' होकर 'अय् इ सीय् ध्वम्' रूप वनेगा। यहाँ '४२९—लोपो०' से यकार का लोप होकर 'अय् इ सी ध्वम्' रूप वनने पर '१५०-आदेशप्रत्यययोः' से सकार का षकार होकर 'अय् इ ष् ई ध्वम्' रूप वनता है। तव '५२७—विभाषेटः' से विकल्प से धकार के स्थान में ढकार होकर 'अय् इ ष् ई ढ्वम्' = 'अयिषीढ्वम्' रूप सिद्ध होता है। ढकार के अभाव पक्ष में 'अयिषीध्वम्' रूप वनता है।

१२०. अयिषीध्वम्

इसके लिए पूर्वपद (११९) की रूप-सिद्धि देखिये।

१२१. अयिषीष्ट

यह 'अय्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अय् लिङ्'। यहाँ 'लिङ्' के स्थान में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'आत्मनेपद' प्रत्यय 'त' होकर ११९ वें पद की भाँति 'अय् सी य् त' रूप वनने पर '५२३—सुट् तिथोः' से 'सुट्' (स्) होकर 'अय् सीय् स् त' रूप वनता है। तव पुनः ११९ वें पद के समान इडागम आदि होकर 'अय् इषी ष् त' रूप वनने पर '६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान में टकार होकर 'अय् इ षी ष् ट् अ' = 'अयिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

१२२. अयेत

यह 'अय्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अय् लिङ्'। यहाँ लिङ् के स्थान में आत्मनेपद 'त' होकर ४८ वें पद की भाँति' अय् अ त' रूप वनता है। तव '५२०—लिङः सीयुट्' से 'सीयुट्' (सीय्) होकर 'अय् अ सीय् त' = 'अय सीय् त' रूप वनने पर '४२७—लिङः सलोपो०' से सकार का लोप होकर 'अय् ई य् त' रूप वनेगा। इस स्थिति में वल् तकार परे होने के कारण '४२९—लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप होकर 'अय ईत' रूप वनने पर २७—आद् गुणः' से गुणादेश होकर 'अय् एत' = 'अयेत' रूप सिद्ध होता है।

१२३. अर्चति

यह 'अर्च्' (अर्च) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'अर्च् लट्'। शेप प्रक्रिया ४१ वें पद के समान।

१२४. अर्चतु

यह 'अर्च्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अर्च् लुट्'। शेप प्रक्रिया ४२ वें पद के समान।

१२५. अर्चिता

यह 'अर्च्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मल रूप है–'अर्च् लुट्'। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

१२६. अर्चिष्यति

यह 'अर्च्' धातु का लृट् लकार में प्रमथपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अर्च् लृट्'। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

१२७. अर्चेत्

यह 'अर्च्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अर्च लिङ्'। शेष प्रक्रिया ८४ वें पद के समान है।

१२८. अर्च्यात्

यह 'अर्च्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपूरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अर्च् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

१२९. अवक्षत

यह 'वह्' (वह) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह् लुङ्'। यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अट्' और प्रथमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'झ' होकर 'अवह् झ' रूप बनता है। तव '५२४–आत्मनेपदेष्वनतः' से झकार के स्थान में 'अत्' होकर 'अ वह अत् अ' = 'अ वह अत' रूप बनेगा। इस स्थिति में ७५ वें पद के समान 'अ वह् स् अत' रूप वनने पर '२५१–होढः' से हकार के स्थान में ढकार होकर 'अ वढ् स् अत' रूप वनता है। यहाँ '५४८–षढोः कः सि' से ढकार के स्थान में ककार होकर 'अव क् स् अत' वनेगा। तव '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान में षकार होकर 'अ वक् ष्' अत रूप वनने पर ककार और षकार को मिला देने पर 'अ वक्ष् अत' = 'अवश्रत' रूप सिद्ध होता है।

१३०. अवक्षाताम्

यह 'वह'(वह) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह लुङ्'। यहाँ प्रथमपद के समान 'अट्' और प्रथमपुरुप-द्विवचन की विवक्षा में 'आताम्' होकर 'अ वह आताम्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान है।

१३१. अवक्षाथाम्

यह 'वह' धातु का लुङ्लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है–'वह लुङ्'। यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'आथाम्' होकर 'अ व ह आथाम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान।

१३२. अवक्षि

यह 'वह्' धातु का लुङ्लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'इट्' (इ) होकर 'अ वह् इ' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान है।

१३३. अवक्ष्महि

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह लुङ्'। इस स्थिति में प्रथमपद की भाँति 'अट्' और उत्तमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'महिङ्' होकर 'अ वह् महि' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान है।

१३४. अवक्ष्यत्

यह 'वह' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लृङ्'। यहाँ दूसरे पद के समान 'अ वह् स्य त्' रूप वनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका वाध हो जाता है। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान है।

१३५. अवक्ष्यत

यह 'वह्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लृङ्'। यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अट्' और आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'अ वह्त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १३४ वें पद के समान है।

१३६. अवक्ष्वहि

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचनका आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है 'वह लुङ्'। तब प्रथमपद के समान 'अट्' और उत्तमपुरुप-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'अवह् वहि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान है।

१३७. अवर्तत

यह 'वृत्' (वृतु) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लङ्'। यहाँ आत्मनेपद 'त' प्रत्यय होकर प्रथमपद की भाँति 'अ वृत् अत' रूप वनने पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से '४५१–पुगन्त०' से ऋकार के स्थान में 'अर्' होकर 'अव् अ र् त् अत' = 'अवर्तत' रूप सिद्ध होता है।

१३८. अवर्तिष्ट

यह 'वृत्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लुङ्'। इस स्थिति में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर तृतीय पद के समान 'अ वृत् इ स् त' रूप वनने पर '४५१–पुगन्त०' से ऋकार के स्थान में 'अर्' होकर 'अ व् अ र् त् इ स् त' रूप वनेगा। तव '१५०–आदेश०' से सकार को पकार होकर

'अव् अ र् त् इ ष् त' रूप बनने पर '६४-ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान में टकार होकर 'अ व् अ र् त् इ ष् ट् अ' = 'अवर्तिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

१३९. अवर्तिष्यत

यह 'वृत्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लृङ्'। यहाँ आत्मनेपद 'त' प्रत्यय होकर दूसरे पद की भाँति 'अ वृ त् इ स्य त' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त०' से ऋकार के स्थान मे गुण 'अर्' होकर 'अ व् अ र् त् इ ष् य त' = 'अवर्तिष्यत' रूप सिद्ध होता है।

१४०. अवर्त्स्यत्

यह 'वृत्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लृङ्। इस स्थिति में दूसरे पद की भाँति 'अ वृत् स्यत्' रूप बनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु '५४०-न वृद्भ्यः' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४५१-पुगन्त०' से ऋकार के स्थान में गुण 'अर्' होकर 'अ व् अर् त् स्य त्' = 'अवर्त्स्यत्' रूप सिद्ध होता है।

१४१. अवाक्षम्

यह 'वह' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'वह् लुङ्'। यहाँ ८७ वें पद के समान 'अ वह् अम्' रूप बनता है। तब ७५ वें पद की भाँति 'अ वह स् अम्' रूप बनने पर '४६५-वद०' से वकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि होकर 'अव् आ ह् स् अम्' = 'अवाह स् अम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान है।

१४२. अवाक्षीत्

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह लुङ्'। यहाँ प्रथम पद के समान 'अ वह् स् त्' रूप बनता है। तब पूर्वपद (१४१) की भाँति 'अ वह् स् त्' रूप बनने पर '४४५–अस्तिसिचोः०' से ईट् होकर 'अ वह स् ई त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४६५–वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश होकर 'अवाह् स् ई त्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १२९ वें पद के समान।

१४३. अवाक्षीः

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'वह लुङ्' इस स्थिति में ३१ वें पद के समान 'अ व ह स्' रूप बनता है। तब १४२ वें पद के समान 'अवाक्षीस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'अवाक्षीः' रूप सिद्ध होता है।[1]

---

१. इसकी विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम भाग देखिये।

१४४. अवाक्षुः

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह लुङ्'। यहाँ पर ३३ वें पद के समान 'अ वह् स् उस् रूप वनता है। तब १४२ वें पद की भाँति 'अवाक्षुस्' रूप वनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'आवाक्षुः' रूप सिद्ध होता है।

१४५. अवाक्ष्म

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'वह् लुङ्'। यहाँ ३४ वें पद की भाँति 'अवह्म' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया १४२ वें पद के समान है।

१४६. अवाक्ष्व

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लुङ्'। इस स्थिति में ३५ वें पद की भाँति 'अ व ह् व' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १४२ वें पद के समान है।

१४७. अवोढ

यह 'वह' धातु का लुङ् लकार में दो अवस्थाओं में वनता है— परस्मैपदपरक मध्यमपुरुष-वहुवचन में और आत्मनेपदपरक प्रथमपुरुष-एकवचन में। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है:—

(क) परस्मैपदपरक मध्यमपुरुष-वहुवचन—मूल रूप है–'वह लुङ्'। इस स्थिति में २७ वें पद के समान 'अ व ह त' रूप वनता है। तब १२९ वें पद की भाँति 'अ व ढ् स् त' रूप वनने पर '४७८-झलो झलि' से सकार का लोप होकर 'अ व ढ् त्' रूप वनेगा। यहाँ '५४९-झषस्तथोः०' से तकार के स्थान में धकार होकर 'अ व ढ् ध् अ' रूप वनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से धकार को ढकार होकर 'अ व ढ् ढ् अ' रूप वनता है। '५५७-ढोढे लोपः' से पूर्ववर्ती ढकार का लोप होकर 'अ व ढ् अ' रूप वनने पर '५५१-सहिवहोरोद्०' से वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में ओकार होकर 'अ व् ओ ढ्अ' = 'अवोढ' रूप सिद्ध होता है।

(ख) आत्मनेपदपरक प्रथमपुरुष-एकवचन—मूल रूप है—'वह् लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'अ व ह त' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

१४८. अवोढम्

यह 'वह' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह लुङ्'। यहाँ २८ वें पद की भाँति 'अ वह तम्' रूप वनेगा। शेप प्रक्रिया १४७ वें पद के समान।

१४९. अवोढाम्

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह् लुङ्'। इस स्थिति में २९ वें पद के समान 'अ व ह् ताम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १४७ वें पद के समान है।

१५०. अवोढाः

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह् लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'थास्' होकर 'अ वह् थास्' रूप बनेगा। तब १४७ वें पद के समान 'अवोढास्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'अवोढाः' रूप सिद्ध होता है[1]

१५१. अवोढ्वम्

यह 'वह्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'वह् लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'ध्वम्' होकर 'अ वह् ध्वम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १४७ वें पद के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ तकार-थकार न होने के कारण '१४९—झषस्तथोः०' सूत्र का प्रयोग नहीं होता।

१५२. अव्रजत्

यह 'व्रज्' (व्रज) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'व्रज लङ्'। शेष प्रक्रिया प्रथम पद के समान है।

१५३. अव्रजिष्यत्

यह 'व्रज्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'व्रज् लृङ्'। शेष प्रक्रिया द्वितीय पद के समान है।

१५४. अव्राजीत्

यह 'व्रज्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लुङ्'। इस स्थिति में तीसरे पद की भाँति 'अ व्र ज् इ स् ई त्' रूप बनने पर '४६५—वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश होकर 'अ व्र् आ ज् इ स् ई त्' = 'अव्राज् इ स् ई त्' रूप बनेगा। तब पुनः तृतीय पद के समान सकार लोप आदि होकर 'अव्राजीत्' रूप सिद्ध होता है।

१५५. अशिश्रियत्

यह 'श्रि' (श्रिञ्) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लुङ्'। यहाँ तीसरे पद के समान 'अ श्रि च्लि त्' रूप बनने पर '४३८—च्लेः' से 'सिच्' प्राप्त होता है, किन्तु '५२८—णि श्रि०' से उसका बाध हो

---

1. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

जाता है 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' (अ) आदेश होकर 'अ श्रि अत्' रूप बनता है। तब '५३१–चङि' से 'श्रि' का द्वित्व होकर 'अ श्रि श्रि अत्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'श्रि' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९–हलादिः शेषः' से शकारोत्तरवर्ती रकार का लोप होकर 'अशि श्रि अत्' रूप बनता है। यहाँ '१९९–अचिश्नु०' से श्रकारोत्तरवर्त्ती इकार के स्थान में 'इयङ्' (इय्) आदेश होकर 'अशि श्र् इ य् अत्' = 'अशिश्रियत्' रूप सिद्ध होता है।

१५६. अशिश्रियत

यह 'श्रिञ्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'श्रि लुङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अट्' और आत्मनेपद 'त' होकर 'अश्रि त' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १५५ वें पद के समान है।

१५७. अशृणवम्

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप हैं। मूल रूप है—'श्रु लङ्'। इस स्थिति में ८७ वें पद के समान 'अ श्रु अम्' रूप बनने पर '४९९–श्रुवः शृ०' से 'शृ' और 'श्नु' (नु) होकर 'अ शृ नु अम्' रूप बनता है। तब ८१ वें पद की भाँति 'अ शृ न् अ व् अम्' रूप बनने पर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से नकार के स्थान में णकार होकर 'अ शृ ण् अ व् अ म्' = 'अशृणवम्' रूप सिद्ध होता है।

१५८. अशृणुत

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'श्रु लङ्'। यहाँ ८२ वें पद की भाँति 'अ श्रु त' रूप बनता है। तब १५७ वें पद के समान 'अ शृ नु त' रूप बनने पर '३८८ सार्वधातुक०' से गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु '५००–सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत्' होने से '४३३–क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से नकार के स्थान में णकार होकर 'अ शृ ण् उत' = 'अशृणुत' रूप सिद्ध होता है।

१५९. अशृणुतम्

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'श्रु लङ्'। तब ८३ वें पद की भाँति 'अ श्रु तम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १५८ वें पद के समान।

१६०. अशृणुताम्

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदरक रूप है। मूल रूप है—'श्रु लङ्'। इस स्थिति में ८४ वें पद की भाँति 'अ श्रु ताम्' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया १५८ वें पद के समान।

१६१. अशृणुम (अशृण्म)

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

मूलरूप है—'श्रु लङ्'। यहाँ ८८ वें पद के समान 'अश्रु मस्' रूप बनेगा। तब १५८ वें पद के समान 'अ श्रृ णु मस्' रूप बनने पर '४२१–नित्यं ङितः' से सकार का लोप होकर 'अश्रृणुम' रूप बनता है। इस स्थिति में ५०२–लोपश्च०' से उकार का विकल्प से लोप होकर 'अश्रृण्म' = 'अश्रृण्म' रूप सिद्ध होता है। उकार के लोपाभावपक्ष में 'अश्रृणुम' रूप ही रहेगा।

१६२. अश्रृणुव (अश्रृण्व)

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'श्रु लङ्'। यहाँ ८९ वें पद की भाँति 'अश्रु वस' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १६१ वें पद के समान है।

१६३. अश्रृणोत्

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लङ्'। यहाँ प्रथम पद की भाँति 'अश्रुत्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १५७ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ अजादि प्रत्यय न परे होने से '२१–एचोऽयवायावः' सूत्र का प्रयोग नहीं होता।

१६४. अश्रृणोः

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार मे मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मलरूप है—'श्रु लङ्'। इस स्थिति में ८५ वें पद के समान 'अ श्रु स्' रूप बनेगा। तब १६३ वें पद की भाँति 'अश्रृणोस्' रूप बनने पर रुत्व विसर्ग होकर 'अश्रृणोः' रूप सिद्ध होता है।[1]

१६५. अश्रृण्म

इसके लिए १६१ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

१६६. अश्रृण्व

इसके लिए १६२ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

१६७. अश्रृण्वन्

यह 'श्रु' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'श्रु लङ्'। यहाँ ८६ वें पद की भाँति 'अ श्रु अन्त्' रूप बनता है। इस स्थिति में १५८ वें पद के समान 'अ श्रृ णु अन्त्' बनने पर '१९९–अचिश्नु०' से 'उवङ्' आदेश प्राप्त होता है, किन्तु '५०१–हुश्नुवोः०' से उसका बाध होकर उकार के स्थान में यण् वकार आदेश हो 'अ श्रृ ण् व् अन्त्' = 'अश्रृण्वन्त्' रूप बनेगा। तब '२०–संयोगान्तस्य लोपः' से तकार का लोप होकर 'अश्रृण्वन्' रूप सिद्ध होता है।

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

१६८. अश्रयत्

यह 'श्रिञ्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लङ्'। शेष प्रक्रिया ८१ वें पद के समान है।

१६९. अश्रयत

यह 'श्रिञ' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लङ्'। शेष प्रक्रिया १६८ वें पद के समान ही है अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ परस्मैपद 'तिप्' (त्) के स्थान में आत्मनेपद 'त' होता है।

१७०. अश्रयिष्यत्

यह 'श्रिञ्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लृङ्'। शेष प्रक्रिया ९० वें पद के समान है।

१७१. अश्रयिष्यत

यह 'श्रिञ्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लृङ्'। शेष प्रक्रिया १७० वें पद के ही समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ परस्मैपद 'तिप्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' हो जाता है।

१७२. अश्रोष्यत्

यह 'श्रु' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लृङ्'। यहाँ द्वितीय पद के समान 'अ श्रु स्य त्' रूप बनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश होकर 'अ श्र् ओ स्य त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'अ श्र् ओ ष् य त्' = 'अश्रोष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

१७३. अश्रौषीत्

यह 'श्रु' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लुङ्'। इस स्थिति में तीसरे पद की भाँति 'अ श्रु स् त्' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४४५–अस्तिसिचो०' से ईट् होकर 'अ श्रु स् ई त्' रूप बनने पर '४८४–सिचि वृद्धिः०' से इगन्त अंग को वृद्धि होकर 'अ श्र् औ स् ई त्' रूप बनता है। यहाँ '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान में षकार होकर 'अ श्र् औ ष् ई त् = 'अश्रौषीत्' रूप सिद्ध होता है।

१७४. असेधत्

यह 'षिधु' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। '२५५–धात्वादेः ष सः' से धातु का आदि षकार सकार बन जाता है, और मूलरूप

वनता है–'सिध् लङ्' । यहाँ प्रथमपद की भाँति 'अ सिध् अ त्' रूप बनने पर '४५१–पुगन्त०' से गुणादेश होकर 'अ स् ए ध् अ त्' = 'असेधत्' रूप सिद्ध होता है।

१७५. असेधिष्यत्

यह 'षिध्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लृङ्' ।[1] इस स्थिति में दूसरे पद के समान 'अ सिध् इ स्य त्' रूप वनने पर '४५१–पुगन्त०' से गुणादेश होकर 'अ स् ए ध् इ स्यत्' रूप बनता है। तब '१५०–आदेशप्रत्यययो:' से सकार को षकार होकर 'अ स् एध् इष् य त्' = 'असेधिष्यत्' रूप सिद्ध होता है।

१७६. असेधीत्

यह 'षिध्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'सिध् लुङ्।' तव तीसरे पद के समान 'अ सिध् इ स् त्' रूप बनने पर '४६५–वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश प्राप्त होता है, किन्तु इडादि सिच् परे होने के कारण '४७७–नेटि' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '४५१–पुगन्त०' से लघूपध 'सिध्' को गुण होकर 'अ स् एध् इस् त्' रूप वनेगा। यहाँ पुनः तृतीय पद की भाँति ईट् और सकारलोप आदि होकर 'असेधीत्' रूप सिद्ध होता है।

१७७. अहरत्

यह 'हृञ्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लङ्' । शेष प्रक्रिया ७७ वें पद के समान है।

१७८. अहरत

यह 'हृञ्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लङ्' । शेष प्रक्रिया ७८ वें पद के समान है।

१७९. अहरिष्यत्

यह 'हृञ्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लृङ्' । शेष प्रक्रिया ७९ वें पद के समान है।

१८०. अहरिष्यत

यह 'हृञ्' धातु का लृङ लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लृङ्' । शेष प्रक्रिया ८० वें पद के समान है।

१८१. अहार्षीत्

यह 'हृञ्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लुङ्' । शेष प्रक्रिया १०० वें पद के समान है।

---

१. इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वपद (१७४) देखिये।

१८२. अहृत

यह 'हृञ्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लुङ्'। शेष प्रक्रिया ११० वें पद के समान है।

१८३. अह्वरत्

यह 'ह्वृ' (ह्वृ) धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लङ्'। शेष प्रक्रिया ७७ वें पद के समान है।

१८४. अह्वरिष्यत्

यह 'ह्वृ' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'ह्वृ लृङ्'। शेष प्रक्रिया ७९ वें पद के समान है।

१८५. अह्वार्षीत्

यह 'ह्वृ' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लुङ्'। शेष प्रक्रिया १०० वें पद के समान है।

१८६. आत

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार का रूप है। यह रूप तीन अवस्थाओं में वनता है—१. परस्मैपदपरक प्रथमपुरुष-एकवचन, २. परस्मैपदपरक मध्यमपुरुष-वहुवचन और ३. परस्मैपदपरक उत्तमपुरुष-एकवचन। यहाँ तीनों अवस्थाओं में मूलरूप है—'अत् लिट्'। आगे की प्रक्रिया अलग-अलग दी जा रहीं हैं :—

(क) परस्मैपदपरक प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४१ वें पद के समान 'अत् ति' रूप वनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के स्थान में 'णल्' (अ) होकर 'अत् अ' रूप वनता है। इस स्थिति में '३९४-लिटि धातोः०' से 'अत्' का द्वित्व होकर 'अत् अत् अ' रूप वनेगा। तव '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' प्रथम 'अत्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९६-हलादिः शेष' से उसके तकार का लोप होकर 'अ अत् अ' रूप वनता है। यहाँ '४४३–अत आदेः' से अभ्यास के अकार को दीर्घ होकर 'आ अत् अ' रूप वनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'आत अ' = 'आत्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) परस्मैपदपरक मध्यमपुरुष-वहुवचन—यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष वहुवचन की विवक्षा में 'थ' होकर 'अत् थ' रूप वनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'थ' के स्थान में 'अ' होकर 'अत् अ' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(ग) परस्मैपदपरक मध्यमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष एकवचन की विवक्षा में 'मिप्' होकर 'अत् मि' रूप वनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'मिप्' के स्थान में 'णल्' (अ) होकर 'अत् अ' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया 'क' खंड के समान ही है।

१८७. आतत्

यह 'अत्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लङ्'। यहाँ '४४४–आड्अजादीनाम्' से अंग को 'आट्' आगम होकर 'आ अत् लङ्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१९७–आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर 'आत् लङ्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया प्रथमपद के समान है।

१८८. आततुः

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अत् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' होकर 'अत् तस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'तस्' के स्थान में 'अतुस्' होकर 'अत् अतुस्' रूप बनेगा। तब १८६ वें पद के समान 'आततुस्' रूप बनने पर रुत्व विसर्ग होकर 'आततुः' रूप सिद्ध होता है।

१८९. आतथुः

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अत् लिट्'। यहाँ ४१ वे पद के समान मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'थस्' होकर 'अत् थस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'थस्' के स्थान में 'अथुस्' होकर 'अत् अथुस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १८८ वें पद के समान है।

१९०. आतिथ

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लिट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' होकर 'अत् सि' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'सिप्' के स्थान में 'थल्' (थ) होकर 'अत् थ' रूप बनता है। तब १८६ वें पद के समान 'आत् थ' रूप बनेगा। यहाँ '४००–लिट् च' से 'थल्' (थ) की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' आगम होकर 'आत इथ' = 'आतिथ' रूप सिद्ध होता है।

१९१. आतिम

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'मस्' होकर 'अत मस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'मस्' के स्थान में 'म' होकर 'अत् म' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १९० वें पद के समान है।

१९२. आतिव

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लिट्'। तब ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'वस्' होकर 'अत् वस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'वस्' के स्थान में 'व' होकर 'अत् व' रूप बनेगा। शेप प्रक्रिया १९० वें पद के समान है।

१९३. आतिषम्

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लुङ्'। यहाँ १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' बनने पर प्रथमपद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'मिप्' आदि होकर 'आत् म्' रूप बनेगा। तब '४१४–तस्थस्०' से मिप्' के स्थान में 'अम्' होकर 'आत् अम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में तीसरे पद के समान 'आत् इ स् अम्' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'आत् इ ष् अम्' रूप सिद्ध होता है।

१९४. आतिषुः

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अत् लुङ्'। यहाँ १८७ वें पद के समान 'आत् लुङ्' रूप बनने पर ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुप-बहुवचन की विवक्षा में 'झि' होकर 'आत् झि' रूप बनेगा। इस स्थिति से ३३ वें पद की भाँति 'आत् स् उस्' बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम होकर 'आत् इ स् उ स्' रूप बनता है। तब १९३ वें पद के समान 'आतिषुस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'आतिषुः' रूप सिद्ध होगा।[1]

१९५. आतिष्ट

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुप-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अत् लुङ्'। इस स्थिति में १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुप-बहुवचन की विवक्षा में 'थ' होकर 'आत् थ' रूप बनता है। '४१४–तस्थस्०' से 'थ' के स्थान में 'त' होकर 'आत् त' रूप बनेगा। तब १९३ वें पद की भाँति 'आत् इ ष् त' रूप बनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान में टकार होकर 'आत् इ ष् ट अ' = 'आतिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

१९६. आतिष्टम्

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लुङ्'। यहाँ १९७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' रूप बनने पर ८४ वें पद की भाँति 'आत् तम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १९५ वें पद के समान ही।

१९७. आतिष्टाम्

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लुङ्'। यहाँ १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' रूप बनने पर ८४ वें पद के समान 'आत् ताम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १९५ वें पद के समान है।

१९८. आतिष्म

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

---

१. विस्तृत-प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

मूलरूप है—'अत् लुङ्' । यहाँ १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' रूप बनने पर ८८ वें पद के समान 'आत् मस्' रूप बनेगा । तब १२३ वें पद की भाँति 'आत् इ ष् मस्' रूप बनने पर '४२१–नित्य ङितः' से सकार लोप होकर 'आतिष्म' रूप सिद्ध होता है।

१९९. आतिष्यत्

यह 'अत्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अत् लृङ्' । तब १८७ वें पद की भाँति 'आत् लृङ्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया दूसरे पद के समान ही है।

२००. आतिष्व

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अत् लुङ्' । तब १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' रूप बनने पर ८९ वें पद के समान 'आत् वस्' रूप बनेगा । शेष प्रक्रिया १९८ वें पद के समान है।

२०१. आतीत्

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अत् लुङ्' । यहाँ १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया तृतीय पद के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें '४६५–वद-व्रज०' से वृद्धि आदेश प्राप्त होने पर '४७७–नेटि' से इसका निषेध हो जाता है।

२०२. आतीः

यह 'अत्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अत् लुङ्' । इस स्थिति में १८७ वें पद की भाँति 'आत् लुङ्' बनने पर ३१ वें पद के समान 'आत् स्' रूप बनेगा । तब २०१ वें पद की भाँति 'आतीस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'आतीः' रूप सिद्ध होता है।[1]

२०३. आतुः

यह 'अत्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'अत् लिट्' । यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'झि' होकर 'अत् झि' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'झि' के स्थान में 'उस्' होकर 'अत् उस्' रूप बनेगा । शेष प्रक्रिया १८८ वें पद के समान है।

२०४. आनर्च

यह 'अर्च' धातु का लिट् लकार में परस्मैपदपरक रूप है। यह रूप तीन अवस्थाओं में बनता है—१. प्रथमपुरुष-एकवचन, २. मध्यमपुरुष-बहुवचन और ३. उत्तमपुरुष-बहुवचन । मूलरूप है—'अर्च लिट्' । शेष प्रक्रिया १८६ वें पद के समान ही है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें 'आ अर्च अ' रूप बनने पर '४६४–तस्मान्नुड्०' से 'नुट्' (न्) आगम होकर 'आ न् अर्च अ' = 'आनर्च' रूप सिद्ध होता है।

२०५. आनर्चतुः

यह 'अर्च' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है 'अर्च लिट्'। १८८ वें पद के समान 'आ अर्च अतु स्' रूप बनने पर '४६४–तस्मान्नुड्०' से 'नुड्' आगम होकर 'आन् अर्च् अतुस्' = 'अनर्चतुस्' रूप बनेगा। तब रुत्व-विसर्ग होकर 'आनर्चतुः' रूप सिद्ध होता है।[1]

२०६. आयिष्ट

यह 'अय्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अय् लुङ्'। शेष प्रक्रिया १९५ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ मध्यमपुरुष-बहुवचन के परस्मैपद प्रत्यय के स्थान में प्रथमपुरुषएक-वचन का आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होता है।

२०७. आयिढ्वम् (आयिध्वम्)

यह 'अय्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है मूलरूप है–'अय् लुङ्'। इस स्थिति में १८७ वें पद की भाँति 'आय् लुङ्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'ध्वम्' होकर 'आय् ध्वम्' रूप बनेगा। तब तीसरे पद की भाँति 'आय् इ स् ध्वम्' रूप बनने पर '५१५–धि च' से सकार का लोप होकर 'आय् इ ध्वम्' रूप बनता है। यहाँ '५२७–विभाषेटः' से धकार को ढकार होकर 'आय् इढ् वम्' = 'आयिढ्वम्' रूप सिद्ध होता है। ढकार के अभावपक्ष में 'आयिध्वम्' रूप ही रहता है।

२०८. आयिध्वम्

इसके लिए पूर्वपद (२०७) की रूप-सिद्धि देखिये।

२०९. आयिष्यत

यह 'अय्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अय् लुङ्'। शेष प्रक्रिया १९९ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ परस्मैपद 'तिप्' के स्थान में आत्मनेपद 'त' होता है।

२१०. आर्चत्

यह 'अर्च्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अर्च् लङ्'। शेष प्रक्रिया १८७ वें पद के समान है।

२११. आर्चिष्यत्

यह 'अर्च्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अर्च् लृङ्'। शेष प्रक्रिया १९९ वें पद के समान है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

२१२. आर्चीत्

यह 'अर्च्' 'धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचनका परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अर्च् लुङ्'। शेष प्रक्रिया २०१ वें पद के समान है।

२१३. इयजिथ (इयष्ठ)

यह 'यज्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' होकर 'यज् सिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'सिप्' के स्थान में 'थल्' (थ) होकर 'यज् थ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३९४–लिटि धातो०' से 'यज्' का द्वित्व होकर 'यज् यज् थ' रूप बनने पर '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'यज्' की अभ्यास संज्ञा होने से '३९६–हलादिः शेषः' से उसके जकार का लोप होकर 'य यज् थ' रूप बनता है। तब '५४६–लिट्यभ्यासस्य०' से अभ्यास के यकार के स्थान में सम्प्रसारण इकार होकर 'इ अ यज् थ' रूप बनने पर '२५८–संप्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'इ यज् थ' रूप बनेगा। यहाँ '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' प्राप्त होने पर '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में पुनः '४७९-क्रसृ०' से इट् प्राप्त होने पर '४८१–उपदेशे०' से उसका पुनः निषेध हो जावेगा। तब '४८२–ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प से 'इट्' होकर 'इ यज् इथ' = 'इयजिथ' रूप सिद्ध होता है। इडभाव पक्ष में '३०७–व्रश्च-भ्रस्ज०' से जकार के स्थान में षकार होकर 'इ यष् थ' रूप बनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से थकार को ठकार हो 'इ यष् ठ् अ' = 'इयष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

२१४. इयष्ठ

इसके लिए पूर्वपद (२१३) की रूप,सिद्धि देखिये।

२१५. इयाज

यह 'यज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लिट्'। यहाँ १८६ (क) वें पद की भाँति 'य यज् अ' रूप बनने पर २१३ वें पद के समान सम्प्रसारण आदि होकर 'इ यज् अ' रूप बनेगा। तब '४५५–अत उपधायाः' से उपधा-वृद्धि होकर 'इय् आज् अ' = 'इयाज' रूप सिद्ध होगा।

२१६. इज्यात्

यह 'यज्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लिङ्'। यहाँ ४९ वें पद के समान 'यज् यास् त्' रूप बनने पर ५४७–वचिस्वपि०' से 'यज्' के यकार के स्थान में सम्प्रसारण इकार होकर 'इ अज् यास् त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२५८-सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'इज्यास् त्' रूप बनने पर '३०९–स्कोः संयोगाद्योः०' से सकार का लोप होकर 'इज्यात्' = 'इज्यात्' रूप सिद्ध होता है।

२१७. ईजतुः

यह 'यज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—यज् लिट्'। यहाँ १८८ वें पद की भाँति 'यज् अतुस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४५२—असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' की कित् संज्ञा होने पर '५४७—वचिस्वपि०' से 'यज्' के यकार के स्थान में सम्प्रसारण-इकार होकर 'इ अ ज् अतुस्' रूप बनता है। तब '२५८-सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर इज् अतुस् रूप बनने पर '३९४—लिटि धातो०' से 'इज्' का द्वित्व होकर 'इज् इज् अतुस्' रूप बनेगा। यहाँ २१३ वें पद के समान 'इ इज् अतुस्' रूप बनने पर '४२—अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'ईज् अतुस्' = 'ईजतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में रुत्व-विसर्ग होकर 'ईजतुः' रूप सिद्ध होता है।[1]

२१८. ईजुः

यह 'यज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लिट्'। तब २०३ वें पद की भाँति 'यज् उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २१७ वें पद के समान है।

२१९. ईजे

यह 'यज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'यज् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान आत्मनेपद 'त' होकर 'यज् त' रूप बनता है। तब २१७ वें पद की भाँति 'कित्' आदि होकर 'ईज्त' रूप बनने पर '५१३-लिटस्तझयोः०' से 'त' के स्थान में 'एश्' (ए) होकर 'ई ज् ए' = 'ईजे' रूप सिद्ध होता है।

२२०. उवहिथ (उवोढ)

यह 'वह्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है-'वह् लिट्'। शेष प्रक्रिया २१३ वें पद के समान है।[2] इडभाव पक्ष में 'इवह् थ' रूप बनने पर '२५१—हो ढः' से हकार के स्थान में ढकार होकर 'उ वढ् थ' रूप बनेगा। तब '५४९—झषस्तथोः०' से थकार को धकार होकर 'उ वढ् ध् अ' रूप बनने पर '६४-ष्टुना ष्टुः' से धकार के स्थान में ढकार होकर 'उव ढ् ढ् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '५५७—ढो ढे लोपः' से पूर्ववर्ती ढकार का लोप होकर 'उ व ढ् अ' रूप बनने पर '११२—ढ्लोपे पूर्वस्य०' से पूर्व अण् को दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '५५१—सहि-वहोः०' से उसका बाध हो जाता है और वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में ओकार होकर 'उ व् ओ ढ् अ' = 'उवोढ' रूप सिद्ध होता है।

२२१. उवाह

यह 'वह्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लिट्'। शेष प्रक्रिया २१५ वें पद के समान है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम भाग देखिये।

२. यहाँ ध्यान रहे कि 'वह्' में वकार के स्थान में सम्प्रसारण उकार होता है।

२२२. उवोढ

इसके लिए २२० वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

२२३. ऊहतुः

यह 'वह्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लिट्'। शेष प्रक्रिया २१७ वें पद के समान है।

२२४. ऊहुः

यह 'वह्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लिट्'। शेष प्रक्रिया २१८ वें पद के समान है।

२२५. ऊहे

यह 'वह्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लिट्'। शेष प्रक्रिया ११९ वें पद के समान है।

२२६. एधते

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

२२७. एधध्वम्

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लोट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'ध्वम्' होकर 'एधध्वम्' रूप बनेगा। तब १४४ वें पद के समान 'एधध्वे' रूप बनने पर '५१७–आमेतः' से एकार को 'आम्' प्राप्त होता है, किन्तु '५१८–सवाभ्यां०' से उसका बाध होकर एकार के स्थान में अम् आदेश होकर 'एधध्व् अम्' = 'एधध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

२२८. एधध्वे

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। यहाँ २२७ वें पद की भाँति 'एध् ध्वम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ११४ वें पद के समान।

२२९. एधन्ताम्

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लोट्'। इस स्थिति में प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में ४१ वें पद की भाँति आत्मनेपद प्रत्यय 'झ' होकर 'एध झ' रूप बनने पर '३८९–झोऽन्तः' से झकार के स्थान में 'अन्त्' आदेश होकर 'एध् अन्त् अ' रूप बनेगा। तब ११२ वें पद के समान 'एध् अ अन्ताम्' रूप बनने पर '२७४–अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'एध् अन्ताम्' = 'एधन्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

२३०. एधन्ते

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचनका आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। यहाँ २२९ वें पद के समान 'एध् अन्त् अ' रूप बनेगा। तब ११४ वें पद की भाँति 'एध् अ अन्ते' रूप बनने पर '२७४-अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'एधन्ते' रूप सिद्ध होता है।

२३१. एधसे

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। तब मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में ४१ वें पद की भाँति आत्मनेपद प्रत्यय 'थास्' होकर 'एध् थास्' रूप बनता है। इस स्थिति में ११४ वें पद के समान 'एध् अ थास्' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' को एकार प्राप्त होता है, किन्तु '११०—थासः से' से उसका बाध हो 'थास् के स्थान में 'से' होकर 'एध् अ से' = 'एधसे' रूप सिद्ध होता है।

२३२. एधस्व

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लोट्'। यहाँ २३१ वें पद के समान 'एध् से' रूप बनने पर '५२८—सवाभ्यां०' से एकार के स्थान में 'व' होकर 'एध स् व' = 'एधस्व' रूप सिद्ध होता है।

२३३. एधाञ्चकृढ्वे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिट्'। इस स्थिति में '५११—इजादेश्च०' से 'आम्' होकर 'एध् आम् लिट्' रूप बनने पर '४७१—आमः' से लिट् का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'एध् आम्'। तब '४७२—कृञ् चानुप्रयुज्यते०' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'एध् आम् कृ लिट्' रूप बनेगा। यहाँ '५१२—आम्प्रत्ययवत०' से आत्मनेपद प्रत्ययों की प्राप्ति होने पर ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'ध्वम्' होकर 'एध् आम् कृ ध्वम्' रूप बनता है। तब '३९४—लिटि धातो०' से 'कृ' का द्वित्व होकर 'एध् आम् कृ कृ ध्वम्' रूप बनने पर '३९५—पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'कृ' की अभ्यास संज्ञा होती है। इस स्थिति में '२९—उरण् रपरः' की सहायता से '४७३—उरत्' से अभ्यास के ऋवर्ण के स्थान में 'अर्' होकर 'एध् आम क् अर् कृ ध्वम्' रूप बनने पर '३९६—हलादिः शेषः' से रकार का लोप होकर 'एध् आम् क् अ कृ ध्वम्' रूप बनेगा। यहाँ '४५८—कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार को चकार होकर 'एध् आम् च् अकृध्वम्' = 'एधाम् च कृध्वम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '७७—मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान में अनुस्वार और ७५—'अनुस्वारस्य ययि०' से पुनः अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण ञकार होकर 'एधा ञ् च कृध्वम्' = 'एधाञ्चकृध्वम्' रूप बनेगा। तब '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'ध्वम्' की 'टि'–'अम्' के स्थान में एकार होकर 'एधाञ्च कृ ध्व् ए' = 'एधाञ्चकृध्वे' रूप बनने पर '५१४-इणः षीध्वम्०' से धकार के स्थान में ढकार होकर 'एधाञ्चकृढ्वे' रूप सिद्ध होता है।

२३४. एधाञ्चकृमहे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लिट्'। यहाँ २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम् कृ लिट्' रूप बनने पर उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'महिङ्' होकर 'एध् आम् कृ महिङ्' रूप बनेगा। तब पुनः २३३ वें पद के समान 'एधाञ्च कृ महिङ्' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'महिङ्' के 'इङ्' के स्थान में एकार होकर 'एधाञ्चकृमह् ए' = 'एधाञ्चकृमहे' रूप सिद्ध होता है।

२३५. एधाञ्चकृवहे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लिट्'। शेष प्रक्रिया २३४ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें 'महिङ्' के स्थान में उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'वहि' होता है।

२३६. एधाञ्चकृषे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है मूल रूप है—'एध् लिट्'। यहाँ २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम् कृ लिट्' रूप बनने पर मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'थास्' होकर 'एध् आम् कृ थास्' रूप बनेगा। तब पुनः २३३ वें पद के समान 'एधाञ्चकृ थास्' रूप बनने पर '५१०—थासः सेः' से 'थास्' के स्थान में 'से' होकर 'एधाञ्चकृ से' रूप बनता है। इस स्थिति में '४००—लिट् च' से 'से' की अर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान में षकार होकर 'एधाञ्चकृ ष् ए' = 'एधाञ्चकृषे' रूप सिद्ध होता है।

२३७. एधाञ्चक्राते

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिट्'। इस स्थिति में २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम् कृ लिट्' रूप बनने पर प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'आताम्' होकर 'एध् आम् कृ आताम्' रूप बनेगा। तब पुनः २३३ वें पद के समान 'एधाम् चकृ आताम्' रूप बनने पर '१५—इको यणचि' से ऋकार के स्थान में रकार होकर 'एधाम् च क् र् आताम्' = 'एधाम् चक्राताम्' रूप बनता है। यहाँ '५०८—टित आत्मनेपदानां' से 'आताम्' के 'आम्' के स्थान में एकार होकर 'एधाम् चक्रात् ए' = 'एधाम् चक्राते' रूप बनने पर ११६ (क) वें पद की भाँति अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'एधाञ्चक्राते' रूप सिद्ध होता है।

२३८. एधाञ्चक्राथे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है

मूल रूप है—'एध् लिट्'। यहाँ २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम् कृ लिट्' रूप वनने पर मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'आथाम्' होकर 'एध् आम् कृ आथाम्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया २३७ वें पद के समान है।

२३९. एधाञ्चक्रिरे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लिट्'। यहाँ २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम् कृ लिट्' रूप वनने पर प्रथमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'झ' होकर 'एध् आम् कृ झ' रूप वनता है। तव '५१३–लिटस्तझयोः०' से 'ज' के स्थान में 'इरेच्' (इरे) होकर 'एध् आम् कृ इरे' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ११६ (क) वें पद के समान है।

२४०. एधाञ्चक्रे

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लिट्'। तव २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम् कृ लिट्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ११६ वें पद के समान है।

२४१. एधामहे

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का आत्मपनेदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में 'महिङ्' होकर 'एध् महि' रूप वनता है। तव ११४ वें पद के समान 'एध महे' रूप वनने पर '३९०–अतो दीर्घो०' से दीर्घादेश होकर 'एध् आ महे' = 'एधामहे' रूप सिद्ध होता हैं।

२४२. एधामहै

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लोट्'। यहाँ २४१ वें पद की भाँति 'एध् अ महि' रूप वनने पर '४१८–आडुत्तमस्य०' से 'आट्' (आ) होकर 'एध् अ आ महि' रूप वनेगा। तव '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'महि' की टि-इकार के स्थान में एकार होकर 'एध् अ आ मह् ए' रूप वनने पर '५१९–एत ऐ' से एकार को ऐकार होकर 'एध् अ आ मह् ऐ' रूप वनता है। इस स्थिति में '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'एध् आ मह् ऐ' = 'एधामहै' रूप सिद्ध होता है।

२४३. एधामास

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लिट्'। यहाँ २३३ वें पद की भाँति 'एध् आम्' वनने पर '४७२-कृञ्-चानुप्रयुज्यते०' से लिट्परक 'अस्' धातु का अनुप्रयोग होकर 'एध् आम् अस् लिट्' रूप बनेगा। 'अस्' धातु परस्मैपदी है, अतः ४१ वें पद की भाँति 'लिट्' के स्थान में 'तिप्' आदेश होकर 'एध् आम् अस् तिप्' रूप वनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'तिप्' के

स्थान में 'णल् (अ) होकर 'एध् आम् अ स् अ' रूप बनता है। तब पुनः २३३ वें पद के समान द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'एध् आम् अ अस् अ' रूप बनने पर '४४२–अत आदेः' से अभ्यास के अकार को दीर्घ होकर 'एध् आम् आ अस् अ' = 'एधाम् आ अस् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'एधाम् आ स् अ' = 'एधामास' रूप सिद्ध होता है।

२४४. एधाम्बभूव

यह 'एध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिट्'। यहाँ २३३ वें पद के समान 'एध् आम्' रूप बनने पर '४७२-कृञ् चानुप्रयुज्यते०' से लिट्परक 'भू' धातु का अनुप्रयोग होकर 'एध् आम् भू लिट्' रूप बनता है। तब २४३ वें पद की भाँति 'एध् आम् भू अ' रूप बनने पर '३९३–भुवो वुक्०' से 'भू' धातु को 'वुक्' (व्) आगम् होकर 'एध् आम् भू व् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में पुनः २३३ वें पद की भाँति द्वित्व और अभ्यासकार्य होकर 'एध् आम् भू भूव् अ' रूप बनने पर '३९७–ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व होकर 'एध् आम् भ् उ भू व् अ' रूप बनता है। यहाँ '३९८–भवतेरः' से अभ्यास के उकार के स्थान में अकार होकर 'एध् आम् भ् अ भू व् अ' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के भकार के स्थान में जश् बकार होकर 'एध् आम् ब् अ भू व् अ' = 'एधाम् बभूव' रूप बनेगा। तब '७७-मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान में अनुस्वार और '६९-अनुस्वारस्य ययि०' से पुनः अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण मकार होकर 'एधा म् बभूव' = 'एधाम्बभूव' रूप सिद्ध होता है।

२४५. एधावहे

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है–'एध् लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'वहि' होकर 'एध् वहि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २४१ वें पद के समान है।

२४६. एधावहै

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लोट्'। यहाँ २४५ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में वहि होकर 'एध् वहि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २४३ वें पद के समान है।

२४७. एधिता

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लुट्'। शेष प्रक्रिया ११७ वें पद के समान है।

२४८. एधिताध्वे

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लुट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में

आत्मनेपद 'ध्वम्' होकर 'एध् ध्वम्' रूप बनेगा। तब ४६ वे पद के समान 'एध् इ तास् ध्वम्' रूप बनने पर '५१५–धि च' से सकार का लोप होकर 'एध् इता ध्वम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '५०८-टित आत्मनेपदानां०' से 'टि'-'आम्' को एकार होकर 'एध् इ ता ध्व् ए' = 'एधिताध्वे' रूप सिद्ध होता है।

२४९. एधितारौ

यस 'एध्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लुट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'आताम्' होकर 'एध् आताम्' रूप बनेगा। तब ४६ वें पद के समान 'एध् इतास् आताम्' रूप बनने पर '४०५–लुटः प्रथमस्य०' से 'आताम्' के स्थान मे 'रौ' होकर 'एध् इ तास् रौ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४०७–रि च' से 'तास्' के सकार का लोप होकर 'एध् इ तारौ' = 'एधितारौ' रूप सिद्ध होता है।

२५०. एधितारः

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है–'एध् लुट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'झ' होकर 'एध् झ' रूप बनेगा। तब ४६ वें पद के समान 'एध् इ तास् झ' रूप बनने पर '४०५-लुटः प्रथमस्य०' से 'झ' के स्थान में 'रस्' आदेश होकर 'एध् इतास् रस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४०७–रि च' से सकार का लोप होकर 'एध् इता रस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'एधितारः' रूप सिद्ध होता है।

२५१. एधितासाथे

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनपद 'आथाम्' होकर 'एध् आथाम्' रूप बनेगा। तब ४६ वें पद की भाँति 'एध् इ तास् आथाम्' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'आथाम्' की टि–'आम्' को एकार होकर 'एध् इ तास् आथ् ए' = एधितासाथे' रूप सिद्ध होता है।

२५२. एधितासे

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है मूल रूप है–'एध् लुट्'। यहाँ २३१ वें पद की भाँति 'एध् थास्' रूप बनने पर '५१७-थासः से' 'थास्' के स्थान में 'से' होकर 'एध् से' रूप बनेगा। तब ४६ वें पद के समान 'एध् इ तास् से' रूप बनने पर '४०३–तासस्तयोः०' से 'तास्' के सकार का लोप होकर 'एध् इ ता से' = 'एधितासे' रूप सिद्ध होता है।

२५३. एधितास्महे

यह 'एध्' धातु का लुट लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

मूल रूप है—'एध लुट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मने पद 'महिङ्' होकर 'एध् महिङ्' रूप बनेगा तब ४६ वें पद की भाँति 'एध् इ तास् महिङ्' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से टि—'इङ्' के स्थान एकार होकर 'एध् इ तास् मह् ए' = 'एधितास्महे' रूप सिद्ध होता है।

२५४. एधितास्वहे

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'एध् लुट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'वहि' होकर 'एध् वहि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २५३ वें पद के समान।

२५५. एधिताहे

यह 'एध्' धातु का लुट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। यहाँ ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'इट्' (इ) होकर 'एध् इ' रूप बनेगा। तब ४६ वें पद की भाँति 'एध् इ तास् इ' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' के स्थान में ए होकर 'एध् इ तास् ए' रूप बनता है। इस स्थिति में '५१६—ह एति' से 'तास्' के सकार में के स्थान हकार 'एध् इ ताह् ए' = 'एधिताहे' रूप सिद्ध होता हैं।

२५६. एधिषीध्वम्

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। शेष प्रक्रिया १२० वें पद के समान ही है। ध्यान रहे कि यहाँ इण्णन्त अंग न होने से '५१४—इणः षीध्वम्' आदि से धकार को ढकार नहीं होता है।

२५७. एधिषीमहि

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में उत्तमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'महिङ्' होकर 'एध् महि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १२० वे पद के समान है।

२५८. एधिषीय

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'इट्' होकर 'एध् इ' रूप बनेगा। तब ११९ वें पद की भाँति 'एध् इ सीय् इ' रूप बनने पर '५२२—इटोऽत्' से 'इ' के स्थान में अकार होकर 'एध् इ सीय् अ' = 'एधिसिय' रूप बनता है। इस स्थिति में '१६०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'एधि-षीय' रूप सिद्ध होता है।

२५९. एधिषीयास्ताम्

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है मूल-

रूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आताम्' होकर 'एध् आताम्' रूप बनेगा। तब ११९ वें पद के समान 'एध् सीय्-आताम्' रूप बनने पर '५२३—सुट् तिथोः' से 'आताम्' के तकार को सुट् (स्) होकर 'एध् सीय् आ स् ताम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४०१—आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' होकर 'एध् इ सीय् आ स् ताम्' रूप बनने पर '१६०—आदेशप्रत्यययोः' से प्रथम सकार को षकार होकर 'एध इष् ई य् आ स् ताम्' = 'एधिषीयास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

२६०. एधिषीयास्थाम्

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आथाम्' होकर 'एध् आथाम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २५९ वें पद के समान है।

२६१. एधिषीरन्

यह 'एध्' धातु का आशिर्लिङ् में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। तब ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'झ' होकर 'एध् झ' रूप बनने पर '५२१—झस्य रन्' से 'झ' के स्थान में 'रन्' होकर 'एध् रन्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया १२० वें पद के समान है।

२६२. एधिषीवहि

यह 'एध्' धातु का आशिर्लिङ् में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'वहि' होकर 'एध् वहि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २५७ वें पद के समान है।

२६३. एधिषीष्ट

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'एध् त' रूप बनेगा। तब २५९ वें पद के समान 'एध् इ सीय् स् त' रूप बनने पर '४२९—लोपो०' से यकार का लोप होकर 'एध् इ सी स् त' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५०—आदेश प्रत्यययोः' से दोनों सकारों के स्थान में षकार होकर 'एध् इष् ई ष् त' रूप बनने पर '६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'एध् इ ष ई ष् ट' = 'एधिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

२६४. एधिषीष्ठाः

यह 'एध्' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। इस स्थिति में ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-एकवचन की

विवक्षा में आत्मनेपद 'थास्' होकर 'एध् थास्' रूप वनेगा । तव २६३ वें पद की भाँति 'एधिषीष्ठास्'[1] रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[2] होकर 'एधिषीष्ठाः' रूप सिद्ध होता है ।

२६५. एधिष्यते

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है । मूलरूप है—'एध् लृट्' । शेष प्रक्रिया ११८ वें पद के समान है ।

२६६. एधिष्यध्वे

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लृट्' । यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'ध्वम्' होकर 'एध् ध्वम्' रूप वनेगा । तव ११८ वें पद के समान 'एधिष्य-ध्वम्' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'ध्वम्' की टि–'अम्' के स्थान में एकार होकर 'एधिष्य ध्व् ए' = 'एधिष्यध्वे' रूप सिद्ध होता है ।

२६७. एधिष्यन्ते

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लृट्' । यहाँ २२९ वें पद के समान 'एध् अन्त् अ' = 'एध् अन्त' रूप वनेगा । तव ४७ वें पद की भाँति 'एध् इ स्य अन्त' रूप बनने पर '५०८—टित आत्म-नेपदानां०' से 'अन्त' की टि—अकार को एकार होकर 'एध् इ स्य अन्त् ए' रूप बनता है । तव '२७४—अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'एध् इ स्य् अन्त् ए' रूप बनने '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'एध् इ ष् य् अन्त् ए' = 'एधि-ष्यन्ते' रूप सिद्ध होता है ।

२६८. एधिष्यसे

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है । मूलरूप है—'एध् लृट्' । यहाँ २३१ वें पद की भाँति 'एध् थास्' रूप बनने पर '५१०—थासः से' से 'थास्' के स्थान में 'से' होकर 'एध् से' रूप वनेगा । शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है ।

२६९. एधिष्यामहे

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है । मूलरूप है–'एध् लृट्' । यहाँ ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'महिङ्' होकर 'एध् महि' रूप बनेगा । तव ११८ वें पद की भाँति 'एधिष्यमहि' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'महि' की टि-इकार के स्थान में एकार होकर 'एधिष्य मह ए' रूप बनता है । इस स्थिति में '३९०—अतो दीर्घो०' से दीर्घादेश होकर 'एधिष्य् आ मह ए' = 'एधिष्यामहे' रूप सिद्ध होता है ।

---

1. ध्यान रहे कि यहाँ थकार के स्थान में ष्टुत्व ठकार हुआ हैं ।
2. विस्तृत-प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूपसिद्धि का अन्तिम अंश देखिये ।

२७०. एधिष्यावहे

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लृट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'वहि' होकर 'एध् वहि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया २६९ वें पद के समान है।

२७१. एधिष्ये

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लृट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'इट्' (इ) होकर 'एध् इ' रूप बनेगा। तब ११८ वें पद की भाँति 'एधिष्य इ' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' के स्थान में एकार होकर 'एधिष्य ए' रूप बनता है। इस स्थिति में '२७४—अतो गुणे' से पररूप-एकादेश होकर 'एधिष्य ए' = 'एधिष्ये' रूप सिद्ध होता है।

२७२. एधिष्येते

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुप-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लृट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आताम्' होकर 'एध् आताम्' रूप बनेगा। तब ११८ वें पद के समान 'एधिष्य आताम्' रूप बनने पर '५०९—आतो ङितः' से 'आताम्' के आदि आकार को 'इय्' आदेश होकर 'एधिष्य इय् ताम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४२९—लोपो०' से यकार का लोप होकर 'एधिष्य इ ताम्' रूप बनने पर '२७—आद् गुणः' से गुणादेश होकर 'एधिष्य् ए ताम्' रूप बनेगा। यहाँ '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से टि—'आम्' को एकार होकर 'एधिष्य् ए त ए' = 'एधिष्येते' रूप सिद्धि होता है।

२७३. एधिष्येथे

यह 'एध्' धातु का लृट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लृट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आथाम्' होकर 'एध् आथाम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २७२ वें पद के समान ही है।

२७४. एधे

यह 'एध्' धातु का लृट लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। तब २७१ वें पद की भाँति 'एध् इ' रूप बनने पर '३८६-तिङ् शित्०' से 'इ' की सार्वधातुक संज्ञा होने के कारण '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) होकर 'एध् अ इ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' के स्थान से एकार होकर 'एध् अ ए' रूप बनने पर '२७४—अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'एध् ए' = 'एधे' रूप सिद्ध होता है।

२७५. एधेत

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद के समान है।

२७६. एधेताम्

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लोट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आताम्' होकर 'एध् आताम्' रूप बनेगा। तब ११२ वें पद के समान 'एध् अ आताम्' रूप बनने पर '५०९—आतो ङितः' से 'आताम्' के आदि आकार के स्थान में 'इय्' होकर 'एध् अ इय् ताम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४२९—लोपो०' से यकार का लोप होकर 'एध् अ इ ताम्' रूप बनने पर '२७—आद् गुणः' से गुणादेश होकर 'एध् एताम्' रूप बनेगा। यहाँ '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'आम्' को एकार होकर एध् ए त ए' रूप बनने पर '५१७—आमेतः' से एकार के स्थान में 'आम्' होकर 'एध् ए त आम्' = 'एधेताम्' रूप सिद्ध होता है।

२७७. एधेते

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। तब २७६ वें पद के समान 'एध् ए ध् ए' = 'एधेते' रूप सिद्ध होता है।

२७८. एधेथाम्

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लोट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आथाम्' होकर 'एध् आथाम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २७६ वें पद के समान है।

२७९. एधेथाः

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४२ वें पद के समान मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'थास्' होकर 'एध् थास्' रूप बनेगा। तब १२२ वें पद की भाँति 'एधेथास्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'एधेथाः' रूप सिद्ध होता है।[1]

२८०. एधेथे

यह 'एध्' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आथाम्' होकर 'एध् आथाम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २७७ वें पद के समान है।

---

१. विस्तृत-प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

२८१. एधेध्वम्

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में मध्यमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। तब ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'ध्वम्' होकर 'एध् ध्वम्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद के समान है।

२८२. एधेमहि

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में उत्तमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'महिङ्' होकर 'एध् महि' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद समान है।

२८३. एधेय

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में उत्तमपुरुष-एक्वचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। इस स्थिति में ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'इट्' (इ) होकर 'एध् इ' रूप बनने पर '५२२–इटोऽत्' से 'इ' के स्थान में अकार होकर 'एध् अ' रूप वनेगा। तब १२२ वें पद की भाँति 'एध ई य् अ' रूप वनने पर '२७–आद्गुणः' से गुणादेश होकर 'एध् ए य् अ' = 'एधेय' रूप सिद्ध होता है।

२८४. एधेयाताम्

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–एध् लिङ् यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आताम्' होकर 'एध् आताम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २८३ वें पद के समान है।

२८५. एधेयाथाम्

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'आथाम्' होकर 'एध् आथाम्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया २८३ वें पद के समान है।

२८६. एधेरन्

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। तव ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'झ' होकर 'एध् झ' रूप बनने पर '५२१–झस्य रन्' से 'झ' के स्थान में 'रन्' होकर 'एध् रन्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद के समान है।

२८७. एधेवहि

यह 'एध्' धातु का विधिलिङ् में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'वहि' होकर 'एध् वहि' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया २८२ वें पद के समान है।

२८८. एधै

यह 'एध्' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लोट्'। यहाँ २७४ वें पद के समान 'एध् अ इ' रूप बनने पर '४१८–आड् उत्तमस्य०' से 'आट्' (आ) होकर 'एध् अ आ इ' रूप बनता है। इस स्थिति में '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'एध् अ आ ए' रूप बनने पर '५१९–एत ऐ' से एकार के स्थान में ऐकार होकर 'एध् अ आ ऐ' रूप बनेगा तब '१९७–आटश्च' से वृद्धि-एकादेश होकर 'एध् अ ऐ' रूप बनने पर '३३–वृद्धिरेचि' से पुनः वृद्धि-एकादेश होकर 'एध् ऐ' = 'एधै' रूप सिद्ध होता है।

२८९. ऐधत

यह 'एध्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लङ्'। यहाँ '४४४–आड् अजादीनाम्' से अंग को 'आट्' (आ) होकर 'आ एध् लङ्' रूप बनने पर '१९७–आटश्च' से वृद्धि एकादेश होकर 'ऐध् लङ्' रूप बनेगा। तब प्रथमपुरुष-एकवचन की भाँति 'लङ्' के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'ऐधत' रूप सिद्ध होता है।

२९०. ऐधथाः

यह 'एध्' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लङ्'। यहाँ २८९ वें पद की भाँति 'ऐध् लङ्' रूप बनेगा। तब प्रथम पद के समान मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'थास्' आदि होकर 'ऐध् थास्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'ऐधथाः' रूप सिद्ध होता है।[1]

२९१. ऐधन्त

यह 'एध्' धातु का लङ् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लङ्'। यहाँ २८९ वें पद के समान 'ऐध् लङ्' रूप बनेगा। तब पहिले पद की भाँति प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'झ' आदि होकर 'ऐध् अ झ' रूप बनने पर '३८९–झोऽन्तः' से झकार के स्थान में 'अन्त्' आदेश होकर 'ऐध् अ अन्त् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '२७४–अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर 'ऐध् अन्त् अ' = 'ऐधन्त' रूप सिद्ध होता है।

२९२. ऐधध्वम्

यह 'एध्' धातु का लङ् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लङ्'। यहाँ २८९ वें पद की भाँति 'ऐध् लङ्' रूप बनेगा। तब प्रथम पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'ध्वम्' आदि होकर 'ऐध् अ ध्वम्' = 'ऐधध्वम्' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

२९३. ऐधामहि

यह 'एध्' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लङ्'। इस स्थिति में २८९ वें पद की भाँति 'ऐध् लङ्' रूप वनेगा। तव प्रथम पद के समान उत्तमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'महिङ्' (महि) आदि होकर 'ऐध् अ महि' रूप वनने पर '३९०—अतो दीर्घो०' से दीर्घादेश होकर 'ऐध् आ महि' = 'ऐधामहि' रूप सिद्ध होता है।

२९४. ऐधावहि

यह 'एध्' धातु का लङ् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लङ्'। शेष प्रक्रिया २९३ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'महिङ्' के स्थान में उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'वहि' हो जाता है।

२९५. ऐधिढ्वम्

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'एध् लुङ्'। तव २९२ वें पद की भाँति 'एध् ध्वम्' रूप वनेगा। इस स्थिति में तीसरे पद के समान 'एध् इ स् ध्वम्' रूप वनने पर '५१५—धि च' से सकार का लोप होकर 'एध् इ ध्वम्' रूप वनेगा। यहाँ '४१४—इण: षीध्वम्०' से धकार को ढकार होकर 'एध् इ ढ्वम्' = ऐधिढ्वम्' रूप सिद्ध होता है।

२९६. ऐधिषत

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मलरूप है–'एध् लुङ्'। यहाँ २९१ वें पद के समान 'ऐध् झ' रूप वनेगा। तव तीसरे पद की भाँति 'ऐध् इ स् झ' रूप वनने पर '५२४—आत्मनेपदेषु०' से झकार के स्थान में 'अत्' आदेश होकर 'ऐध् इ स् अत् अ' रूप वनता है। इस स्थिति में '१५०—आदेश-प्रत्यययो:' से सकार को षकार होकर 'ऐध् इ ष् अत् अ' = 'ऐधिषत' रूप सिद्ध होता है।

२९७. ऐधिषताम्

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुङ्'। इस स्थिति में २२९ वें पद की भाँति 'ऐध् लुङ्' रूप वनने पर प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'आताम्' होकर 'ऐध् आताम्' रूप वनेगा। तव तीसरे पद के समान 'ऐध् इ स् आताम्' रूप वनने पर '१५०—आदेशप्रत्यययो:' से सकार के स्थान में षकार होकर 'ऐध् इ ष् आताम्' = ऐधिषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

२९८. ऐधिषथाम्

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुङ्'। शेष प्रक्रिया २९७ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें 'आताम्' के स्थान में मध्यमपुरुप-द्विवचन की विवक्षा में 'आथाम्' हो जाता है।

२९९. ऐधिषि

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुङ्'। शेष प्रक्रिया २९७ वें पद के समान है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ 'आताम्' के स्थान में उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'इट्' (इ) हो जाता है।

३००. ऐधिष्ट

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुङ्'। यहाँ २९८ वें पद के समान 'ऐध् लुङ्' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'त' होकर 'ऐध् त' रूप बनेगा। तब २९७ वें पद की भाँति 'ऐध् इ ष् त' रूप बनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'ऐध् इ ष् ट् अ' = 'ऐधिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

३०१. ऐधिष्ठाः

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुङ्'। तब २८९ वें पद की भाँति 'ऐध् लुङ्' रूप बनने पर प्रथमपद के समान मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'थास्' होकर 'ऐध् थास्' रूप बनेगा। इस स्थिति में ३०० वें पद की भाँति 'ऐध् इ ष् थास्' रूप बनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से थकार को ठकार होकर 'ऐध् इ ष् ठ् आस्' = ऐधिष्ठास् रूप बनता है। यहाँ ३१ वें पद के अन्तिम अंश की भाँति रुत्व-विसर्ग होकर 'ऐधिष्ठाः' रूप सिद्ध होता है।

३०२. ऐधिष्महि

यह 'एध्' धातु का लुङ् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लुङ्'। शेष प्रक्रिया २९७ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'आताम्' के स्थान में उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में महिङ् (महि) हो जाता है।

३०३. ऐधिष्यत

यह 'एध्' धातु का लृङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध् लृङ्'। यहाँ ३०० वें पद की भाँति 'ऐध् त' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया दूसरे पद के समान है।

३०४. ऐधिष्यथाः

यह 'एध्' धातु का लृङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'एध लृङ्'। यहाँ ३०१ वें पद के समान 'ऐध् थास्' रूप बनेगा। तब दूसरे पद की भाँति 'ऐधिष्यथास्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'ऐधिष्यथाः' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

३१९. कटिष्यति

यह 'कट्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कट् लृट्'। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

३२०. कटेत्

यह 'कट्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कट् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

३२१. कट्यात्

यह 'कट्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कट् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

३२२. कमिता

यह 'कम्' (कमु) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लुट्'। शेष प्रक्रिया ११७ वें पद के समान है।

३२३. कमिषीध्वम्

यह 'कम्' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिङ्'। शेष प्रक्रिया २५६ वें पद के समान है।

३२४. कमिषीष्ट

यह 'कम्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिङ्'। शेष प्रक्रिया १२१ वें पद के समान है।

३२५. कमिष्यते

यह 'कम्' धातु का लृट लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लृट्'। शेष प्रक्रिया ११८ वें पद के समान है।

३२६. कामयताम्

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरकरूप है। मूलरूप है—'कामि लोट्'।[1] इस स्थिति में ११२ वें पद के समान 'कामि अ त' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से इगन्त अंग को गुण होकर 'काम् ए अत' रूप बनेगा। तब '२२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'काम् अय् अ त' = 'कामयत' रूप बनने पर पुनः ११२ वें पद की भाँति 'कामयताम्' रूप सिद्ध होता है।

३२७. कामयते

यह णिङ्परक 'कम्' धातुका लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कामि लट्'।[1] यहाँ ११३ वें पद के समान 'कामि अ त' रूप बनने

१. इसके पूर्व की प्रक्रिया ५ वें पद के समान कर लेनी चाहिये।

पर सार्वधातुक शप् (अ) परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुक०' से इगन्त अंग को गुण होकर 'काम् ए अ त' रूप बनेगा। तब '२२–एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'काम् अय् अ त' = 'कामयत' रूप बनने पर ५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'त' की अकार को एकार होकर 'कामयत् ए' = 'कामयते' रूप सिद्ध होता है।

३२८. कामयाञ्चक्रे

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कामि लिट्'।[1] यहाँ 'कास्य-नेकाच आम् वक्तव्यः' से 'आम्' होकर 'कामि आम् लिट्' रूप बनने पर '५२९–णेरनिटि' से णि-मकारोत्तरवर्ती इकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु '५२६–अयामन्त०' से उसका बाध हो णि-इकार के स्थान में 'अय्' होकर 'काम् अय् आम् लिट्' = 'कामय् आम् लिट्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ११६ वें पद के समान है।

३२९. कामयिता

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है–'कामि लुट्'।[1] इस स्थिति में ११७ वें पद की भाँति 'कामि इ तास् त' रूप बनने पर ३२७ वें पद के समान गुण और अयादेश होकर 'काम् अय् इ तास् त' = कामय् इ तास् त' रूप बनेगा। शेप प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

३३०. कामयितासे

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का लुट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है–'कामि लुट्'।[1] यहाँ २५२ वें पद के समान 'कामि से' रूप बनेगा। तब ३२९ वें पद की भाँति 'कामय् इ तास् से' रूप बनने पर '४०६–तासस्त–यो०' से 'तास्' के सकार का लोप होकर 'कामय् इ ता से' = 'कामयितासे' रूप सिद्ध होता है।

३३१. कामयिषीढ्वम् (कामयिषीध्वम्)

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मने-पदपरक रूप है। मूलरूप है–'कामि लिङ्'।[1] यहाँ ११९ वें पद की भाँति 'कामि इसी ध्वम्' रूप बनने पर ३२७ वें पद के समान गुण और अयादेश होकर 'काम् अय् इ सी ध्वम्' = 'कामयिसीध्वम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ११९ वें पद के समान ही है।

३३२. कामयिषीध्वम्

इसके लिए पूर्वपद (३३१) देखिये।

३३३. कामयिषीष्ट

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-

१. इसके पूर्व की प्रक्रिया ५ वें पद के समान है।

परक रूप है। मूलरूप है–'कामि लिङ्'।[1] यहाँ १२१ वें पद के समान 'कामि इ सी स् त' रूप बनने पर ३२७ वें पद की भाँति गुण और अयादेश होकर 'काम् अय् इ सी स् त' = 'कामयि सी स् त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः १२१ वें पद के समान है।

३३४. कामयिष्यते

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है–'कामि लृट्'।[1] इस स्थिति में ११८ वें पद की भाँति 'कामि इ स्यत' रूप बनने पर ३२७ वें पद के समान गुण और अयादेश होकर 'काम् अय् इ स्यत' = 'कामयिस्यत' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ११८ वें पद के समान है।

३३५. कामयेत

यह णिङ्परक 'कम्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'कामि लिङ्'। तब ११७ वें पद के समान 'कमि त' रूप बनने पर ३२७ वें पद की भाँति गुण और अयादेश होकर 'काम् अय् त' = 'कामय् त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद के समान है।

३३६. क्रमिता

यह 'क्रम्' (क्रमु) धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्रम् लुट्'। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

३३७. क्रमिष्यति

यह 'क्रम्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्रम् लृट्'। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

३३८. क्रम्यात्

यह 'क्रम्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्रम लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

३३९. क्रामति

यह 'क्रम्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्रम् लट्'। तब ४१ वें पद की भाँति 'क्रम् अ ति' रूप बनने पर '४८६–क्रमः परस्मैपदेषु' से 'क्रम' को दीर्घादेश होकर 'क्र आ म् अ ति' = 'क्रामति' रूप सिद्ध होता है।

३४०. क्रामतु

यह 'क्रम्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्रम् लोट्'। यहाँ ३३९ वें पद के समान 'क्रामति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'क्रामतु' रूप सिद्ध होता है।

---

१. इसके पूर्व की प्रक्रिया ५ वें पद के समान है।

३४१. क्रामेत्

यह 'क्रम्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लिङ्'। इस स्थिति में ३३९ वें पद की भाँति 'क्राम् अ ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

३४२. क्राम्यति

यह श्यन्-परक 'क्रम्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान 'क्रम् ति' रूप बनने पर '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' प्राप्त होता है, किन्तु '४८५—वा भ्राश०' से विकल्प से उसका बाध हो 'श्यन्' (य) आदेश होकर 'क्रम् य ति' रूप बनेगा। तब '४८६—क्रमः परस्मैपदेषु' से 'क्रम्' को दीर्घादेश होकर 'क्राम्यति' रूप सिद्ध होता है।

३४३. क्राम्यतु

यह श्यन्-परक 'क्रम्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लोट्'। तब ३४२ वें पद की भाँति 'क्रम्यति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ३४० वें पद के समान है।

३४४. क्राम्येत्

यह श्यन्-परक 'क्रम्' धातु का विधिलिङ् में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लिङ्'। तब ३४२ वें पद के समान 'क्राम् य ति' रूप बनता है शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

३४५. क्षयति

यह 'क्षि' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'क्षि अ ति' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण-एकार होकर 'क्ष् ए अ ति' रूप बनता है। तब '२२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' आदेश होकर 'क्ष् अ य् अ ति' = 'क्षयति' रूप सिद्ध होता है।

३४६. क्षयतु

यह 'क्षि' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'क्षि लोट्'। इस स्थिति में ३४५ वें पद की भाँति 'क्षयति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४२ वें पद के समान है।

३४७. क्षयेत्

यह 'क्षि' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लिङ्'। यहाँ ३४५ वें पद के समान 'क्षय् अ ति' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

३४८. क्षीयात्

यह 'क्षि' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्षि लिङ्'। तब ४९ वे पद की भाँति 'क्ष यात्' रूप बनने पर '४८३–अकृत्सार्वधातुकयोः' से अंग को दीर्घ होकर 'क्ष् ई यात्' = 'क्षीयात्' रूप सिद्ध होता है।

३४९. क्षेता

यह 'क्षि' धातु का लुट् लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्षि लुट्'। यहाँ ४६ वे पद के समान 'क्षि यास् ति' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब पुनः ४६ वें पद की भाँति 'क्षि ता' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश होकर 'क्ष् ए ता' = 'क्षेता' रूप सिद्ध होता है।

३५०. क्षेष्यति

यह 'क्षि' धातु का लृट् लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है 'क्षि लृट्'। इस स्थिति में ४७ वें पद के समान 'क्षि स्य ति' रूप बनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु अनुदात्त होने के कारण '४७५-एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश होकर 'क्ष् ए स्य ति' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'क्ष् ए ष् य ति' = 'क्षेष्यति' रूप सिद्ध होता है।

३५१. गच्छति

यह 'गम्' (गम्लृ) धातु का लट् लकार में प्रथम पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गम् लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'गम् अ ति' रूप बनने पर '५०४–इषुगमियमां०' से मकार को छकार होकर 'गछ् अति' रूप बनता है। तब '१०१-छे च' से 'तुक्' (त्) आगम होकर 'ग त् छ् अ ति' रूप बनने पर '६२–स्तोः श्चुना०' से प्रथम तकार को चकार होकर 'ग च् छ् अ ति' = 'गच्छति' रूप सिद्ध होता है।

३५२. गच्छतु

यह 'गम' धातु को लोट् लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गम् लोट्'। यहाँ ३५१ वे पद के समान 'गच्छति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'गच्छत् उ' = 'गच्छतु' रूप सिद्ध होता है।

३५३. गच्छेत्

यह 'गम्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गम् लिङ्'। तब ३१५ वें पद की भाँति 'गच्छ अ ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

३५४. गदतु

यह 'गद्' (गद) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गद् लोट्'। शेष प्रक्रिया ४२ वें पद के समान है।

३५५. गदिता

यह 'गद्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गद् लुट्'। शेष प्रकिया ४६ वें पद के समान ही है।

३५६. गदिष्यति

यह 'गद्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गद् लृट्'। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

३५७. गदेत्

यह 'गद्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गद् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान ही है।

३५८. गद्यात्

यह 'गद्' धातु का आशिर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गद् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

३५९. गन्ता

यह 'गम्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गम् लुट्'। यहाँ ४६ वें पद के भाँति 'गम् तास् ति' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब पुनः ४६ वें पद के समान 'गम् ता' रूप बनने पर '७८–नश्च०' से मकार के स्थान में अनुस्वार होकर 'गंता' रूप बनेगा। इस स्थिति में '७०–अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार के स्थान में परसवर्ण नकार होकर 'ग न् ता' = 'गन्ता' रूप सिद्ध होता है।

३६०. गमिष्यति

यह 'गम्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लृट्'। इस स्थिति में ४७ वे पद के समान 'गम् स्य ति' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '५०६–गमेरिट्०' से 'इट्' होकर 'गम् इ स्य ति' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'गम् इ ष् य ति' = 'गमिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

३६१. गम्यात्

यह 'गम्' धातु का आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

३६२. गुप्यात्

यह 'गुप्' (गुपू) धातु का 'आशीर्लिङ्' में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गुप् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

३६३. गोपायति

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लट्'[1]। तव ४१ वें पद की भाँति 'गोपाय अ ति' रूप वनने पर '२७४—अतो गुणे' से पररूप-एकादेश होकर 'गोपाय् अ ति' = 'गोपायति' रूप सिद्ध होता है।

३६४. गोपायतु

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लोट्'[1]। तव ३६३ वें पद के समान 'गोपायति' रूप वनने पर '४११—एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'गोपायत् उ' = 'गोपायतु' रूप सिद्ध होता है।

३६५. गोपायाञ्चकर

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'[1]। यहाँ ३६७ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-एकवचन में 'गोपायाञ्चक्र अ' रूप वनने पर '४५६—णलुत्तमो वा' से 'णल्' (अ) की विकल्प से णित् संज्ञा होती है। णित् के अभावपक्ष में वृद्धि नहीं होती है। इस स्थिति में '३८८—सार्वधातुक०' ककारोत्तरवर्त्ती ऋकार को गुण 'अर्' होकर 'गोपायाञ्चक् अर् अ' = 'गोपायाञ्चकर' रूप सिद्ध होता है।

३६६. गोपायाञ्चकर्थ

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मै-पदपरक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'[1]। इस स्थिति में 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' वार्तिक से 'आम्' होकर 'गोपाय आम् लिट्' रूप वनने पर '४७०—अतो लोपः' से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'गोपाय् आम् लिट्' रूप वनेगा। तव '४७१—आमः' से 'लिट्' का लोप होकर 'गोपाय् आम्' रूप वनने पर '४७२—कृञ् चानुप्रयुज्यते०' से लिट्-परक 'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'गोपाय् आम् कृ लिट्' = 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप वनता है। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'सिप्' होकर 'गोपायाम् कृ सि' रूप वनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'सि' के स्थान में 'थल्' (थ) होकर 'गोपायाम् कृ थ' रूप वनेगा। तव ११६ वें पद के समान 'गोपायाम् च कृ थ' रूप वनने पर '७७—मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान

१. पूर्व प्रक्रिया २१ वें पद के समान है।

में अनुस्वार तथा पुनः '७९–अनुस्वारस्य ययि०' से अनुस्वार को परसवर्ण ञकार होकर 'गोपाया ञ् च कृ थ' = 'गोपायाञ्चकृथ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४०० लिट् च' से 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '३८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' के ऋकार के स्थान में गुण 'अर्' होकर 'गोपायाञ्चक् अर् थ' = 'गोपायाञ्चकर्थ' रूप सिद्ध होता है।

३६७. गोपायाञ्चकार

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद परक रूप है। दोनों की रूप सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है।

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है—'गोपाय लिट्।[1] इस स्थिति में ३६६ वें पद की भाँति 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान 'लिट्' के स्थान में 'तिप्' होकर 'गोपायाम् कृ ति' रूप बनेगा। यहाँ '३९२–परस्मैपदानां०' से 'ति' के स्थान में 'णल्' (अ) होकर 'गोपायाम् कृ अ' रूप बनता है। तब पुनः ३६६ वें पद के समान 'गोपायाञ्चकृ अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश और णित् (अ) परे होने के कारण '१८१–अचो ञ्णिति' से वृद्धि-आदेश ये दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं। इस स्थिति में '११२–विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से पहिले '३८८–सार्वधातुक०' से गुण 'अर्' होकर 'गोपायाञ्च क् अर् अ' = 'गोपायाञ्चकर् अ' रूप बनेगा। तब '४५५–अत उपधायाः' से उपधा अकार को वृद्धि आकार होकर 'गोपायाञ्च-क् आ र अ' = 'गोपायाञ्चकार' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ भी पूर्ववत् 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में मिप् होकर 'गोपायाम् कृ मि' रूप बनता है। तब '३९२–परस्मैपदानां०' से 'मि' के स्थान में 'णल्' (अ) होकर 'गोपायाम् कृ अ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत्।

३६८. गोपायाञ्चकृम

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'। यहाँ ३६६ वें पद की भाँति 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में परस्मै-पद 'मस्' होकर 'गोपायाम् कृ मस्' रूप बनेगा। तब '३९२–परस्मैपदानां०' से 'मस्' के स्थान में 'म' होकर 'गोपायाम् कृ म' रूप बनता है। यहाँ पुनः ३६६ वें पद के समान 'गोपायाञ्च कृ म' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु '३५२–असंयोगल्लिट्०' से उसका निषेध हो जाने पर 'गोपायाञ्चकृम' रूप सिद्ध होता है।

१. पूर्व प्रक्रिया २१ वें पद के समान है।

३६९. गोपायाञ्चकृव

यह 'आय'-परक गुप् धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'[1]। यहाँ ३३६ वें पद के समान 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'वस्' होकर 'गोपायाम् कृ वस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९२—परस्मैपदानां०' से 'वस्' के स्थान में 'व' होकर 'गोपायाम् कृ व' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ३६८ वें पद के समान है।

३७०. गोपायाञ्चक्र

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'[1]। इस स्थिति में ३६६ वे पद की भाँति 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'थ' होकर 'गोपायाम् कृ थ' रूप बनता है। तब '३९२—परस्मैपदाना०' से 'थ' के स्थान में 'अ' होकर 'गोपायाम् कृ अ' रूप बनेगा। यहाँ ३६८ वें पद के समान 'गोपायाञ्चकृ अ' रूप बनने पर '१५—इको यणचि' से ऋकार के स्थान में रकार होकर 'गोपायाञ्चक्र् अ' = 'गोपायाञ्चक्र' रूप सिद्धि होता है।

३७१. गोपायाञ्चक्रतुः

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'[1]। तब ३६६ वें पद के समान 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वे पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में परस्मै-पद 'तस्' होकर 'गोपायाम् कृ तस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३९२—परस्मैपदानां०' से 'तस्' के स्थान मे 'अतुस्' होकर 'गोपायाम् कृ अतुस्' रूप बनता है। यहाँ ३७० वें पद के समान 'गोपायञ्चक्रतुस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[2] होकर 'गोपायाञ्चक्रतुः' रूप सिद्ध होता है।

३७२. गोपायाञ्चक्रथुः

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार मे मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'गोपाय लिट्'[1]। यहाँ ३६६ वें पद की भाँति 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में परस्मै-पद 'थस्' होकर 'गोपायाम् कृ थस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९२—परस्मै-पदानां०' से 'थस्' के स्थान में 'अथुस्' होकर 'गोपायाम् कृ अथुस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ३७१ वें पद के समान है।

---

१. पूर्व प्रक्रिया २१ वें पद के समान है।

२. विस्तृत प्रक्रिया के लिये ३१ वें पद की रूपसिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।
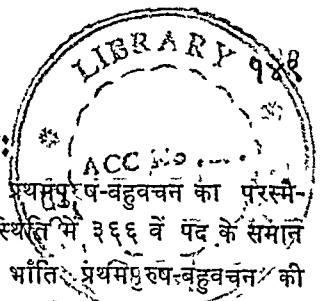
३७३. गोपायांश्चक्रुः

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लिट्'[१]। इस स्थिति में ३६६ वें पद के समान 'गोपायाम् कृ लिट्' रूप बनने पर ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'झि' होकर गोपायाम् कृ झि' रूप बनेगा। तब '३९२–परस्मैपदानां०' से 'झि' के स्थान में 'उस्' होकर 'गोपायाम् कृ उस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ३७१ वें पद के ही समान है।

३७४. गोपायामास

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लिट्'[१]। यहाँ ३६६ वें पद की भाँति 'गोपाय् आम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया २४३ वें पद के समान है।

३७५. गोपायाम्बभूव

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लिट्'[१]। यहाँ भी ३६६ वें पद की भाँति 'गोपाय् आम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २४४ वें पद के समान है।

३७६. गोपायिता

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लुट्'[१]। यहाँ ४६ वें पद की भाँति 'गोपाय इ तास् ति' रूप बनने पर आर्धधातुक परे होने के कारण ४७०–अतो लोपः' से 'गोपाय' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गोपाय् इ तास् ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ४६ वे पद समान है।

३७७. गोपायिष्यति

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लृट्'। इस स्थिति में ४७ वें पद की भाँति 'गोपाय इ स्य ति' रूप बनने पर '४६०–अतो लोपः' से 'गोपाय' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गोपाय इ स्य ति' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४७ वें पद के समान।

३७८. गोपायेत्

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लिङ्'[१]। यहाँ ४८ वें पद की भाँति 'गोपाय अ ति' रूप बनने पर '२७४–अतो गुणे' से पररूप-एकादेश होकर 'गोपाय् अ ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ४८ वें पद के समान है।

---

१. पूर्व प्रक्रिया के लिए २१ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

३७९. गोपाय्यात्

यह 'आय'-परक 'गुप्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-रूप है। मूलरूप है–'गोपाय लिङ्'[1]। तव ४९ वें पद की भाँति 'गोपाय यास् त' रूप वनने पर '४७०–अतो लोपः' से 'गोपाय' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गोपाय् यास् त्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४९ वें पद के समान है।

३८०. गोपिता (गोप्ता)

यह 'गुप्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गुप् लुट्'। यहाँ ४६ वें पद की भाँति 'गुप् तास् ति' रूप बनने पर 'गुप्' के ऊदित् होने के कारण '४७३–स्वरति सूति०' से 'तास्' को विकल्प से 'इट्' होकर 'गुप् इ तास् ति' रूप बनेगा। तव '४५१–पुगन्त' से 'गुप्' की उपधा-उकार को गुण ओकार होकर 'ग् ओ प् इ तास् ति' = 'गोप् इ तास् ति' रूप वनता है। इस स्थिति में पुनः ४६ वें पद की भाँति डात्व आदि होकर 'गोपिता' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभावपक्ष में पूर्ववत् 'गोप्ता' रूप बनता है।

३८१. गोपिष्यति (गोप्स्यति)

यह 'गुप्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गुप् लृट्'। इस स्थिति में ४७ वें पद के समान 'गुप् स्य ति' रूप वनने पर 'गुप्' के उदित् होने के कारण '४७६–स्करति-सूति०' से 'स्य' को विकल्प से 'इट्' होकर 'गुप् इ स्य ति' रूप बनेगा। तव '४५१–पुगन्त०' से 'गुप्' की उपधा-उकार को गुण-ओकार होकर 'ग् ओ प् इ ष् यति' = 'गोपिष्यति' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अमावपक्ष में 'गोप्स्यति' रूप वनता है। यहाँ इण्-इकार न होने से सकार को षकार नहीं होता है।

३८२. गोप्ता

इसके लिए ३८० वें पद की रूपसिद्धि देखिये।

३८३. गोप्स्यति

इसके लिए ३८१ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

३८४. ग्लाता

यह 'ग्लै' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'ग्लै लुट्'। यहाँ ४६ वें पद की भाँति 'ग्लै तास् ति' रूप वनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु अनुदात्त होने से '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तव '४९३–आदेच उपदेशे०' से 'ग्लै' को

---

१. पूर्व प्रक्रिया के लिए [illegible] ...द्धि देखिये।

आत्व होकर 'ग्ल् आ तास् ति' = 'ग्ला तास् ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ४६ वें पद के समान है।

३८५. ग्लायति

यह 'ग्लै' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ग्लै लट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान 'ग्लै अ ति' रूप बनने पर '२२–एचो०' से 'ग्लै' के ऐकार के स्थान में 'आय्' होकर 'ग्ल् आय् अ ति' = 'ग्यालयति' रूप सिद्ध होता है।

३८६. ग्लायतु

यह 'ग्लै' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ग्लै लोट्'। यहाँ ३८५ वें पद की भाँति 'ग्लायति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'ग्लायत् उ' = 'ग्लायतु' रूप सिद्धि होता है।

३८७. ग्लायात्

इसके लिए ३९० वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

३८८. ग्लायेत्

यह 'ग्लै' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ग्लै लिङ्'। यहाँ ४८ वें पद के समान 'ग्लै अ इ य् त्' रूप बनने पर '४२९–लोपो०' से यकार का लोप होकर 'ग्लै अ इ त्' रूप बनेगा। यहाँ '२२–एचो०' से ऐकार के स्थान में 'आय्' होकर 'ग्ल् आ य् अ इ त्' = 'ग्ला य इ त्' रूप बनने पर '२७–आद्गुणः' से गुणादेश होकर 'ग्लाय् ए त् = 'ग्लायेत्' रूप सिद्ध होता है।

३८९. ग्लास्यति

यह 'ग्लै' धातु का लृट लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ग्लै लृट्'। यहाँ ४७ वें पद की भाँति 'ग्लै स्य ति' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४९३–आदेच उपदेशे०' से 'ग्लै' को आत्व होकर 'ग्ल् आ स्य ति' = 'ग्लास्यति' रूप सिद्ध होता है।

३९०. ग्लेयात् (ग्लायात्)

यह 'ग्लै' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'ग्लै लिङ्'। यहाँ ४९ वें पद के समान 'ग्लै यास् त्' रूप बनने पर '४९३–आदेच उपदेशे०' से 'ग्लै' को आत्व होकर 'ग्ल् आ यास् त्' रूप बनता है। तब पुनः ४९ वें पद की भाँति 'ग्ला' के आकार को '४९४–वाऽन्यस्य०' से विकल्प से एकार होकर 'ग्ल् ए यात्' = 'ग्लेयात्' रूप बनता है। एकार के अभावपक्ष में 'ग्लायात्' ही रहता है।

३९१. चकटतुः

यह 'कट्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कट् लिट्'। यहाँ १८८ वें पद की भाँति 'कट् अतुस्' रूप बनने पर '३९४–लिटि धातोः०' से 'कट्' का द्वित्व होकर 'कट् कट् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'कट्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९६–हलादिः शेषः' से उसके टकार का लोप होकर 'क कट् अतुस्' रूप बनेगा। तब '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार को चकार होकर 'च् अ कट् अतुस्' = 'चकटतुस्' रूप बनने पर रुत्व विसर्ग[1] होकर 'चकटतुः' रूप सिद्ध होता है।

३९२. चकमाते

यह 'कम्' (कमु) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिट्'। यहाँ २७६ वें पद की भाँति 'कम् आताम्' रूप बनेगा। तब ३९१ वें पद के समान द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'चकम् आताम्' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'आताम्' के 'आम्' को एकार होकर 'चक्रम् आत् ए' = 'चक्रमाते' रूप सिद्ध होता है।

३९३. चकमाथे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिट्'। यहाँ २७८ वें पद की भाँति 'कम् आथाम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ३९२ वें पद के समान है।

३९४. चकमिध्वे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिट्'। यहाँ २२७ वें पद के समान 'कम् ध्वम्' रूप बनता है। इस स्थिति में ३९१ वें पद की भाँति द्वित्व और अभ्यासकार्य आदि होकर 'चकम् ध्वम्' रूप बनने पर '४००–लिट् च' से 'ध्वम्' की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' होकर 'चकम् इ ध्वम्' रूप बनेगा। तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'ध्वम्' के 'अम्' को एकार होकर 'चकम् इ ध्व् ए' = 'चकमिध्वे' रूप सिद्ध होता है।

३९५. चकमिमहे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिट्'। यहाँ २४१ वें पद की भाँति 'कम् महि' रूप बनेगा। तब ३९४ वें पद के समान 'चकम् इ महि' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'महि' की 'टि'–इकार को एकार होकर 'चकम् इ मह ए' = 'चकमिमहे' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विसर्ग व्याख्या के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

३९६. चकमिरे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है-'कम् लिट्'। यहाँ २२९ पद की भाँति 'कम् झ' रूप बनने पर '५१३—लिटस्तझयोः०' से 'झ' के स्थान में 'इरेच्' (इरे) होकर 'कम् इरे' रूप बनेगा। तब ३९१ वें पद के समान द्वित्व और अभ्यासकार्य आदि होकर 'चकम् इरे' = 'चकमिरे' रूप सिद्ध होता है।

३९७. चकमिषे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिट्'। इस स्थिति में २३१ वें पद के समान 'कम् थास्' रूप बनने पर '५१०—थासः से' से 'थास्' के स्थान में 'से' होकर 'कम् से' रूप बनता है। यहाँ ३९४ वें पद की भाँति 'चकम् इ से' रूप बनने पर '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'चकम् इ ष् ए' = 'चकमिषे' रूप सिद्ध होता है।

३९८. चकमिवहे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कम् लिट्'। शेष प्रक्रिया ३९५ वें पद के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'महि' के स्थान में उत्तमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'वहि' हो जाता है।

३९९. चकमे

यह 'कम्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। दोनों पक्षो की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है—'कम् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति आत्मनेपदपरक प्रत्यय 'त' होकर 'कम् त' रूप बनने पर '५१३—लिटस्तझयोः०' से 'त' के स्थान में 'एश्' (ए) होकर 'कम् ए' रूप बनता है। इस स्थिति में ३९६ वें पद के समान 'चकम् ए' = 'चकमे' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है—'कम् लिट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'इट्' (इ) होकर 'कम् इ' रूप बनेगा। तब ३९६ वें पद की भाँति 'चकम् इ' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'चकमे' रूप सिद्ध होता है।

४००. चकाट

यह 'कट्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है—'कट् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'कट् ति' रूप बनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'ति' के स्थान में 'णल्'

(अ) होकर 'कट् अ' रूप बनेगा। तब ३९१ वें पद के समान 'चकट् अ' रूप बनने पर णित् णल् (अ) परे होने के कारण '४५५—अत उपधायाः' से उपधा-अकार को वृद्धि-आकार होकर 'चक् आ ट् अ' = 'चकाट्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है—'कट् लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'मिप्' (मि) होकर 'कट् मि' रूप बनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'मि' के स्थान में 'णल्' (अ) होकर 'कट् अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

४०१. चक्राम

यह 'क्रम्' (क्रमु) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्रम् लिट्'। शेष प्रक्रिया ४०० वें पद के समान है।

४०२. चिक्षय

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लिट्'। यहाँ ४०० (ख) वें पद की भाँति 'चि क्षि अ'[१] रूप बनने पर '४५६—णलुत्तमो वा' से 'णल्' (अ) की विकल्प से णित् संज्ञा होती है। णित् के अभावपक्ष में '३८८—सार्वधातुक०' से गुण एकार होकर 'चिक्ष् ए अ' रूप बनने पर '२२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'चि क्ष् अय् अ' = 'चिक्षय' रूप सिद्ध होता है।

४०३. चिक्षयिथ (चिक्षेथ)

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मलरूप है 'क्षि लिट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' होकर 'क्षि सि' रूप बनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'सि' के स्थान में 'थल्' (थ) होकर 'क्षि थ' रूप बनेगा। तब ३९१ वें पद के समान 'चिक्षिथ'[१] रूप बनने पर '४००—लिट् च' से 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'क्षि' के अनुदात्त होने के कारण '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '४८२—ऋतो भारद्वाजस्य' से पुनः विकल्प से 'इट्' होकर 'चिक्षि इ थ' रूप बनता है। यहाँ '३८८—सार्वधातुक०' से गुण एकार होकर 'चिक्ष् ए इ थ' रूप बनने पर २२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'चिक्ष् अय् इ थ' = चिक्षयिथ' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव-पक्ष में केवल गुणादेश होकर 'चिक्षेथ' रूप सिद्ध होता है।

४०४. चिक्षाय

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ अभ्यास 'क्षि' में षकार का लोप हो जाने पर ककार ही शेष रहता है। अतः उसके स्थान में चुत्व-चकार होता है।

का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'क्षि लिट्'। यहाँ ४०० वें पद के समान 'चि क्षि अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ णित् णल् (अ) परे होने के कारण '१८२–अचो ञ्णिति' से उस का बाध हो 'क्षि' के इकार के स्थान में वृद्धि ऐकार होकर 'चिक्ष् ऐ अ' रूप बनेगा। तब '२२–एचो०' से ऐकार के स्थान में 'आय्' होकर 'चिक्ष् आय् अ' = 'चिक्षाय' रूप सिद्ध होता है।

४०५. चिक्षिय

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है 'क्षि लिट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'थ' होकर 'क्षि थ' रूप बनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'थ' के स्थान में 'अ' होकर 'क्षि अ' रूप बनेगा। यहाँ ३९१ वें पद के समान 'चि क्षि अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किंतु ४५२–असंयोगाल्लिट्०' से 'अ' के अपित् होने के कारण उसका निषेध हो जाता है। तब '१९९–अचिश्नु०' से 'क्षि' के इकार को 'इयङ्' (इय्) होकर 'चि क्ष् इय् अ' = 'चिक्षिय' रूप सिद्ध होता है।

४०६. चिक्षियतुः

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचनका परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लिट्' यहाँ ३९१ वे पद की भाँति 'चिक्षि अतुस्' रूप बनेगा। तब ४०३ वें पद के समान 'चिक्षियतुस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'चिक्षियतुः' रूप सिद्ध होता है।

४०७. चिक्षियथुः

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लिट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'थस्' होकर 'क्षि थस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'थस्' के स्थान में 'अथुस्' होकर 'क्षि अथुस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४०६ वें पद के समान है।

४०८. चिक्षियिम

यह 'क्षि' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'क्षि लिट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'मस्' होकर 'क्षि मस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'मस्' के स्थान में 'म' होकर 'क्षि म' रूप बनेगा। तब ३९१ वें पद के समान 'च क्षि म' रूप बनने पर '४००–लिट् च' से 'म' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'क्षि' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' में उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '४७९–कृ-सृ-भृ०'

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिये ३१ वें पद की रूप सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

४२३. जगाम

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लिट्'। शेष प्रक्रिया ४२२ वें पद के समान है।

४२४. जग्म

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लिट्'। यहाँ ४१२ (ख) वें पद की भाँति 'जगम् अ' रूप वनने पर '५०५–गमहनजन०' से 'गम्' की उपधा-अकार का लोप होकर 'ज ग् म् अ' = 'जग्म' रूप सिद्ध होता है।

४२५. जग्मतः

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'गम् लिट्'। इस स्थिति में ४१६ वें पद के समान 'जगम् अतुस्' रूप वनने पर '३५२-असंयोगाल्लिट्०' से 'अतुस्' की कित् संज्ञा होने पर '५०५–गमहनजन०' से 'गम्' की उपधा-अकार का लोप होकर 'ज ग् म् अतुस्' = 'जग्मतुस्' रूप वनेगा। तव रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'जग्मतु:' रूप सिद्ध होता है।

४२६. जग्मथुः

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लिट्'। तव '४०७ वें पद की भाँति 'गम् अथुस्' रूप वनेगा। शेप प्रक्रिया ४२५ वें पद के समान है।

४२७. जग्मिम

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुप-वहुवचन का का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लिट्'। यहाँ ४०८ वें पद के समान 'जगम् इ म' रूप वनता है। इस स्थिति में '३५२–असंयोगाल्लिट्०' से 'म' की कित् संज्ञा होने पर '५०५–गमहनजन०' से 'गम्' की उपधा-अकार का लोप होकर 'जग् म् इ म' = 'जग्मिम' रूप सिद्ध होता है।

४२८. जग्मिव

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुप-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है मूलरूप है—'गम् लिट्'। इस स्थिति में ४०९ वें पद के समान 'जगम् इ व' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ४२७ वें पद के समान है।

४२९. जग्मुः

यह 'गम्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गम् लिट्'। यहाँ ४१० वें पद की भाँति 'गम् उस्' रूप वनेगा। शेप प्रक्रिया ४२५ वें पद के समान है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्ध का अन्तिम अंश देखिये।

४३०. जहर्थ

यह 'हृ' (हृञ्) धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिट्'। इस स्थिति में ४०३ वें पद के समान 'हृ थ' रूप बनता है। यहाँ '३९४—लिटि धातोः' से 'हृ' का द्वित्व होकर 'हृ हृ थ' रूप बनेगा। तब '३९५—पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'हृ' की अभ्यास संज्ञा होने पर '२९—उरण् रपरः' की सहायता से '४७३—उरत्' द्वारा ऋकार के स्थान में 'अर्' होकर 'ह् अर् हृ थ' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९६—हलादिः शेषः' से अभ्यास के रकार का लोप होकर 'ह अ हृ थ' रूप बनने पर '४५४—कुहोश्चुः' से अभ्यास के हकार को झकार होकर 'झ् अ हृ थ' रूप बनेगा। तब '३९९—अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के झकार के स्थान में जश् जकार होकर 'ज् अ हृ थ' रूप बनता है। यहाँ '४००—लिट् च' से 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'हृ' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो आता है। '४७९—कृसृभृ०' से पुनः 'इट्' की प्राप्ति होती है, किन्तु '४८०—अचस्तास्वत्०' से फिर उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '२९—उरण् रपरः' की सहायता से '३८८—सार्वधातुक०' से गुण—'अर्' होकर 'जह् अर् थ' = 'जहर्थ' रूप सिद्ध होता है।

४३१. जहार

यह 'हृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिट्'। दोनों पक्षों की रूपसिद्धि अलग-अलग दी जा रही है—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद की भाँति 'हृ अ' रूप बनेगा। तब ४३० वें पद के समान 'जहृ अ' रूप बनने हर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण और णित्-णल् (अ) परे होने के कारण '१८२—अचो ञ्णिति' से वृद्धि—ये दोनों आदेश एक साथ ही प्राप्त होते हैं। इस स्थिति में '११३—विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से पहिले '२९—उरण् रपरः' की सहायता में '३८८—सार्वधातुक०' द्वारा गुण 'अर्' होकर 'जह् अर् अ' रूप बनता है। यहाँ '४५५—अत उपधायाः' से उपधा-अकार को वृद्धि आकार होकर 'जह आर् अ' = 'जहार' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) की भाँति 'हृ अ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है।

४३२. जह्रिम

यह 'हृ' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप—'हृ लिट्'। इस स्थिति में ४०८ वें पद की भाँति 'हृ म' रूप बनेगा। तब ४३० वें पद के समान 'जहृ म' रूप बनता है। यहाँ '४००—लिट् च' से 'म' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु

'हृ' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४७९–कृसृभृ०' से 'इट्' होकर 'जहृ इ म' रूप बनता है। यहाँ '३८८-सार्वधातुकस्य०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'म' के अपित् होने के कारण '४५२ असंयोगाल्लिट्०' से उसका निषेध हो जाता है। इस अवस्था में '१५–इको यणचि' से ऋकार के स्थान में रकार होकर 'जह् र् इ म्' = 'जह्रिम' रूप सिद्ध होता है।

४३३. जह्रिव

यह 'हृ' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'हृ लिट्'। यहाँ ४०९ वें पद की भाँति 'हृ व' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४३२ वें पद के समान है।

४३४. जह्रिषे

यह 'हृ' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिट्'। यहाँ ३९७ वें पद के समान 'हृ से' रूप बनेगा। तब ४३२ वें पद की भाँति से 'जह्रि से' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'जह्रिष् ए' = 'जह्रिषे' रूप सिद्ध होता है।

४३५. जह्रे

यह 'हृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'हृ लिट्'। दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (क) वें पद की भाँति 'हृ ए' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४३२ वें पद के समान[1] है। स्पष्टीकरण के लिए इसी का 'ख' खंड देखा जा सकता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (ख) के समान 'हृ इ' रूप बनता है। इस स्थिति में ४३२ वें पद की भाँति 'ज हृ इ' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'जहृ ए' रूप बनेगा। तब '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'ए' के अपित् होने के कारण '४५२–असंयोगाल्लिट्०' से उसका निषेध हो जाता है। इस अवस्था में '१५–इको यणचि' से ऋकार के स्थान में रकार होकर 'ज ह् र् ए' = 'जह्रे' रूप सिद्ध होता है।

४३६. जह्वर

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन तथा उत्तमपुरुष एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है—

१. अन्तर केवल इतना है कि यहाँ वलादि आर्धधातुक परे न होने के कारण इडागम प्रक्रिया नहीं होगी।

(क) मध्यपुरुष-बहुवचन—यहाँ ४०५ वें पद की भाँति 'ह्वृ अ' रूप बनेगा। तब ४३० वें पद के समान 'ज ह्वृ अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'अ' के अपित् होने के कारण '४५२–असंयोगाल्लिट्०' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '४९६–ऋतश्च०' से पुनः ऋकार के स्थान में '२९–उरण् रपरः' की सहायता से गुण 'अर्' होकर 'ज ह् व् अ र् अ' = 'जह्वर' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) वें पद के समान 'ह्वृ अ' रूप बनता है। इस स्थिति में ४३० वें पद की भाँति 'ज ह्वृ अ' रूप बनने पर '४५६–णलुत्तमो वा' से 'णल्' (अ) की विकल्प से णित् संज्ञा होती है। णित् के अभावपक्ष में '४९६–ऋतश्च०' से गुण होकर 'ज ह् व् अ र् अ' = 'जह्वर' रूप सिद्ध होता है।

४३७. जह्वरतुः

यह (ह्वृ) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'ह्वृ लिट्'। यहाँ १८८ वें पद की भाँति 'ह्वृ अतुस्' रूप बनेगा। ४३६ वें पद के समान 'जह्वरतुस्' रूप बनने पर रुत्वविसर्ग[1] होकर 'जह्वरतुः' रूप सिद्ध होता है।

४३८. जह्वरथुः

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'ह्वृ लिट्'। यहाँ ४०७ वें पद की भाँति 'ह्वृ अथुस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४३७ वें पद के समान है।

४३९. जह्वरिम

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिट्'। इस स्थिति में ४३२ वें पद की भाँति 'ज ह्वृ इ म' रूप बनने पर ४३६ (क) वें पद के समान 'ज ह्व् अ र् इ म' = 'जह्वरिम' रूप सिद्ध होता है।

४४०. जह्वरिव

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिट्'। यहाँ ४०९ वें पद की भाँति 'ह वृ व' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ३३९ वें पद के समान है।

४४१. जह्वरुः

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिट्'। तब ४१० वें पद की भाँति 'ह्वृ उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४३७ वें पद के समान है।

४४२. जह्वर्थ

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिट्'। शेष प्रक्रिया ४३० वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ '३८८—सार्वधातुक०' की जगह '४९६—ऋतश्च०' से गुणादेश होता है।

४४३. जह्वार

यह 'ह्वृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिट्'। शेष प्रक्रिया ४३१ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ '३८८—सार्वधातुक०' की जगह '३९६—ऋतश्च०' से गुणादेश होता है।

४४४. जुगुपतुः

यह 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गुप् लिट्'। शेष प्रक्रिया ४१३ वें पद के समान है। ध्यान रहे कि यहाँ '४५१—पुगन्त०' से गुणादेश नहीं होता, क्योंकि '४५२—असंयोगाल्लिट्०' से उसका निषेध हो जाता है।

४४५. जुगुपुः

यह 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गुप लिट्'। यहाँ ४१० वें पद की भाँति 'गुप् उस्' बनेगा। शेष प्रक्रिया ४४४ वें पद के समान ही है।

४४६. जुगोप

यह 'गुप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गुप् लिट्'। तब ४२२ वें पद की भाँति 'जु गु प् अ' रूप बनने पर '४००—लिट् च' से 'णल्' (अ) की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण '४५१—पुगन्तलघूपधस्य च' से गुप्' धातु की उपधा-उकार को गुण-ओकार होकर 'जु ग् ओ प् अ' = 'जुगोप' रूप सिद्ध होता है।

४४७. जुगोपिथ (जुगोप्थ)

यह 'गुप्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'गुप् लिट्'। इस स्थिति में ४१५ वें पद के समान 'जु गु प् थ' रूप बनने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'गुप्' धातु के उदित् होने के कारण '४७६—स्वरति-सूति०' से उसका बाध हो विकल्प से 'इट्' होकर 'जु गु प् इ थ' रूप बनता है। यहाँ ४५१—पुगन्तलघूपधस्य च' से 'गुप्' की उपधा-उकार के स्थान में गुण-ओकार होकर जु ग् ओ प् इ थ' = 'जुगोपिथ' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभावपक्ष में 'जु ग् ओ प् थ' = जुगोप्थ' रूप बनता है।

४४८. जुगोप्थ

इसके लिये पूर्वपद (४४७) की रूप सिद्धि देखिये।

४४९. ततप्थ

इसके लिये ४५८ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

४५०. तताप

यह 'तप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लिट्'। दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद की भाँति 'तप् अ' रूप बनेगा। तब ३९१ वें पद के समान द्वित्व और हलादि-शेष होकर 'ततप् अ' रूप बनने पर '४५५—अत उपधायाः' से उपधा-अकार को वृद्धि-आकार होकर 'तत् आप् अ' = 'तताप' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) वें पद की भाँति 'तप् अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

४५१. तपति

यह 'तप्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लट्'। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

४५२. तपतु

यह 'तप्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लोट्'। शेष प्रक्रिया ४२ वें पद के समान है।

४५३. तपेत्

यह 'तप्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

४५४. तप्ता

यह 'तप्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लुट्'। यहाँ ४६ वें पद की भाँति 'तप् तास् ति' रूप बनने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'तप्' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४६ वें पद के समान है।

४५५. तप्यात्

यह 'तप्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

४५६. तप्स्यति

यह 'तप्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लृट्'। तब ४७ वें पद की भाँति 'तप् स्य ति' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'तप्' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो 'तप्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

४५७. तेपतुः

यह 'तप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लिट्'। यहाँ ३९१ वें पद की भाँति द्वित्व और हलादि-शेष आदि होकर 'ततप् अतुस्' रूप बनने पर '४५२–असंयोगाल्लिट्०' से 'अतुस्' के कित् होने के कारण '४६०–अत एकहल्मध्ये०' से 'तप्' के अकार को एत्व और अभ्यास के 'त' का लोप होकर 'त् ए प् अतुस्' = 'तेपतुस्' रूप बनता है। तब रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'तेपतुः' रूप सिद्ध होता है।

४५८. तेपिथ (ततप्थ)

यह 'तप्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लिट्'। इस स्थिति में ४०३ वें पद के समान द्वित्व और हलादि-शेष होकर 'त तप् थ' रूप बनने पर '४००–लिट्' से 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा होने से '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'तप्' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४८२–ऋतो भारद्वाजस्य' से पुनः विकल्प से 'इट्' होकर 'त तप् इ थ' रूप बनने पर '४६१–थलि च सेटि' से अभ्यास के 'त' का लोप तथा 'तप्' के अकार को एकार होकर 'त् ए प् इ थ' = 'तेपिथ' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभावपक्ष में 'त तप् थ' = 'ततप्थ' रूप ही रहता है।

४५९. तेपुः

यह 'तप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तप् लिट्'। यहाँ ४१० वें पद की भाँति 'तप् उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४७५ वें पद के समान है।

४६०. त्रपताम्

यह 'त्रप्' (त्रपूष्) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लोट्'। शेष प्रक्रिया ११२ वें पद के समान है।

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

४६१. त्रपते

यह 'त्रप्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

४६२. त्रपिता (त्रप्ता)

यह 'त्रप्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लुट्'। यहाँ ११७ वें पद की भाँति 'त्रप् तास् त' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'त्रप्' ऊदित् होने के कारण '४७६–स्वरतिसूति०' से उसका बाध हो विकल्प से 'इट्' होकर 'त्रप् इ तास् त' रूप बनता है। तब पुनः ४६ वें पद के समान डात्व आदि होकर 'त्रपिता' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभावपक्ष में 'त्रप्ता' रूप बनता है।

४६३. त्रपिषीष्ट (त्रप्सीष्ट)

यह 'त्रप्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लिङ्'। इस स्थिति में १२१ वें पद के समान 'त्रप् सीय् स् त' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से नित्य 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु 'त्रप्' धातु के ऊदित् होने के कारण '४७६–स्वरतिसूति०' से उसका बाध हो विकल्प से 'इट्' होकर 'त्रप् इ सीय् स् त' रूप बनेगा। यहाँ पुनः १२१ वें पद की भाँति यकार लोप आदि होकर 'त्रपिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। इडागम के अभावपक्ष में 'त्रप्सीष्ट रूप है। इसमें इण्–'इट्' न होने के कारण प्रथम सकार को षकार नहीं होता है।

४६४. त्रपिष्यते (त्रप्स्यते)

यह 'त्रप्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लृट्'। यहाँ ११८ वें पद की भाँति 'त्रप् स्य त' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से नित्य इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'त्रप्' धातु के ऊदित् होने के कारण '४७६–स्वरतिसूति०' से उसका बाध होकर विकल्प से 'इट्' हो 'त्रप् इ स्य त' रूप बनता है। तब पुनः ११८ वें पद की भाँति एत्व आदि होकर 'त्रपिष्यते' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' से अभावपक्ष में 'त्रप्स्यते' रूप ही बनता है। इस में इण्–इकार न होने से सकार को षकार नहीं होता है।

४६५. त्रपेत

यह 'त्रप्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'त्रप् लिङ्'। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद के समान है।

४६६. त्रप्ता

इसके लिए ४६२ वें पद की रूप सिद्धि देखिये।

४६७. त्रप्सीष्ट

इसके लिए ४६३ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

४६८. त्रप्स्यते

इसके लिए ४६४ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

४६९. त्रेपे

यह 'त्रप्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'त्रप् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ वें पद की भाँति 'त्रप् ए' रूप बनने पर '३९४–लिटि धातोः०' से 'त्रप् त्रप्' का द्वित्व होकर 'त्रप् ए' रूप बनेगा तब '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'त्रप्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '५४२–तॄफल०' से उसका लोप होकर और 'त्रप्' धातु के अकार को एकार होकर 'त्र् ए प् ए' = 'त्रेपे' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (ख) व पद के समान 'त्रप् इ' रूप बनने पर पूर्ववत् ('क' खंड की भाँति) 'त्रेप् इ' रूप बनेगा। तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'त्रेप्ए' = 'त्रेपे' रूप सिद्ध होता है।

४७०. ददताम्

यह 'दद्' धातु का लोट् लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लोट्'। शेष प्रक्रिया ११२ वें पद के समान है।

४७१. ददते

यह 'दद्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

४७२. ददाते

यह 'दद्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'दद् लिट्'। यहाँ ३९२ वें पद की भाँति द्वित्व और हलादि-शेष आदि होकर 'ददद् आताम्' रूप बनने पर '४६०–अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यास-लोप और अकार को एत्वादेश प्राप्त होता है, किन्तु '५४१-न शसदद०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'आताम्' के 'आम्' को एकार 'ददद् आत् ए' = 'दददाते' रूप सिद्ध होता है।

४७३. दददिरे

यह 'दद्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लिट्'। इस स्थिति में ३९६ वें पद के समान द्वित्व और हलादि-शेष आदि होकर 'ददद् इरे' रूप बनेगा। तब '४६०–अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यासलोप और एत्वादेश प्राप्त होने पर '५४१–न शसदद०' से उसका निषेध होकर 'दददिरे' रूप सिद्ध होता है।

४७४. ददे

यह 'दद्' धातु का लिट्लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूपसिद्धि अलग-अलग दी जा रही है—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (क) वें पद की भाँति द्वित्व और हलादिशेष आदि होकर 'ददद् ए' रूप बनता है। इस स्थिति में '४६०–अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यासलोप और एत्वादेश प्राप्त होता है, किन्तु '५४१–न शसदद०' से उस का निषेध होकर 'ददद् ए' = 'दददे' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (ख) वें पद के समान द्वित्व और हलादि शेष आदि होकर 'ददद् ए' रूप बनने पर '४६०–अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यास-लोप और एत्वादेश प्राप्त होता है, किन्तु '५४१–नशसदद०' से उसका निषेध हो जाता है, तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'ददद् ए' = 'दददे' रूप सिद्ध होता है।

४७५. ददिता

यह 'दद्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लुट्'। शेष प्रक्रिया ११७ वें पद के समान है।

४७६. ददिषीष्ट

यह 'दद्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'दद् लिङ्'। शेष प्रक्रिया १२१ वें पद के समान है।

४७७. ददिष्यते

यह 'दद्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लृट्'। शेष प्रक्रिया ११८ वें पद के समान है।

४७८. ददेत

यह 'दद्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दद् लिङ्'। शेष प्रक्रिया १२२ वें पद के समान है।

४७९. दिद्युते

यह 'द्युत' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'द्युत् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूपसिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (क) वें पद की भाँति द्वित्व होकर 'द्युत् द्युत् ए' रूप बनने पर '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'द्युत्' की अभ्यास संज्ञा होती है। तब '५३७–द्युतिस्वाप्योः०' से अभ्यास के यकार को सम्प्रसारण इकार होकर 'द्इ उत्

द्युत् ए' रूप बनने पर '२५८–संप्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'द् इ त् द्युत्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास के तकार का लोप होकर 'द् इ द्युत् ए' = 'दिद्युते' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (ख) वें पद के समान 'द्युत् इ' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् 'दि द्यु त् इ' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'दि द्यु त् ए' = 'दिद्युते' रूप सिद्ध होता है।

४८०. दुर्भवानि

इसका मूलरूप है—'दुर्+भवानि'। यहाँ '४२०–आनि लोट्' से 'दुर्' उपसर्ग में निमित्त रकार की स्थिति होने से उससे परे 'आनि' के नकार को णकार प्राप्त होता है, किन्तु 'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गप्रतिषेधो वक्तव्यः' वार्तिक से 'दुर्' के उपसर्गत्व के निषेध हो जाने से णकार न होकर 'दुर्भवानि' रूप ही बनता है।

४८१. दुःस्थिति

इसका मूलरूप है—'दुर्+स्थिति'। यहाँ भी 'दुर्' उपसर्ग से परे 'स्था' धातु के सकार को 'उपुसर्गात् सुनोतिसुवति०' ८।३।६५ से षकार प्राप्त होता है, किन्तु 'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' से 'दुर्' के उपसर्गत्व का निषेध हो जाने से षत्व नहीं होता। तब रकार को विसर्ग होकर 'दुःस्थिति' रूप बनता है।

४८२. द्योतते

यह 'द्युत्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'द्युत् लट्'। यहाँ ११३ वें पद की भाँति 'द्युत् अ त' रूप बनने पर '४५१–पुगन्त०' से 'द्युत्' के उकार को गुण ओकार होकर 'द्य् ओ त् अ त' = 'द्योतत' बनेगा। तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'द्योतत् ए' = 'द्योतते' रूप सिद्ध होता है।

४८३. धरति

यह 'धृ' (धृञ्) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'धृ लट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान 'धृ अ ति' रूप बनने पर '३८८ सार्वधातुक०' से '२९–उरण् रपरः' की सहायता से गुण 'अर्' होकर 'ध् अर् अ ति' = 'धरति' रूप सिद्ध होता है।

४८४. धरते

यह 'धृ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'धृ लट्'। इस स्थिति में ११३ वें पद की भाति 'धृ अ त' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' द्वारा '२९–उरण् रपरः' की सहायता से ऋकार के स्थान में गुण 'अर्' होकर 'ध् अर् अ त' = 'धरत' रूप बनेगा। तब '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'धरत् ए' = 'धरते' रूप सिद्ध होता है।

४८५. नदति

यह 'णद्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लट्'[1]। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

४८६. नदतु

यह 'णद्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लोट्'। शेष प्रक्रिया ४२ वें पद के समान है।

४८७. नदिता

यह 'णद्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लुट्'। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

४८८. नदिष्यति

यह 'णद्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लृट्। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

४८९. नदेत्

यह 'णद्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

४९०. नद्यात्

यह 'णद्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नङ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

४९१. ननद

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'। तब ४०२ वें पद की भाँति द्वित्व और हलादि-शेष होकर णित् के अभाव में 'ननद् अ' = 'ननद' रूप सिद्ध होता है।

४९२. ननाद

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नद् लिट्'। शेष प्रक्रिया ४५०वें पद के समान हैं।

४९३. ननन्द

यह 'टुनदि' धातु का लिट् लकार में परस्मैपदपरक रूप है। यह रूप तीन अवस्थाओं में बनता है–प्रथमपुरुष-एकवचन मध्यमपुरुष-बहुवचन और उत्तमपुरुष-एकवचन में। मूलरूप है—'नन्द् लिट्'[2]। यहाँ तीनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है—

---

१. यहाँ '४५८–णो नः' से धातु के णकार को नकार होता है।

२. पूर्वप्रक्रिया ६५ वें पद के समान है।

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद के समान 'नन्द् अ' रूप बनने पर '३९३–लिटि धातोः०' से 'नन्द्' का द्वित्व होकर 'नन्द् नन्द् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'नन्द्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९६–हलादिः शेषः' से उसके नकार और दकार का लोप होकर 'न नन्द् अ' = 'ननन्द' रूप सिद्ध होता है। यहाँ उपधा-अकार न होने के कारण '४५५–अत उपधायाः' से वृद्धि नहीं होती।

(ख) मध्यमपुरुष-बहुवचन—यहाँ ४०५ वें पद की भाँति 'नन्द् अ' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् द्वित्व और हलादि-शेष होकर 'ननन्द् अ' = 'ननन्द' रूप सिद्ध होता है।

(ग) उत्तमपुरुष-एकवचन–यहाँ ४०० (ख) वें पद की भाँति 'नन्द् अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया 'क' खंड के समान है।

४९४. नन्दति

यह 'टुनदि' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नन्द् लट्'[१]। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

४९५. नन्दतु

यह 'टुनदि' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नन्द् लोट्'[१]। शेष प्रक्रिया ४२ वें पद के समान है।

४९६. नन्दिता

यह 'टुनदि' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नन्द् लुट्'[१]। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

४९७. नन्दिष्यति

यह 'टुनदि' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नन्द् लृट्'[१]। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

४९८. नन्देत्

यह 'टुनदि' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नन्द लिङ्'[१]। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

४९९. नन्द्यात्

यह 'टुनदि' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नन्द् लिङ्'[१]। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

५००. नयति

यह 'नी' (णीञ्) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नी लट्'। शेष प्रक्रिया ३४५ वें पद के समान है।

---

१. पूर्वप्रक्रिया ६५ वें पद के समान है।

५०१. नयते

यह 'नी' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नी लट्'। यहाँ ११३ वें पद की भाँति 'नी अ त' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से 'नी' के ईकार के स्थान में गुण-एकार होकर 'न् ए अ त' रूप बनेगा। तव '२२–एचो०' से एकार के स्थान मे 'अय्' आदेश होकर 'न् अ य् अ त' = 'नयत' रूप वनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'नयत् ए' = 'नयते' रूप सिद्ध होता है।

५०२. नेद

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार मे मध्यमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'[१]। इस स्थिति मे ४०५ वें पद के समान 'नद् अ' रूप बनने पर '३९४–लिटि धातोः०' से 'नद्' का द्वित्व होकर 'नद् नद् अ' रूप वनेगा। तव ३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'नद्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '४६०–अत एक-हल्मध्ये०' से उसका लोप तथा अकार को एत्व होकर 'न् ए द् अ' = 'नेद्' रूप सिद्ध होता है।

५०३. नेदतुः

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'नट् लिट्'[१]। यहाँ १८८ वे पद की भाँति 'नद् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में ५०२ वें पद के समान 'नेदतु स्' रूप वनने पर रुत्व-विसर्ग[२] होकर 'नेदतुः' रूप सिद्ध होता है।

५०४. नेदथुः

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'[१]। तव ४०७ वें पद की भाँति 'नद् अथुस्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ५०३ वें पद के समान है।

५०५. नेदिथ

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'[१]। इस स्थिति में '४०३ वें पद के समान 'नद् थ' रूप वनता है। इस स्थिति में '५०२ वे पद की भाँति 'नद् नद् थ' रूप बनने पर '३९५–

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ धातु के णकार के स्थान में '४५८–णो नः' से नकार हुआ है।

२. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूपसिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्ववर्ती 'नद' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९६–हलादिः शेषः' से उसके दकार का लोप होकर 'न नद् थ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४००–लिट् च' से 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' होकर 'न नद् इ थ' रूप बनेगा। तब '४६१–थलि च सेटि' से अभ्यास 'न' का लोप और अकार को एत्व होकर 'न् ए द् इ थ' = 'नेदिथ' रूप सिद्ध होता है।

५०६. नेदिम

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'। तब ४०८ वें पद के समान 'नद् म' रूप बनेगा। यहाँ फिर ५०५ वें पद की भाँति 'न नद् इ म' रूप बनने पर '४६०–अत एकहल्मध्ये०' से अभ्यास 'न' का लोप और अकार को एत्व होकर 'न् ए द् इ म' = 'नेदिम' रूप सिद्ध होता है।

५०७. नेदिव

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'। इस स्थिति में ४०९ वें पद की भाँति 'न द् व' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५०६ वें पद के समान है।

५०८. नेदुः

यह 'णद्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नद् लिट्'। इस स्थिति में ४१० वें पद के समान 'नद् उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५०३ वें पद के समान है।

५०९. पक्ता

यह 'पच्' (डुपचष्) धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक तथा आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पच् लुट्'। तब ४६ वें पद की भाँति 'पच् तास् ति' रूप बनने पर ४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'पच्' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '३०६–चोः कुः' से 'पच्' के चकार को ककार होकर 'पक् तास् ति' रूप बनेगा। यहाँ पुनः ४६ वें पद के समान डात्व आदि होकर 'प क् ता' = 'पक्ता' रूप सिद्ध होता है। आत्मनेपद की प्रक्रिया भी इसी प्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'तिप्' (त) के स्थान में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' हो जाता है।

५१०. पचति

यह 'पच्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पच् लट्'। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

५११. पचते

यह 'पच्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप—'पच् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

५१२. पप

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लिट्'। इस स्थिति में ५०४ वें पद की भाँति 'पा अ' रूप बनने पर '३९४–लिटि धातो:०' से 'पा' का द्वित्व होकर 'पा पा अ' रूप बनता है। यहाँ '३९५–पूर्वोभ्यास:' से प्रथम 'पा' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९८–ह्रस्व:' से उसके आकार को ह्रस्व-अकार होकर 'प् अ पा अ' = 'प पा अ' रूप बनेगा। तब '४८९–आतो लोप०' से 'पा' धातु के आकार का लोप होकर 'प प् अ' = 'पप' रूप सिद्ध होता है।

५१३. पपक्थ

इसके लिए ५२९ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

५१४. पपतुः

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लिट्'। यहाँ १८८ वें पद की भाँति 'पा अतुस्' रूप बनेगा। तब ५१२ वें पद के समान 'पप् अतुस्' = 'पपतुस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'पपतु:' रूप सिद्ध होता है।

५१५. पपथुः

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लिट्'। तब ४०७ वें पद की भाँति 'पा अथुस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५१४ वें पद के समान है।

५१६. पपाच

यह 'पच्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पच् लिट्'। शेष प्रक्रिया ४५० वें पद के समान है।

५१७. पपाथ

इसके लिए अगले (५१८) पद की रूप-सिद्धि देखिये।

५१८. पपिथ (पपाथ)

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लिट्'। इस स्थिति में ४०३ वें पद की भाँति 'पाथ' रूप बनेगा। तब

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

५१२ वें पद के समान 'पपाथ' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'पा' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। यहाँ '४८२–ऋतो भारद्वाजस्य' से पुनः विकल्प से 'इट्' होकर 'प पा इ थ' रूप बनने पर '४८९–आतो लोप०' से 'पा' धातु के आकार का लोप होकर 'प प् इ थ' = 'पपिथ' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव पक्ष में आकर-लोप न होने से 'पपाथ' रूप ही रहता है।

५१९. पपिम

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पा लिट्'। तब ४०८ वें पद की भाँति 'पा म' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५१८ वें पद के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही यहाँ '४७५–एकाच उपदेशे०' से 'इट्'-निषेध प्राप्त होने पर '४७९–कृसृभृ०' से 'इट्' हो जाता है।

५२०. पपिव

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पा लिट्'। यहाँ ४०९ वें पद की भाँति 'पा व' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५१९ वें पद के समान है।

५२१. पपुः

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पा लिट्'। इस स्थिति में ४१० वें पद की भाँति 'पा उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५१४ वें पद के समान है।

५२२. पपौ

यह 'पा' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'पा लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद के समान 'पा अ' रूप बनता है। तब '४८८–आत औ०' से 'णल्' (अ) को औकार होकर 'पा औ' रूप बनेगा। इस स्थिति में ५१२ वें पद की भाँति 'प पा औ' रूप बनने पर '३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि-एकादेश होकर 'प प् औ' = 'पपौ' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) वें पद की भाँति 'पा अ' बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

५२३. पलायते

यह 'परा' उपसर्ग पूर्वक 'अय्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'परा अय् लट्'। इस स्थिति में ११३ वें पद के समान 'परा अयते' रूप बनने पर '५३५–उपसर्गस्य०' से उपसर्ग 'परा' के

रकार का लोप होकर 'प ल् आ अयते' रूप बनेगा। यहाँ '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'प ल् आ य ते' = 'पलायते' रूप सिद्ध होता है।

५२४. पाता

यह 'पा' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लुट्'। शेष प्रक्रिया ४५४ वें पद के समान है।

५२५. पास्यति

यह 'पा' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लृट्'। शेष प्रक्रिया ४५६ वें पद के समान है।

५२६. पिबति

यह 'पा' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'पा अ ति' रूप बनने पर '४८७–पाघ्रा०' से 'पा' के स्थान में 'पिब' होकर 'पिब अ ति' रूप बनता है तब '२७४–अतो गुणे' से पररूप-एकादेश होकर 'पिब् अ ति' = 'पिबति' रूप सिद्ध होता है।

५२७. पिबतु

यह 'पा' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लोट्'। तब ५२६ वें पद के समान 'पिबति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'पि ब त् उ' = 'पिबतु' रूप सिद्धि होता है।

५२८. पिबेत्

यह 'पा' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लिङ्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति 'पा अति' रूप बनने पर '४८७–पाघ्रा०' से 'पा' के स्थान में 'पिब' आदेश होकर 'पिब अति' रूप बनेगा। तब '२७४–अतो गुणे०' से पररूप-एकादेश होकर 'पिब् अति' = 'पिबति' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

५२९. पेचिथ (पपक्थ)

यह 'पच्' धातु का लिट् लकार मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पच् लिट्'। यहाँ ४५८ वें पद की भाँति 'पेचिथ' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभावपक्ष में 'में 'प प च् थ' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से 'पच्' के चकार को ककार होकर 'प प क् थ' = 'पपक्थ' रूप बनता है।

५३०. पेचे

यह 'पच्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पच् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जाती है।

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ वें पद के समान 'पच् ए' रूप बनता है। तब फिर ५०२ वें पद की भाँति 'प् ए च् ए' = 'पेचे' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९० (ख) वें पद की भाँति 'पच् इ' रूप बनेगा। इस स्थिति में ५०२ वें पद के समान 'पेच् इ' रूप बनने पर ५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'पेच् ए' = 'पेचे' रूप सिद्ध होता है।

५३१. पेयात्

यह 'पा' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पा लिङ्'। तब ४९ वें पद के समान 'पा यास् त' रूप बनने पर '४३२—किद् आशिषि' से 'यासुट्' (यास्) की कित् संज्ञा होने के कारण '४९०—एर्लिङि' से 'पा' के आकार को एकार होकर 'प् ए या स् त्' रूप बनता है। यहाँ '३०९—स्कोः संयोगाद्योः०' से सकार का लोप हो 'प् ए या त्' = 'पेयात्' रूप सिद्ध होता है।

५३२. प्रणदति

यह 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'नद्' (णद्) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'प्र नद् लट्'। यहाँ ४८५ वें पद की भाँति 'प्र नदति' रूप बनने पर '४५९—उपसर्गाद् असमासेऽपि०' से 'नद्' धातु के नकार को णकार होकर 'प्र ण् अ दति' = प्रणदति' रूप सिद्ध होता है।

५३३. प्रणिगदति

यह 'प्र' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'गद्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'प्र नि गद् लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति 'प्रनि गद्ति' रूप बनने पर '४५३—नेर्गदनद०' से 'नि' के नकार को णकार होकर 'प्र ण् इ गदति' = प्रणिगदति' रूप सिद्ध होता है।

५३४. प्रणिनदति

यह 'प्र' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'नद्' (णद्) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'प्र + नि नद् लट्'। शेष प्रक्रिया ५३३ वें पद के समान है।

५३५. प्रभवाणि

यह 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है मूलरूप है—'प्र भू लोट्'। इस स्थिति में 'प्रभवानि'[1] रूप बनने पर '४२०—आनि लोट्' से 'भवानि' के 'आनि' में नकार को णकार होकर 'प्र भवा ण् इ' = 'प्रभवाणि' रूप सिद्ध होता है।

---

१. विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'भवानि' पद की रूप-सिद्धि देखिये।

५३६. प्लायते

यह 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अय्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'प्र अय् लट्'। शेष प्रक्रिया ५२३ वें पद के समान है।

५३७. बभर्थ

यह 'भृ' (भृञ्) धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिट्'। इस स्थिति में ४३० वें पद की भाँति 'भ अ भृ थ' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के भकार के स्थान में जश्-बकार होकर 'ब् अ भृथ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४३० वें पद के समान है।

५३८. बभाज

यह 'भज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भज् लिट्'। यहाँ ४०० वें पद की भाँति 'भ भज् अ' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से भकार के स्थान में जश्-बकार होकर 'ब् अ भज् अ' = 'बभज् अ' रूप बनेगा। तब णित् 'णल्' (अ) परे होने के कारण '४५५–अत उपधायाः' से उपधा-अकार को वृद्धि आकार होकर 'बभ् आ ज् अ' = 'बभाज' रूप सिद्ध होता है।

५३९. बभार

यह 'भृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भृ लिट्'। तब ४३१ वें पद के समान 'भ भृ अ' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से भकार के स्थान में बकार होकर 'ब् अ भृ अ' = 'ब भृ अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४३१ वें पद के समान है।

५४०. बभूव

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में परस्मैपदपरक रूप है। यह रूप तीन अवस्थाओं में बनता है—प्रथमपुरुष-एकवचन, मध्यमपुरुष-बहुवचन और उत्तमपुरुष-एकवचन में। मूलरूप है–'भू लिट्'। यहाँ तीनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद की भाँति 'भू अ' रूप बनता है। तब '३९३–भुवो वुग्०' से 'वुक्' (व्) होकर 'भूव् अ' रूप बनने पर '३९४–लिटि धातोः०' से 'भूव्' का द्वित्व होकर भूव् भूव् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३१६–हलादिः शेषः' से उसके वकार का लोप होकर 'भू भूव् अ' रूप बनता है यहाँ '३९७-ह्रस्वः' से अभ्यास को ह्रस्व उकार होकर 'भ् उ भूव् अ' रूप बनने पर '३९८-भवतेरः' से पुनः उकार को अकार होकर 'भ् अ भूव् अ' रूप बनेगा। तब '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के भकार को जश्-बकार होकर 'ब् अ भूव् अ' = 'बभूव' रूप सिद्ध होता है।

(ख) मध्यमपुरुष-वहुवचन—यहाँ ४०५ वें पद की भाँति 'भू अ' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(ग) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) वें पद के समान 'भू अ' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

५४१. वभूवतुः

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिट्'। यहाँ १८८ वें पद की भाँति 'भू अतुस्' रूप वनेगा। तव ५४० वें पद के समान 'वभूव् अतुस्' = 'वभूवतुस्' रूप वनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'वभूवतुः' रूप सिद्ध होता है।

५४२. वभूवथुः

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिट्'। यहाँ ४०७ वें पद को भाँति 'भू अथुस्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया ५४१ वें पद के समान है।

५४३. वभूविथ

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिट्'। इस स्थिति में ४०३ वें पद की भाँति 'भू थ' रूप वनने पर '४००—लिट् च' से 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण '४०१—आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' होकर 'भू इ थ' रूप वनता है। यहाँ ५४० वें पद के समान 'वुक्' आगम्, द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'वभूव् इ थ' = 'वभूविथ' रूप सिद्ध होता है।

५४४. वभूविम

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिट्'। तव ४०८ वें पद की भाँति 'भू म' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ५४३ वें पद के समान है।

विशेष—यहाँ '६५०—श्चुकः किति' से 'इट्'-निषेध की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि '३७९—कृसृभृ०' सूत्र से यहाँ नित्य 'इट्' प्राप्त है।

५४५. वभूविव

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिट्'। इस स्थिति में ४०९ वें पद की भाँति 'भू व' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया ५४४ वें पद के समान है।

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अन्तिम अंश देखिये।

५४६. बभूवुः

यह 'भू' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भू लिट्'। यहाँ ४१० वें पद की भाँति 'भू उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५४१ वें पद के समान है।

५४७. बभृम

यह 'भृ' (भृञ्) धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भृ लिट्'। इस स्थिति में ४०८ वें पद के समान 'भृ म' रूप बनता है। यहाँ ५२७ वें पद की भाँति 'ब् अ भृ म' = 'बभृम' रूप बनने पर '४०१-आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'भृ' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेश०' से उसका निषेध हो जाता है। '४७९-कृसृभृ०' से तो 'भृ' धातु से 'इट्' का निषेध है ही। इस स्थिति में '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होने पर 'म' के अपित् होने के कारण '४५२-असंयोगाल्लिट्०' से उसका निषेध हो 'बभृम' रूप सिद्ध होता है।

५४८. बभृव

यह 'भृ' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिट्'। यहाँ ४०९ वें पद की भाँति 'भृ व' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५४७ वें पद के समान है।

५४९. बभृषे

यह 'भृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिट्'। यहाँ ३९७ वें पद के समान 'भृ से' रूप बनता है। तब ५७४ वें पद की भाँति 'बभृसे' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'बभृ ष् ए' = 'बभृषे' रूप सिद्ध होता है।

५५०. बभ्रतुः

यह 'भृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिट्। यहाँ १८८ वें पद की भाँति 'भृ अतुस्' रूप बनेगा। तब ५३७ वें पद के समान 'बभृ अतुस्' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'अतुस्' के अपित् होने के कारण '४५२–असंयोगाल्लिट्०' से उसका निषेध हो जाता। इस स्थिति में '१५–इको यणचि' से 'भृ' के ऋकार के स्थान में रकार होकर 'बभ् र् अतुस्' = 'बभ्रतुस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'बभ्रतुः' रूप सिद्ध होता है।

५५१. बभ्रुः

यह 'भृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

---

१. रुत्व विसर्ग की प्रक्रिया के लिये ३१ वें पद की रूप-सिद्धि का अंतिम अंश देखिये।

मूलरूप है–'भृ लिट्'। इस स्थिति में ४१० वें पद की भाँति 'भृ उस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५५० वें पद के समान है।

५५२. बभ्रे

यह 'भृ' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिट्' यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है।

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (क) वें पद के समान 'भृ ए' रूप बनेगा। तब ५५० वें पद की भाँति 'बभ् र् ए' = 'बभ्रे' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन–यहाँ ३९९ (ख) वें पद की भाँति 'भृ इ' रूप बनता है। तब ५५० वें पद के समान 'बभृ इ' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'बभृ ए' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१५–इको यणचि' से ऋकार को रकार होकर 'ब भ् र् ए' = 'बभ्रे' रूप सिद्ध होता है।

५५३. भक्ता

यह 'भज्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक तथा आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भज् लुट्'। यहाँ ५०९ वें पद की भाँति 'भग् तास् ति' रूप बनने पर '६४–खरि च' से गकार के स्थान में चर्-ककार होकर 'भ क् तास् ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ५०९ वें पद के समान है।

५५४. भक्ष्यति

यह 'भज्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भज् लृट्'। इस स्थिति में ४५६ वें पद के समान 'इट्'–निषेध आदि होकर 'भज् स्य ति' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से 'भज्' के जकार को कुत्व-गकार होकर 'भग् स्य ति' रूप बनता है। तब '७४–खरि च' से गकार के स्थान में 'चर्'-ककार होकर 'भक् स्य ति' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'भक् ष् यति' रूप बनेगा। यहाँ ककार और षकार के मिल जाने से क्षकार होकर 'भ क्ष् य ति' = 'भक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

५५५. भक्ष्यते

यह 'भज्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भज् लृट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'भज् त' रूप बनेगा। तब पुनः ५५४ वें पद के समान 'भक् ष् य त' = 'भक्ष्यत' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'भक्ष्य त् ए' = 'भक्ष्यते' रूप सिद्ध होता है।

५५६. भजति

यह 'भज्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भज् लट्'। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

५५७. भजते

यह 'भज्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भज् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

५५८. भरताम्

यह 'भृ' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लोट्'। यहाँ ११२ वें पद की भाँति 'भृ अ त' रूप बनने पर '२९—उरण् रपरः' की सहायता से '३८८—सार्वधातुक०' से 'भृ' के ऋकार के स्थान में गुण—'अर्' होकर 'भ् अर् अत' = 'भरत' रूप बनेगा। तब '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'टि' अकार को एत्व होकर 'भरत् ए' रूप बनने पर '५१७—आमेतः' से एकार के स्थान में 'आम्' होकर 'भरत् आम्' = 'भरताम्' रूप सिद्ध होता है।

५५९. भरति

यह 'भृ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लट्'। शेष प्रक्रिया ४८३ वें पद के समान है।

५६०. भरतु

यह 'भृ' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लोट्'। यहाँ ५५९ वें पद की भाँति 'भरति' रूप बनने पर '४११-एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'भरत् उ' = 'भरतु' रूप सिद्ध होता है।

५६१. भरते

यह 'भृ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लट्'। शेष प्रक्रिया ४८४ वें पद के समान है।

५६२. भरिष्यति

यह 'भृ' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लृट्'। यहाँ ४५६ वें पद की भाँति 'इट्'—निषेध आदि होकर 'भृ स्य ति' रूप बनने पर पुनः '४९७—ऋद्धनोः स्ये' से 'स्य' को 'इट्' होकर 'भृ इ स्य ति' रूप बनता है। इस स्थिति में '३८८—सार्वधातुक०' से 'भृ' के ऋकार के स्थान में गुण 'अर्' होकर 'भ् अ र् इस्य ति' रूप बनने पर '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'भ् अर् इ ष् य ति' = 'भरिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

५६३. भरिष्यते

यह 'भृ' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लृट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद के समान आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'भृ त' रूप बनेगा। तब ५६२ वें पद की भाँति 'भ अर् इस्य त' = 'भरिष्यत'

रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'भरि स्य त् ए' रूप बनता है। यहाँ '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'भरि ष् य त् ए'=भरिष्यते' रूप सिद्ध होता है।

५६४. भरेत्

यह 'भृ' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्'। यहाँ ४८ वें पद की भाँति 'भृ अ ति' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से 'भृ' के ऋकार के स्थान में गुण—'अर्' होकर 'भ् अर् अ ति'= 'भरति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ४८ वें पद के समान है।

५६५. भरेत

यह 'भृ' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्'। इस स्थिति में १२२ वें पद के समान 'भृ अ त' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से 'भृ' के ऋकार के स्थान में गुण—'अर्' होकर 'भ् अर् अ त' = 'भरत' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः १२२ वें पद के समान है।

५६६. भर्तासि

यह 'भृ' धातु का लुट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लुट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुप-एकवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'सिप्' होकर 'भृ सि' रूप बनेगा। तब ४६ वें पद के सनान 'भृ तास् सि' रूप बनने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु 'भृ' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '३८८—सार्वधातुक०' से ऋकार के स्थान में गुण—'अर्' होकर 'भ् अर् ता सि' रूप बनने पर '४०६—तासस्त्योः०' से 'तास्' के सकार का लोप होकर 'भ् अर् ता सि' = 'भर्तासि' रूप सिद्ध होता है।

५६७. भर्तासे

यह 'भृ' धातु का लुट् लकार में मध्यमपुरुप-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लुट्'। इस स्थिति में '२५२ वें पद की भाँति 'भृ से' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५६६ वें पद के समान है।

५६८. भव

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में मध्यसपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'सिप्' होकर 'भू सि' रूप बनने पर '३८६—तिङ् शित्०' से 'सिप्' (सि) की सार्वधातुक संज्ञा होने के कारण '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) होकर 'भू अ सि' रूप बनेगा। तब '३८८—सार्वधातुक०' से 'भू' धातु के ऊकार को गुण ओकार होकर

'भ् ओ अ सि' रूप बनने पर '२२–एचो०' से ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश होकर 'भ् अव् अ सि'=भव् अ सि' रूप बनता है। इस स्थिति में '४१५–सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि' होकर 'भव हि' रूप बनने पर अदन्त अंग से परे होने के कारण '४१६–अतो हेः' से 'हि' का लोप होकर 'भव' रूप सिद्ध होता है।

५६९. भवत

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति मध्यमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'थ' होकर 'भू थ' रूप बनने पर ५६८ वें पद के समान 'भव थ' रूप बनता है। यहाँ '४१४–तस्थस्०' से 'थ' को 'त' होकर 'भवत' रूप सिद्ध होता है।[1]

५७०. भवतम्

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'थस्' होकर 'भू थस्' रूप बनने पर ५६८ वें पद की भाँति 'भव थस्' रूप बनेगा तब '४१४–तस्थस्०' से 'थस्' को तम्' होकर 'भवतम्' रूप सिद्ध होता है।

५७१. भवतात्

यह 'भू' धातु का आशीर्वादार्थक लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा मध्यम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही हैं—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ५७४ वें पद की भाँति 'भवतु' रूप बनने पर आशीर्वाद-अर्थ में '४१२–तुह्योस्तातङ्०' से 'तु' के स्थान में 'तातङ्' (तात्) होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) मध्यमपुरुष-एकवचन—यहाँ ५६८ वें पद के समान 'भवहि' रूप बनने पर पूर्ववत् '४१२–तुह्योस्तातङ्०' से 'हि' के स्थान में 'तातङ्' (तात्) होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है।

५७२. भवताम्

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में परस्मैपद प्रत्यय 'तस्' होकर 'भू तस्' रूप बनेगा। तब ५६८ वें पद के समान 'भवतस्' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'तस्' को 'ताम्' होकर 'भवताम् रूप सिद्ध होता है।

---

१. यहाँ ध्यान रहे कि '४१४–तस्थस्०' सूत्र का प्रयोग '४१३–लोटो लङ्वत्' परिभाषा से लोट् के लङ्वत् होने के कारण होता है।

५७३. भवति

यह 'भू' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लट्'। यहाँ ४१ वें पद के समान 'भू ति' रूप बनता है। इस स्थिति में ५६८ वें पद की भाँति 'भवति' रूप सिद्ध होता है।

५७४. भवतु

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्'। इस स्थिति में ५७३ वें पद के समान 'भवति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'भवत् उ' = 'भवतु' रूप सिद्ध होता है।

५७५. भवतः

यह 'भू' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लट्'। तब ५७२ वें पद की भाँति 'भवतस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'भवतः' रूप सिद्ध होता है।

५७६. भवथ

यह 'भू' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लट्'। यहाँ ५६९ वें पद के समान 'भवथ' रूप बनता है।

५७७. भवथः

यह 'भू' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लट्'। इस स्थिति में ५७० वें पद की भाँति 'भू थस्' रूप बनेगा शेष प्रक्रिया ५७५ वें पद के समान है।

५७८. भवन्ति

यह 'भू' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लट्'। यहाँ ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में परस्मैपद प्रत्यय 'झि' होकर 'भू झि' रूप बनता है। इस स्थिति में ५६८ वें पद के समान 'भव झि' रूप बनने पर '३८९–झोऽन्तः' से झकार को 'अन्त्' आदेश होकर 'भव अन्त् इ' रूप बनेगा। तब '२७४–अतो गुणे' से पररूप-एकादेश होकर 'भव् अन्त् इ' = 'भवन्ति' रूप सिद्ध होता है।

५७९. भवन्तु

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भू लोट्'। तब ५७८ वें पद की भाँति 'भवन्ति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से इकार के स्थान में उकार होकर 'भवन्त् उ' = 'भवन्तु' रूप सिद्ध होता है।

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

५८०. भवसि

यह 'भू' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भू लट्' । इस स्थिति में ५६८ वें पद के समान 'भवसि' रूप सिद्ध होता है। इसमें 'सि' के स्थान में 'हि' आदि लोट्-प्रक्रिया नहीं होती।

५८१. भवानि

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्' । यहाँ ४१ वें पद की भाँति उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में परस्मैपद प्रत्यय 'मिप्' होकर 'भू मि' रूप बनेगा। तब ५६८ वें पद के समान 'भव मि' रूप बनने पर '४१३–लोटो लङ्वत्' परिभाषा से '४१४–तस्थस्०' द्वारा 'मिप्' (मि) को 'अम्' प्राप्त होता है, किन्तु '४१७–मेर्निः' से उसका बाध हो 'मिप्' के स्थान में 'नि' आदेश होकर 'भव नि' रूप बनता है। इस स्थिति में '४१८–आड उत्तमस्य०' से 'आट्' (आ) होकर 'भव आ नि' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'भव् आ नि' = 'भवानि' रूप सिद्ध होता है।

५८२. भवाम

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लोट्' । इस स्थिति में ४१ वें पद के समान उत्तमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में परस्मैपद प्रत्यय 'मस्' होकर 'भू मस्' रूप बनता है। तब ५६८ वें पद की भाँति 'भव मस्' रूप बनने पर '४१८–आड् उत्तमस्य०' से 'आट्' (आ) होकर 'भव आ मस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४१३–लोटो लङ्वत्०' से लङ्वत् कार्य प्राप्त होने हर '४२१-नित्यं ङितः' से सकार का लोप होकर 'भव आ म' रूप बनता है। यहाँ '४२-अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश होकर 'भव् आ म' = 'भवाम' रूप सिद्ध होता है।

५८३. भवामि

यह 'भू' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भू लट्' । तब ५८१ वें पद की भाँति 'भव मि' रूप बनने पर '३९०–अतो दीर्घो०' से अदन्त अंग 'भव' को दीर्घ होकर 'भव् आ मि' = 'भवामि' रूप सिद्ध होता है।

५८४. भवामः

यह 'भू' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लट्' । यहाँ ५८२ वें पद के समान 'भू मस्' रूप बनेगा। तब ४८३ वें पद की भाँति 'भवामस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'भवामः' रूप सिद्ध होता है।

५८५. भवाव

यह 'भू' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वें पद को देखिये।

५९७. भविष्यतः

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। यहाँ ५७२ वें पद की भाँति 'भू तस्' रूप बनता है। तब ५९६ वें पद के समान 'भविष्यतस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'भविष्यतः' रूप सिद्ध होता है।

५९८. भविष्यथ

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। तब ५६९ वें पद की भाँति 'भू थ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ५९६ वें पद के समान है।

५९९. भविष्यथः

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। इस स्थिति में ५७० वें पद की भाँति 'भू थस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५९७ वें पद के समान है।

६००. भविष्यन्ति

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। यहाँ ५७८ वें पद के समान 'भू झि' रूप बनेगा। तब ५९६ वें पद की भाँति 'भविष्य झि' रूप बनने पर '३८९—झोऽन्तः' से झकार के स्थान में अन्त्' आदेश होकर 'भविष्य अन्त् इ' रूप बनता है। इस स्थिति में '२७४—अतो गुणे' से पररूप-एकादेश होकर 'भविष्य् अन्त् इ' = 'भविष्यन्ति' रूप सिद्ध होता है।

६०१. भविष्यसि

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। इस स्थिति में ५६८ वें पद की भाँति 'भू सि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५९६ वें पद के समान है।

६०२. भविष्यामि

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। यहाँ ५८१ वें पद के समान 'भू मि' रूप बनेगा। तब ५९६ वें पद की भाँति 'भविष्य मि' रूप बनने पर '३९०—अतो दीर्घो०' से अदन्त अंग 'भविष्य' को दीर्घादेश होकर 'भविष्य् आ मि' = भविष्यामि' रूप सिद्ध होता है।

६०३. भविष्यामः

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। तब ५८२ वें पद की भाँति 'भू मस्' रूप बनता है। इस स्थिति में

---

१. रुत्व-विसर्ग प्रक्रिया के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

६०२ वें पद के समान 'भविष्या मस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'भविष्यामः' रूप सिद्ध होता है।

६०४. भविष्यावः

यह 'भू' धातु का लृट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लृट्'। इस स्थिति में ५८५ वें पद की भाँति 'भू वस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ६०३ वें पद के समान है।

६०५. भवेत्

यह 'भू' धातु का विधिलिङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद के समान 'भू अ ति' रूप बनने पर '२८८–सार्वधातुक०' से 'भू' धातु के ऊकार को ओकार होकर 'भो अ ति' रूप बनता है। स्थिति में '२२–एचो०' से ओकार के स्थान में 'अव्' होकर 'भ् अव् अति' ='भव् अति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

६०६. भवेत

यह 'भू' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। इस स्थिति में ५६९ वें पद की भाँति 'भू थ' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'थ' के स्थान में 'त' होकर 'भू त' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ६०५ वें पद के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रत्यय में इकार न होने से '४२४–इतश्च' सूत्र का प्रयोग नहीं होता।

६०७. भवेतम्

यह 'भू' धातु का विधिलिङ् में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। तब ५७० वें पद की भाँति 'भू थस्' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'थस् के स्थान में 'तम्' होकर 'भू तम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६०६ वें पद के समान है।

६०८. भवेताम्

यह 'भू' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। यहाँ ५७२ वें पद को भाँति 'भू तस्' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'तस्' के स्थान में 'तास्' होकर 'भू तास्' रूप बनेगा शेष प्रक्रिया ५०७ वें पद के समान है।

६०९. भवेम

यह 'भू' धातु का विधिलिङ्' में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। इस स्थिति में ५८२ वें पद के समान 'भू मस्' रूप बनने पर

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

६२१. भूयास्व

यह 'भू' धातु का आशीर्लिङ् में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। इस स्थिति में ५८५ वें पद की भाँति 'भू वस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ६२० वें पद के समान है।

६२२. भूयाः

यह 'भू' धातु का आशीर्लिङ् में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भू लिङ्'। तब ५६८ वें पद के समान 'भू सि' रूप बनता है। इस स्थिति में ६१४ वें पद की भाँति 'भू या स्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'भूयाः' रूप सिद्ध होता है।

६२३. भृषीयास्ताम्

यह 'भृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्'। इस स्थिति में ४१ वें पद की भाँति प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'आताम्' होकर 'भृ आताम्' रूप बनेगा। तब २५९ वें पद के समान 'भृ सीय् आस् ताम्' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'भृ' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। यहाँ पुनः '३८८–सार्वधातुक०' से गुण आदेश प्राप्त होता है, किन्तु '५४४–उश्च' से ऋवर्ग से परे झलादि लिङ्–'सीय् आस् ताम्' के कित् होने के कारण '४३३–क्ङिति च' से उसका भी निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से प्रथम सकार को षकार होकर 'भृ ष् ई य् आ स् ताम्' = 'भृषीयास्ताम्' रूप सिद्ध होता है।

६२४. भृषीष्ट

यह 'भृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्'। यहाँ १२१ वें पद के समान 'भृ सीय् स् त' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'भृ' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५–एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। तब पुनः '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश प्राप्त होने पर '५४४–उश्च' से झलादि लिङ् के कित् होने के कारण '४३३–क्ङिति' से उसका भी निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '४२९–लोपो०' से यकार का लोप होकर भृ सी स् त' रूप बनने पर दोनों सकारों को '१५०–आदेषप्रत्यययोः' से षत्व होकर 'भृ ष् ई ष् त' रूप बनेगा। यहाँ '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'भृ ष् ई ष् ट् अ' = 'भृषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६२५. भेजे

यह 'भज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'भज् लिट्' । शेष प्रक्रिया ४६९ वें पद के समान है ।

६२६. भ्रियात्

यह 'भृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्' । यहाँ ६१४ वें पद की भाँति गुण-निषेध आदि होकर 'भृ यात्' रूप बनने पर '५४३-रिङ्०' से ऋकार के स्थान में 'रिङ्' ('रि') होकर 'भ् रि यात्' = 'भ्रियात्' रूप सिद्ध होता है ।

६२७. यक्षीष्ट

यह 'यज्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लिङ्' । इस स्थिति में ६२४ वें पद की भाँति 'इट्' निषेध होकर 'यज् सीय् स् त्' रूप बनने पर '४२९-लोपो०' से यकार का लोप होकर 'यज् सी स् त्' रूप बनता है। तब '३०७-व्रश्च-भ्रस्ज०' से 'यज्' के जकार को षकार होकर 'यष् सी स् त' रूप बनने पर '५४८-षढोः कः०' से षकार को ककार होकर 'यक् सी स् त' रूप बनेगा । यहाँ '१५०–आदेश प्रत्ययोः' से दोनों सकारों को षत्व होकर 'यक् ष् ई ष् त' रूप बनने पर ककार और षकार के योग से क्षकार होकर 'यक्ष् ई ष् त' रूप बनता है । इस स्थिति में '६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'यक्ष् ई ष् ट् अ = 'यक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६२८. यक्ष्यति

यह 'यज्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लृट्' । तब ५५४ वें पद के समान 'इट्'-निषेध आदि हो कर 'यज् स्य ति' रूप बनने पर '३०७-व्रश्च-भ्रस्ज०' से 'यज्' के जकार के स्थान में षकार होकर 'यष् स्य ति' रूप बनेगा। तब '५४८-षढोः कः०' से षकार को ककार होकर 'यक् स्य ति' रूप बनता है । शेष प्रक्रिया पुनः ५५४ वें पद के समान है ।

६२९. यक्ष्यते

यह 'यज्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लृट्' । यहाँ ५५५ वें पद की भाँति 'यज् त' रूप बनता है। यहाँ ६२८ वें पद के समान 'यक्ष्यत' रूप बनने पर '५०८-टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'यक्ष्यत्ए' = 'यक्ष्यते' रूप सिद्ध होता है ।

६३०. यजति

यह 'यज्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लट्' । शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

६३१. जयते

यह 'यज्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

६३२. यष्टा

यह 'यज्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक तथा आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'यज् लुट्'। यहाँ ५०९ वें पद की भाँति 'इट्'-निषेध आदि होकर 'यज् तास् ति' रूप बनने पर '३०७ व्रश्च-भ्रस्ज०' से 'यज्' के जकार को षकार होकर 'यष् तास् ति' रूप बनेगा। तब पुनः ५०९ वें पद के समान 'यष् ता' रूप बनने पर '६४-ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'यष् ट् आ' = 'यष्टा' रूप सिद्ध होता है।

६३३. वक्ष्यति

यह 'वह्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लृट्'। इस स्थिति में ५५४ वें पद के समान 'इट्'–निषेध आदि होकर 'वह् स्य ति' रूप बनने पर '२५१-होढः' से हकार को ढकार होकर 'वढ् स्य ति' रूप बनता है। तब '५४८-षढोः कः सि' ढकार के स्थान में ककार होकर 'वक् स्य ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ५५४ वें पद के समान है।

६३४. वर्तताम्

यह 'वृत्' (वृतु) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लोट्'। तब ११२ वें पद की भाँति 'वृत् अत' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त०' से 'वृत्' के ऋकार स्थान में गुण–'अर्' होकर 'व् अर् त् अ त' = 'वर्त् अत' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ११२ वें पद के समान है।

६३५. वर्तते

यह 'वृत्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लट्'। इस स्थिति में ६३४ वें पद के समान 'वर्त् अ त' रूप बनने पर '५०८-टित आत्मनेपदानां०' से एत्व होकर 'वर्त् अ त् ए' = 'वर्तते' रूप सिद्ध होता है।

६३६. वर्तिता

यह 'वृत्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लुट्'। यहाँ ११७ वें पद की भाँति 'वृत् इ त् आ' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त०' से 'वृत्' के ऋकार को गुण–'अर्' होकर 'व् अर् त् इ त् आ' = 'वर्तिता' रूप सिद्ध होता है।

६३७. वर्तिषीष्ट

यह 'वृत्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लिङ्'। तब १२१ वें पद के समान इडागम होकर 'वृत् इ सीय् स् त' रूप बनने पर '४५१–' से 'वृत्' के ऋकार को गुण–'अर्' होकर 'व् अर् त् इ सीय् स् त' = 'वर्ति सीय् स् त' रूप बनेगा। शेष पुनः १२१ वें पद के समान है।

६३८. वर्तिष्यते

यह 'वृत्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लृट्'। इस स्थिति में ११८ वें पद की भाँति 'वृत् इ स्यत' रूप बनने पर '४१५—पुगन्त०' से 'वृत्' के ऋकार के स्थान में गुण-'अर्' होकर 'व् अर् त् इ स्य त' = 'वर्त् इ स्य त' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया पुनः ११८ वें पद के समान है।

६३९. वर्तेत

यह 'वृत्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुप-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लिङ्'। यहाँ १२२ वें पद की भाँति 'वृत् अत' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त०' से गुण होकर 'व् अर् त् अत' = 'वर्त् अत' रूप बनेगा। शेप प्रक्रिया पुनः १२२ वें पद के समान है।

६४०. वर्त्स्यति

यह 'वृत्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत लृट्'। तब '५३९ वृद्भ्यः०' से विकल्प से परस्मैपद प्राप्त होने पर ४७ वें पद के समान 'वृत् स्य ति' रूप बनता है। इस स्थिति में '४०१-आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु '५४०—न वृद्भ्यः०' से उसका निषेध हो जाने पर '४५१—पुगन्त०' से गुण होकर 'व् अर् त् स्य ति' = 'वर्त्स्यति' रूप सिद्ध होता है।

६४१. ववृते

यह 'वृत्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वृत् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुप-एकवचन-यहाँ ३९९ (क) वें पद की भाँति 'वृत् वृत् ए' रूप बनने पर '३९५-पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'वृत्' की अभ्यास संज्ञा होने के कारण '४७३-उरत्' से उसके ऋकार को 'अर्' होकर 'व् अर् त् वृत् ए' रूप बनेगा। तब '३९६-हलादिः शेषः' से अभ्यास के रकार और तकार का लोप होकर-'व् अ वृत् ए' = 'ववृते' रूप सिद्ध होता है। इसमें 'ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन' परिभाषा से गुण से पूर्व ही '४५२—असंयोगात्०' से कित् हो जाता है, अतः '४५१—पुगन्त०' से गुण प्राप्त होने पर '४३३—क्ङिति' से उसका निषेध हो जाता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (ख) वें पद के समान 'वृत् इ' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् 'व् वृत् इ' रूप बनने पर '५०८—टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार होकर 'व वृत् ए' = 'ववृते' रूप सिद्ध होता है।

६४२. वव्राज

यह 'व्रज्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचन तथा उत्तमपुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद की भाँति द्वित्व होकर 'व्रज् व्रज् अ' रूप बनने पर '३९५—पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'व्रज्' की अभ्यास संज्ञा होने के कारण '३९६—हलादिः शेषः' से उसके रकार और जकार का लोप होकर 'व व्रज् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५५—अत उपधायाः' से उपधा-अकार को वृद्धि-आकार होकर 'वव्र् आ ज् अ' = 'वव्राज' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) वें पद के समान 'व्रज् अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

६४३. वहति

यह 'वह्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लट्'। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

६४४. वहते

यह 'वह्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लट्'। शेष प्रक्रिया ११३ वें पद के समान है।

६४५. वोढा

यह 'वह् धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप तथा आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वह् लुट्'। दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग अलग दी जा रही है :—

(क) परस्मैपदपरक—यहाँ ४६ वें पद की भाँति 'वह् तास् ति' रूप बनने पर '४०१—आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'वह्' धातु के अनुदात्त हाने के कारण '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '२५१—हो ढः' से हकार को ढकार होकर 'वढ् तास् ति' रूप बनने पर '५४९—झषस्तथोः०' से 'तास्' के तकार को धकार होकर 'वढ् ध् आस् ति' रूप बनेगा तब '६४—ष्टुना ष्टुः' से धकार के स्थान में ढकार होने पर 'वढ् ढ् आस् ति' रूप बनता है। यहाँ '५५०—ढो ढे लोपः' से पूर्ववर्ती ढकार का लोप होकर 'वढ् आस् ति' रूप बनने पर '५५१—सहि-वहोरोद०' से वकारोत्तरवर्ती अकार को ओकार होकर 'व् ओ ढ् आस् ति' = 'वोढास् ति' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः ४६ वें पद के समान है।

(ख) आत्मनेपदपरक—यह ११७ वें पद के समान 'वह् त' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

६४६. व्रजति

यह 'व्रज्' (व्रज) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लट्'। शेष प्रक्रिया ४१ वें पद के समान है।

६४७. व्रजतु

यह व्रज्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लोट्'। शेष प्रक्रिया ४२ वें पद के समान है।

६४८. व्रजिता

यह 'व्रज्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लुट्'। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

६४९. व्रजिष्यति

यह 'व्रज्' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लृट्'। शेष प्रक्रिया ४७ वें पद के समान है।

६५०. व्रजेत्

यह 'व्रज्' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज लिङ्'। प्रक्रिया ४८ वें पद के समान है।

६५१. व्रज्यात्

यह 'व्रज्' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्रज् लिङ्'। शेष प्रक्रिया ४९ वें पद के समान है।

६५२. शिश्राय

यह 'श्रि' (श्रिञ्) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लिट्'। यहाँ ६४२ वें पद की भाँति हलादि-शेष होकर 'शि श्रि अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुण एकार होकर 'शिश्र् ए अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२२–एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'शि श्र् अय् अ' = 'शि श्रय् अ' रूप बनने पर '४५५–अत उपधायाः' से उपधा-वृद्धि होकर 'शि श्र् आ य् अ' = 'शिश्राय' रूप सिद्ध होता है।

६५३. शिश्रिये

यह 'श्रि' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (क) वें पद के समान 'श्रि श्रि ए' रूप बनने पर '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'श्रि' की अभ्यास संज्ञा होने के कारण '३९६–हलादिः शेषः' से उसके रकार का लोप होकर 'श् इ श्रि ए' = 'शि श्रि ए' रूप बनता है। इस स्थिति में '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है। किन्तु '४५२–असंयोगात्०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '१९९–अचि श्नु०' से 'श्रि' के इकार के स्थान में 'इयङ्' आदेश होकर 'शि श्र् इ य् ए' = 'शिश्रिये' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ३९९ (ख) वें पद की भाँति 'श्रि इ' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् शि श्र् इय् इ' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'इ' को एकार 'शि श्र् इ य् ए = 'शिश्रिये' रूप सिद्ध होता है।

६५४. शुश्रुव

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। तव ४९१ वें पद की भाँति णित् के अभावपक्ष में 'शु श्रु अ' रूप वनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण-ओकार होकर 'शु श्र् ओ अ' रूप वनेगा। तव '२२—एचो०' से ओकार के स्थान में 'अव्' होकर 'शु श्र् अव् अ' = 'शुश्रव' रूप सिद्ध होता है।

६५५. शुश्राव

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन तथा प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। इस स्थिति में ४५० वें पद के समान 'शु श्रु अ' रूप वनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण और '१८२—अचो ञ्णिति' से वृद्धि ये दोनों आदेश एक साथ ही प्राप्त होते है। यहाँ '११३—विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से पहिले '३८८—सार्वधातुक०' से गुण-ओकार होकर 'शु श्र् ओ अ' रूप वनने पर '२२—एचो०' से ओकार को 'अव्' होकर 'शु श्र् अव् अ' = 'शु श्र व् अ' रूप वनेगा। तव '४५५—अत उपधायाः' से उपधावृद्धि होकर 'शु श्र् आव् अ' = 'शुश्राव' रूप सिद्ध होता है।

६५६. शुश्रुम

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। यहाँ ४०८ वें पद की भाँति हलादि-शेष होकर 'शु श्रु म' रूप वनने पर '४००—लिट् च' से 'म' की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण '४०१—आर्धधातुकस्य०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु 'श्रु' धातु के अनुदात्त होने के कारण '४७५—एकाच उपदेशे०' से उसका निषेध हो जाता है। '४७९—कृसृभृ०' से भी 'इट्' निषेध प्राप्त है। इस स्थिति में पुनः '३८८—सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होने पर '४५२—असंयोगात्०' से उसका निषेध हो 'शुश्रुम' रूप सिद्ध होता है।

६५७. शुश्रुव

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। यहाँ ४०९ वें पद की भाँति 'श्रु व' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ६५६ वें पद के समान है।

६५८. शुश्रुवतुः

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। इस स्थिति में ३९१ वें पद के समान हलादि-शेष होकर 'शु श्र् अतुस्' रूप वनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु '४५२—असंयोगात्०' से कित् होने के कारण '४३३—ग्क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तव '१९९—अचि श्नु०' से 'श्रु' के उकार के स्थान में 'उवङ्' (उव्) आदेश

होकर 'शु श्र् वउ अतुस् = 'शुवश्रुतुस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'शुश्रुवतुः' रूप सिद्ध होता है।[1]

६५९. शुश्रुवथुः

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। यहाँ ४०७ वें पद की भाँति 'श्रु अथुस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ६५८ वें पद के समान है।

६६०. शुश्रुवुः

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। यहाँ ४१० वें पद की भाँति 'श्रु उस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६५८ वें पद के समान है।

६६१. शुश्रोथ

यह 'श्रु' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिट्'। इस स्थिति में ४०३ वें पद के समान 'श्रु थ' रूप बनेगा। तब ६५६ वें पद की भाँति 'इट्' निषेध होकर 'शु श्रु थ' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण-ओकार होकर 'शु श्र् ओ थ' = 'शुश्रोथ' रूप सिद्ध होता है।

६६२. शृणवानि

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। तब ५८१ वें पद की भाँति 'श्रु मि' रूप बनने पर '४१७—मेर्निः' से 'मि' के स्थान में 'नि' होकर 'श्रु नि' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४९९—श्रुवः शृ च' से 'श्रु' धातु के स्थान में 'शृ' तथा 'श्नु' प्रत्यय होकर 'शृ नु नि' रूप बनने पर '४१८—आड् उत्तमस्य०' से 'अट्' (आ) होकर 'शृ नु आ नि'[2] रूप बनता है। यहाँ 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से 'नु' के नकार को णत्व होकर 'शृ ण् उ आ नि' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण—ओकार होकर 'शृ ण् ओ आ नि' रूप बनेगा। तब '२२—एचो०' से ओकार के स्थान में 'अव्' होकर 'शृण् अव् आ नि' = 'शृणवानि' रूप सिद्ध होता है।

६६३. शृणवाम

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। यहाँ ५८२ वें पद की भाँति 'श्रु म स्' रूप बनने पर '४२१—

१. रुत्व-विसर्ग के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

२. इस अवस्था में 'श्नु' (नु) प्रत्यय के सार्वधातुक होने के कारण '३८८-सार्वधातुक०' से गुणादेश की शंका न करनी चाहिये क्योंकि '५००-सार्वधातुकमपित्' से उसके ङिद्वत् होने के कारण '४३३-क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। 'श्नु' प्रत्यय के विषय में ऐसा सर्वत्र ही समझना चाहिये।

नित्यं ङितः' से 'मस्' के सकार का लोप होकर 'श्रु म' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६६२ वें पद के समान है।

६६४. शृणवाव

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। इस स्थिति में ५८५ वें पद की भाँति 'श्रु वस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ६६३ वें पद के समान है।

६६५. शृणु

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्' तब ५६८ वें पद के समान 'श्रु सि' रूप बनने पर '४९९—श्रुवः शृ च' से 'श्रु' धातु के स्थान में 'शृ' तथा 'श्नु' (नु) होकर 'शृ नु सि' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से 'नु' के नकार को णत्व होकर 'शृ णु सि' रूप बनने पर '४१५—सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान में 'हि' होकर 'शृ णु हि' रूप बनता है। यहाँ '३८८ सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'हि' अपित् होने से '५००—सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हो जाता है। ङिद्वत् होने के कारण '४३३—क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तब '५०३—उतश्च प्रत्ययाद्०' से 'हि' का लोप होकर 'शृणु' रूप सिद्ध होता है।

६६६. शृणुत

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। यहाँ ५६९ वें पद की भाँति 'श्रु थ' रूप बनता है तब ६६५ वें पद के समान गुण-निषेध होकर 'शृणु थ' रूप बनने पर '४१३—लोटो लङ्वत्' परिभाषा से लङ्वत् कार्य प्राप्त होने पर '४१४—तस्थस्०' से 'थ' के स्थान में 'त' होकर 'शृणुत' रूप सिद्ध होता है।

६६७. शृणुतम्

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। इस स्थिति में ५७० वें पद के समान 'श्रु थस्' रूप बनेगा। यहाँ ६६६ वें पद की भाँति 'शृ णुथस्' रूप बनने पर '४१४—तस्थस्०' से 'थस्' को 'तम्' होकर 'शृणुतम्' रूप सिद्ध होता है।

६६८. शृणुतात्

यह 'श्रु' धातु का आशीर्वादार्थक लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा मध्यम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ६८५ वें पद की भाँति 'शृ णु तु' रूप बनने पर '४१२–तुह्योस्तातङ्०' से 'तु' के स्थान मे 'तातङ्' (तात्) होकर 'शृणुतात्' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि इस स्थिति में 'तातङ्' के ङित् होने के कारण '३८८–सार्वधातुक०' से प्राप्त गुणादेश का '४३३–ग्क्ङिति च' से निषेध हो जाता है।

(ख) मध्यमपुरुष-एकवचन—यहाँ ६६५ वें पद के समान 'शृ णु हि' रूप बनने पर पूर्ववत् '४१२–तुह्योः०' से 'हि' के स्थान में विकल्प से 'तात्' (तातङ्) होकर 'शृणुतात्' रूप सिद्ध होता है।

६६९. शृणुताम्

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार मे प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। तव ५७२ वें पद की भाँति 'श्रु तस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में ६६६ वें पद के समान 'शृ णु तस्' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'तस्' को 'ताम्' होकर 'शृणुताम्' रूप सिद्ध होता है।

६७०. शृणुतः

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'श्रु लट्' ६६९ वें पद की भाँति 'शृणुतस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'शृणुत.' रूप सिद्ध होता है।[1]

६७१. शृणुथ

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लट्'। तव ६६६ वें पद के समान गुण-निषेध होकर 'शृणुथ' रूप सिद्ध होता है।

६७२. शृणुथः

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'श्रु लट्'। इस स्थिति में ६६७ वें पद की भाँति गुण-निषेध होकर 'शृणुथस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'शृणुथः' रूप सिद्ध होता है।

६७३. शृणुमः (शृण्मः)

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-वहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'श्रु लुट्'। यहाँ ५८२ वें पद के समान 'श्रु मस्' रूप वनेगा। तव ६६५ वें पद के समान 'शृणु मस्' रूप बनने पर '३८८-सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु '५००-सार्वधातुकमपित्' से 'मस्' के ङिद्वत् होने के कारण '४३३-ग्क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में ५०२–लोपश्च०' से 'शृणु' के उकार का विकल्प से लोप होकर 'शृण् मस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग होकर 'शृण्मः' रूप सिद्ध होता है।[1] उकार के लोपाभावपक्ष में केवल रुत्व-विसर्ग 'शृणुमः' रूप सिद्ध होता है।

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

६७४. शृणुवः

(शृण्वः) यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लट्'। इस स्थिति में ५८५ वें पद की भाँति 'श्रु वस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६७३ वें पद के समान है।

६७५. शृणुयात्

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। यहाँ ४१ वें पद के समान 'श्रु ति' रूप बनने पर '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' प्राप्त होता है, किन्तु '४९९–श्रुवः शृ च' से उसका बाध हो 'श्रु' धातु के स्थान में 'शृ' तथा 'श्नु' प्रत्यय होकर 'शृ नु ति' रूप बनेगा। तब 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से 'नु के नकार को णकार होकर 'शृ णु ति' रूप बनने पर '४२६–यासुट्०' से 'तिप्' (ति) को 'यासुट्' (यास्) होकर 'शृ णु यास् ति' रूप बनता है। इस स्थिति में '३८८–सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'यासुट्' (यास्) के ङिद्वत् होने के कारण '४३३–क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तथा '४२७–लिङः सलोपो०' से अनन्त्य सकार का लोप होकर 'शृणुया ति' रूप बनने पर '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'शृणुयात्' रूप सिद्ध होता है।

६७६. शृणुयात

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में मध्यमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। इस स्थिति में ५६९ वें पद की भाँति 'श्रु थ' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'थ' को 'त' होकर 'श्रु त' रूप बनेगा। तब ६७५ वें पद के समान 'शृ णु या त' रूप सिद्ध होता है। प्रत्यय में इकार न होने से इसमें '४२४–इतश्च' सूत्र का प्रयोग नही होता है।

६७७. शृणुयातम्

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। तब ५७० वें पद की भाँति 'श्रु थस्' रूप बनने पर '४१४–तस्थस्०' से 'थस्' के स्थान में 'तम्' होकर 'श्रु तम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६७६ वें पद के समान है।

६७८. शृणुयाताम्

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। इस स्थिति में ५७२ वे पद की भाँति 'श्रु त म्' रूप बनने पर '४१४–ततस्थस्०' से 'तस्' को 'ताम्' होकर 'श्रु ताम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ६७६ वें पद के समान है।

६७९. शृणुयाम्

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। यहाँ ५८१ वें पद की भाँति 'श्रु मि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६७५ वें पद के समान है।

६८०. शृणुयाम

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में उत्तमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। इस स्थिति में ५८२ वें पद के समान 'श्रु मस्' रूप बनेगा। तब ६७६ वें पद की भाँति 'शृणु या मस्' रूप बनने पर '४२१–नित्यं ङितः' से सकार का लोप होकर 'शृणुयाम' रूप सिद्ध होता है।

६८१. शृणुयाव

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। तब ५८५ वें पद की भाँति 'श्रु वस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६८० वें पद के समान है।

६८२. शृणुयाः

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। यहाँ ५६८ वें पद के समान 'श्रु सि' रूप बनेगा। तब ६७५ वें पद की भाँति 'शृणुयास्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग[1] होकर 'शृणुयाः' रूप सिद्ध होता है।

६८३. शृणुयुः

यह 'श्रु' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लिङ्'। इस अवस्था में ६११ वें पद की भाँति 'झि' को 'उस्' होकर 'श्रु उस्' रूप बनता है। तब ६७६ वें पद की भाँति 'शृणुया उस्' रूप बनने पर '४९२–उस्यपदान्तात्' से पररूप एकादेश होकर 'शृणुय् उस्' = 'शृणुयुस्' रूप बनेगा। यहाँ रुत्व-विसर्ग[2] होकर 'शृणुयुः' रूप सिद्ध होता है।

६८४. शृणोति

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लट्'। तब ४१ वें पद के समान 'श्रु ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में ६६५ वें पद की भाँति णत्व होकर 'शृ णु ति' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से गुण-ओकार होकर 'शृण् ओ ति' = 'शृणोति' रूप सिद्ध होता है।

६८५. शृणोतु

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्' यहाँ ६८४ वें पद की भाँति 'शृणोति' रूप बनने पर '४११-एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'शृ णोत् उ' = 'शृणोतु' रूप सिद्ध होता है।

१–२. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

६८६. शृणोमि

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लट्'। इस स्थिति में ५८१ वें पद की भाँति 'श्रु मि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६८४ वें पद के समान है।

६८७. शृणोषि

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लट्'। तब ५६८ वे पद के समान 'श्रु सि' रूप बनेगा। इस स्थिति में ६८४ वें पद की भाँति 'शृणो सि' रूप बनने पर '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'शृणो ष् इ' – 'शृणोषि' रूप सिद्ध होता है।

६८८. शृणुमः

इसके लिए ६७६ वाँ पद देखिये।

६८९. शृण्वन्ति

यह 'श्रु' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लट्'। इस स्थिति में ५७८ वें पद की भाँति 'श्रु झि' रूप बनता है। तब ६७१ वे पद के समान 'शृणु झि' रूप बनने पर '३८९-झोऽन्तः' से झकार के स्थान में 'अन्त्' होकर 'शृणु अन्त् इ' रूप बनेगा। यहाँ '१९९-अचि श्नु०' से 'उवङ्' आदेश प्राप्त होता है, किन्तु '५०१—हुश्नुवोः०' से उसका बाध हो उकार के स्थान में यण्-वकार होकर 'शृण्व् अन्त् इ' = 'शृण्वन्ति' रूप सिद्ध होता है।

६९०. शृण्वन्तु

यह 'श्रु' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रु लोट्'। यहाँ ६८९ वें पद के समान 'शृण्वन्ति' रूप बनने पर '४११—एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'शृण्वन्त् उ' = 'शृण्वन्तु' रूप सिद्ध होता है।

६९१. शृणुवः

इसके लिए ६७४ वाँ पद देखिये।

६९२. श्रयताम्

यह 'श्रि' (श्रिञ्) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लोट्'। तब ११२ वें पद की भाँति 'श्रि अ त' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण एकार होकर 'श्र् ए अ त' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'श्र् अय् अत' = 'श्रयत' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ११२ वें पद के समान है।

---

१. रुत्व-विसर्ग की प्रक्रिया के लिए ३१ वाँ पद देखिये।

६९३. श्रयति

यह 'श्रि' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लट्'। शेष प्रक्रिया ३४५ वें पद के समान है।

६९४. श्रयतु

यह 'श्रि' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लोट्'। शेष प्रक्रिया ३४६ वें पद के समान है।

६९५. श्रयते

यह 'श्रि' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लट्'। इस स्थिति में ६९२ वें पद की भाँति एत्व होकर 'श्रयत् ए' = 'श्रयते' रूप सिद्ध होता है।

६९६. श्रयिता

यह 'श्रि' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लुट्'। यहाँ ४६ वें पद के समान 'श्रि इ तास् ति' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से गुण होकर 'श्र् ए इ तास् ति' रूप बनेगा। तब '२२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'श्र् अय् इ तास् ति' = 'श्रय् इ तास् ति' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४६ वें पद के समान है।

६९७. श्रयिता

यह 'श्रि' धातु का 'लोट्' लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लुट्'। यहाँ ११७ वें पद की भाँति 'श्रि त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

६९८. श्रयिषीष्ट

यह 'श्रि' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लिङ्'। तब १२१ वें पद के समान 'श्रि इ सी स् त' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक०' से 'श्रि' के इकार को गुण एकार होकर 'श्र ए इ सी स् त' रूप बनता है। यहाँ '२२—एचो०' से एकार के स्थान में 'अय्' होकर श्र् अय् इ सी स् त' = 'श्र य् इ सी स् त' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः १२१ पद के समान है।

६९९. श्रयिष्यति

यह 'श्रि' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'श्रि लृट्'। इस स्थिति में ४७ वें पद की भाँति 'श्रि इ स्य ति' रूप बनने पर '३८८—सार्वधातुक' से गुण-एकार तथा '२२—एचो०' से पुनः एकार के स्थान में 'अय्' होकर 'श्र् अय् इ स्य ति' = 'श्रय् इ स्य ति' रूप बनेगा। तब '१५०—आदेश-प्रत्यययोः' से सकार को षकार होकर 'श्रय् इ ष् य ति' रूप सिद्ध होता है।

७१२. सिषिधिव

यह 'षिध्' धातु का लिट् लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लिट्'। इस स्थिति में ४०९ वें पद की भाँति 'सिध् व' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ७११ वें पद के समान है।

७१३. सिषिधुः

यह 'षिध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लिट्'। यहाँ ४१० वें पद की भाँति 'सिध् उस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ७०९ वें पद के समान है।

७१४. सिषेध

यह 'षिध्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन तथा उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लिट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (क) वें पद के समान 'सि ध् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में ७०८ वें पद की भाँति 'सिसिध् अ' रूप बनने पर '४५१—पुगन्त०' से गुण होकर 'सि स् ए ध् अ' रूप बनेगा। तब '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से द्वितीय सकार को षकार होकर 'सि ष् ए ध् अ' = 'सिषेध' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ ४०० (ख) वें पद की भाँति 'सिध् अ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

७१५. सिषेधिथ

यह 'षिध्' धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लिट्'। इस स्थिति में ४०३ वें पद के समान 'सिध् थ' रूप बनेगा। तब ७११ वें पद की भाँति 'सि सिध् इ थ' रूप बनने पर '४५१—पुगन्त०' से गुणादेश होकर 'सि स् ए ध् इ थ' रूप बनता है। यहाँ '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से द्वितीय सकार को षत्व होकर 'सि ष् ए ध् इ थ' = 'सिषेधिथ' रूप सिद्ध होता है।

७१६. सेधति

यह 'षिध्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लट्'। तब ४१ वें पद की भाँति 'सिध् अ ति' रूप बनने पर '४५१—पुगन्त०' से गुण होकर 'स् ए ध् अ ति' = 'सेधति' रूप सिद्ध होता है।

७१७. सेधतु

यह 'सिध्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लोट्'। यहाँ ७१६ वें पद के समान 'सेधति' रूप बनने पर '४११—एरुः' से 'ति' के इकार को उकार होकर 'सेधत् उ' = 'सेधतु' रूप सिद्ध होता है।

७१८. सेधिता

यह 'षिध्' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लुट्'। इस स्थिति में ४६ वें पद की भाँति 'सिध् इ ता' रूप बनने पर '४५१–पुगन्त०' से गुण होकर 'स् ए ध् इ ता' = 'सेधिता' रूप सिद्ध होता है।

७१९. सेधिष्यति

यह 'षिध्' धातु का लृट् लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लृट्'। तब ४७ वे पद की भाँति 'सिध् इ स्य ति' रूप बनने पर '४५१–पुगन्त०' से गुण होकर 'स् ए ध् इ स्य ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'स्य' के सकार को षकार होकर 'स् ए ध् इ ष् य ति' = 'सेधिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

७२०. सेधेत्

यह 'षिध्' (सिध्) धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सिध् लिङ्'। तब ४८ वे पद के समान 'सिध् अ ति' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त०' से गुण होकर 'स् ए ध् अ ति' = 'सेध् अ ति' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः ४८ वें पद के समान है।

७२१. हरताम्

यह 'हृ' (हृञ्) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक-रूप है। मूलरूप है—'हृ लोट्'। शेष प्रक्रिया ५५८ वे पद के समान है।

७२२. हरति

यह 'हृ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लट्'। शेष प्रक्रिया ५५९ वे पद के समान है।

७२३. हरतु

यह 'हृ' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लोट्'। शेष प्रक्रिया ५६० वे पद के समान है।

७२४. हरते

यह 'हृ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लट्'। शेष प्रक्रिया ५६१ वे पद के समान है।

७२५. हरिष्यति

यह 'हृ' धातु का लृट् लकार मे प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लृट्'। शेष प्रक्रिया ५६२ वे पद के समान है।

७२६. हरिष्यते

यह 'हृ' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लृट्'। शेष प्रक्रिया ५६३ वें पद के समान है।

७२७. हरेत्

यह 'हृ' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ५६४ वें पद के समान है।

७२८. हरेत

यह 'हृ' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ५६५ वें पद के समान है।

७२९. हर्ता

यह 'हृ' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक तथा परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'हृ लुट्'। यहाँ दोनों पक्षों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) आत्मनेपदपरक—यहाँ ११७ वें पद की भाँति 'हृ त' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया 'ख' खण्ड के समान है।

(ख) परस्मैपदपरक—यहाँ ४५४ वें पद की भाँति गुण-निषेध आदि होकर 'हृ ता' रूप बनने पर '३८८-सार्वधातुक०' से 'हृ' के ऋकार के स्थान में गुण–'अर्' होकर 'ह् अर् ता' = 'हर्ता' रूप सिद्ध होता है।

७३०. हृषीयास्ताम्

यह 'हृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-द्विवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ६२३ वें पद के समान है।

७३१. हृषीष्ट

यह 'हृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ६२४ वें पद के समान है।

७३२. ह्रियात्

यह 'हृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हृ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ६२६ वें पद के समान है।

७३३. ह्वरति

यह 'ह्वृ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लट्'। शेष प्रक्रिया ५५९ वें पद के समान है।

७३४. ह्वरतु

यह 'ह्वृ' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लोट्'। शेष प्रक्रिया ५६० वें पद के समान है।

७३५. ह्वरिष्यति

यह 'ह्वृ' धातु का लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लृट्'। शेष प्रक्रिया ५६२ वें पद के समान है।

७३६. ह्वरेत्

यह 'ह्वृ' धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिङ्'। शेष प्रक्रिया ५७४ वें पद के समान है।

७३७. ह्वर्ता

यह 'ह्वृ' धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लुट्'। शेष प्रक्रिया ७२९ (ख) वें पद के समान है।

७३८. ह्वर्यात्

यह 'ह्वृ' धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ह्वृ लिङ्'। इस स्थिति में ६१४ वें पद की भाँति गुण-निषेध आदि होकर 'ह्वृ यात्' रूप बनने पर '४९८–गुणोऽर्ति०' से 'ह्वृ' के ऋकार के स्थान में पुनः गुण-'अर्' होकर 'ह् व् अर् यात्' = 'ह्वर्यात्' रूप सिद्ध होता है।

अदादिगण-प्रकरण

१. अगात्

यह 'इण् (जाना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ लुङ्-लकार की विवक्षा में पहले '५८२-इणो गा लुङि' से 'इण्' धातु के स्थान पर 'गा' सर्वादेश हो 'गा लुङ्' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में '३७५–तिप्तस्झि०', '३८०–शेपात्कर्तरि०' और '३८१-तिङस्त्रीणि०' की सहायता से '३८२–तान्येक·वचन०' से 'लङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) तथा ४२३–लुङ्लङ्० से अङ्ग–'गा' को अट् (अ) आगम हो 'अगा ति' रूप बनता है। यहाँ '४२४–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप हो 'अगा त्' रूप बनने पर '४३७–च्लि लुङि' से धातु–'अगा' से 'च्लि' प्रत्यय होकर 'अगा च्लि त्' रूप बनेगा। तब '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) होकर 'अगा स् त्' रूप बनने पर '४३९–गातिस्था०' से 'सिच्' (स्) का लोप हो 'अगात्' रूप सिद्ध होता है।

२. अघसत्

यह 'अद्' (खाना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। यहाँ लुङ्-लकार की विवक्षा में '५५८–लुङ्सनोः०' से 'अद्' धातु के स्थान पर 'घस्लृ' (घस्) आदेश हो 'घस् लुङ्' रूप बनता है। तब पूर्ववत् (प्रथम पद की भाँति) प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तिप्' प्रत्यय, अट्-आगम, इकार-लोप और धातु से 'च्लि' प्रत्यय हो 'अघस् च्लि त्' रूप बनता है यहाँ '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' प्राप्त होता है, किन्तु 'घस्' (घस्लृ) धातु के लृदित् होने के कारण

उसके स्थान पर 'क्स' (स) हो 'अदुह् स आताम्' रूप बनने पर '५९२–क्सस्याचि' से 'क्स' (स) के अन्त्य अकार का लोप हो 'अदुह् स् आताम्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्वपद (६ ठे) के समान है।

८. अध्यगीष्ट (अध्यैष्ट)

यह 'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'इङ्' (पढ़ना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। यहाँ लुङ् की विवक्षा में '५८६–विभाषा लुङ्लृङोः' से 'इङ्' धातु के स्थान पर विकल्प से 'गाङ्' (गा) आदेश हो 'अधिगा लुङ्' रूप बनता है। तब प्रथमपुरुष-एकवचन में 'लुङ्' के स्थानपर आत्मनेपद–'त' और अङ्ग–'गा' को '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम हो 'अधि अगात' रूप बनता है। इस स्थिति में '४३७–च्लि लुङि' से धातु से 'च्लि' प्रत्यय और पुनः '४३८ च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) हो 'अधि अगा स्त' रूप बनेगा। तब '५८७–गाङ्कुटादिभ्यः०' से 'सिच्' (स) की ङित्-संज्ञा होने पर उस के परे रहते '५८८–घुमास्था०' से 'गा' धातु के आकार को ईकार हो 'अधि अग् ई स् त' रूप बनता है यहाँ '१५०–आदेश-प्रत्यययोः' से सकार को षकार हो 'अधिअग् ई ष् त' रूप बनने पर '६४–ष्टुना०' से तकार को टकार हो 'अधिअ ग् ई ष् ट् अ' रूप बनेगा। तब '१५–इको यणचि' से धकारोत्तरवर्ती इकार को यकार हो 'अध् य् अ ग् ई ष् ट् अ' = अध्यगीष्ट' रूप सिद्ध होता है। यहाँ ध्यान रहे कि 'इङ्' धातु के स्थान पर 'गाङ्'-आदेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव पक्ष में 'अधि इ लुङ्' रूप बनने पर 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपद—'त' और धातु—'इङ्' (इ) को '४४४–आङ् अजादिनाम्' से 'आट्' (आ) आगम हो 'अधि आ इ त' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् 'च्लि' प्रत्यय उसके स्थान पर पुनः 'सिच्' (स्), सकार को षकार और तकार को टकार हो 'अधि आ इ ष् ट् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '१९७–आटश्च' से 'आ' और 'इ' के स्थान पर वृद्धि–ऐकार हो 'अधि ऐ ष् ट् अ' रूप बनने पर '१५–इको यणचि' से धकारोत्तरवर्ती इकार को यकार होकर 'अ ध् य् ऐ ष् ट् अ' = 'अध्यैष्ट' रूप सिद्ध होता है।

९. अध्यैष्ट

इसके लिए ८ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

१०. अध्यैष्यत

इसके लिए चौथे पद की रूप-सिद्धि देखिये।

११. अयान्

देखिये १२ वें पद की रूप-सिद्धि।

१२. अयुः (अयान्)

यह 'या' (प्राप्त करना, जाना) धातु का लङ्-लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का

परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'या लङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-वहुवचन की विवक्षा में 'लङ्' के स्थान पर परस्मैपद–'झि' और अङ्ग—'या' को '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम हो 'अ या झि' रूप वनता है। इस स्थिति में सार्वधातुक—'झि' परे होने से '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से शप् (अ) प्रत्यय हो 'अ या अ झि' रूप वनता है; किन्तु '५५२–आदिप्रभृतिभ्यः०' से इस शप् (अ) का लोप हो पुनः 'अ या झि' रूप ही वनता है। तव '५६७–लङः शाकटायनस्यैव' से विकल्प से 'झि' के स्थान पर 'जुस्' (उस्) हो 'अ या उस्' रूप वनने पर '४९२–उस्यपदान्तात् से पररूप एकादेश होकर 'अ य् उ स्' = 'अयुस्' रूप वनेगा। यहाँ '१०५–ससजुषो०' से सकार के स्थान पर 'रु' (र्) हो 'अयुर्' रूप वनने पर '९३–खरवासानयोः०' से रकार को विसर्ग हो 'अयुः' रूप सिद्ध होता है। 'झि' के स्थान पर 'जुस्०' आदेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभावपक्ष में '३८९–झोऽन्तः' से 'झि' को 'अन्ति' हो 'अ या अन्ति' रूप वनने पर '४२४–इतश्च' से इकार का लोप होकर 'अया अन्त्' रूप वनता है। इस स्थिति में '२०-संयोगान्तस्य संयोगान्त-तकार का लोप हो 'अया अन्' रूप वनने पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ एकादेश हो 'अयान्' रूप सिद्ध होता है।

१३. अवधीत्

यह 'हन्' (वध करना) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ लुङ्-लकार की विवक्षा में '५६५–लुङि च' से 'हन्' धातु को 'वध' आदेश हो 'वध लुङ्' रूप वनता है। तव प्रथमपुरुष-एकवचन में 'लुङ्' के स्थान पर परस्मैपद–'तिप्' (ति) और अङ्ग–'वध' को '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट् (अ) आगम् हो 'अवध ति' रूप वनेगा। इस स्थिति में '४२४–इतश्च' से इकार-लोप हो 'अ व ध त्' रूप वनने पर '४३७-च्लि लुङि' से धातु से 'च्लि' प्रत्यय हो 'अवध च्लि त्' रूप वनता है। यहाँ '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) हो 'अवध स् त्' रूप वनने पर '४०१–आर्धधातुकस्येट्०' से आर्धधातुक–'सिच्' (स्) को 'इट्' (इ) आगम् हो 'अवध इ स् त्' रूप वनेगा। तव '४७०–अतो लोपः' से 'वध' धातु के अकार का लोप हो 'अवध्इस्त्' रूप वनने पर ४४५–अस्ति सिचः०' से अपृक्त 'त्' को 'ईट्' (ई) आगम हो 'अवध् इ स् ई त्' रूप वनता है। इस स्थिति में '४४६–इट ईटि' से सकार का लोप हो 'अवध् इ ई त्' रूप वनने पर 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' वार्तिक से सिच्-लोप के सिद्ध होने के कारण '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से इकार और ईकार-दोनो के स्थान पर दीर्घ-ईकार आदेश हो 'अवध् ई त्' = 'अवधीत्' रूप सिद्ध होता है।

१४. अवोचत्

यह 'ब्रू' (ब्रूञ्-स्पष्ट वोलना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का

परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'ब्रू लुङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर परस्मैपद-'तिप्' (ति) प्रत्यय तथा धातु 'ब्रू' को '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम हो 'अब्रूति' रूप बनता है। तब '४२४–इतश्च' से इकार लोप हो 'अब्रूत्' रूप बनने पर '४३७–च्लि लुङि' से धातु से 'च्लि' प्रत्यय हो 'अब्रू च्लि त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में आर्धधातुक–'च्लि' परे होने के कारण '५९६–ब्रुवो वचिः' से 'ब्रू' धातु को 'वच्' आदेश हो 'अवच् च्लि त्' रूप बनने पर '५९७–अस्यवक्ति०' से 'च्लि' को 'अङ्' (अ) होकर 'अवच् अत्' रूप बनता है। यहाँ 'अङ्' (अ) परे होने पर '५९८–वच उम्' से 'वच्' को 'उम्' (उ) आगम हो 'अव उ च् अ त्' रूप बनने पर '२७–आद्गुणः' से वकारोत्तरवर्त्ती अकार और उकार के स्थान पर गुण-ओकार होकर 'अव् ओ च् अ त्' = 'अवोचत्' रूप सिद्ध होता है।

१५. अशयिष्ट

यह 'शी' (शीङ्–सोना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'शी लुङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय–'त' और धातु को '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम हो 'अ शी त' रूप बनता है। तब '४३७–च्लि लुङि' से धातु से 'च्लि' प्रत्यय हो 'अशी च्लि त' रूप बनने पर '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' (स्) होकर 'अशी स् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४०१–आर्धधातुकस्य०' से आर्धधातुक–'सिच्' (स्) को 'इट्' (इ) आगम हो 'अशी इ स् त' रूप बनने पर १५०-'३८८–सार्वधातुक०' से शकारोत्तरवर्ती ईकार को गुण-एकार हो 'अश् ए इ स् त' रूप बनता है। यहाँ '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार को षकार हो 'अश् ए इ ष् त' रूप बनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' तकार को टकार हो 'अश् ए इ ष् ट् अ' रूप बनेगा। तब '२२–एचः०' से एकार को 'अय्' आदेश होकर 'अश् अय् इ ष् ट् अ' = 'अशयिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

१६. आदत्

यह 'अद्' (खाना) धातु का लङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'अद् लङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लङ्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) और अङ्ग-'अद्' को '४४४–आड् अजादीनाम्' से 'आट्' आगम हो 'आ अद् ति' रूप बनता है। तब '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' प्रत्यय हो 'अ अद् अ ति' रूप बनने पर पुनः '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का लोप होकर 'आ अद् ति' रूप बनता है। इस स्थिति में '१९७–आटश्च' से आकार और अकार के स्थान पर वृद्धि-आकार आदेश हो 'आ द् ति' रूप बनने पर '४२४–इतश्च' से इकार का लोप होकर 'आद् त्' रूप बनेगा। यहाँ ५५७–अदः सर्वेषाम्' से अपृक्त तकार को 'अट्' (अ) आगम हो 'आद् अ त्' = 'आदत्' रूप सिद्ध होता है।

१७. आदिथ

इसके लिए ३६ वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

१८. आह (ब्रवीति)

यह 'ब्रू' (ब्रूञ्–स्पष्ट बोलना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ब्रू लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद–'तिप्' (ति) प्रत्यय हो 'ब्रू ति' रूप बनने पर '३८३–कर्तरि शप्' से 'शप्' प्रत्यय और '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से पुनः उस 'शप्' प्रत्यय का लोप होकर 'ब्रू ति' रूप बनता है। तब '५९३–ब्रुवः पञ्चानाम्०' से 'तिप्' (ति) को विकल्प से 'णल्' (अ) और प्रकृति–'ब्रू' को 'आह्' आदेश हो 'आह् अ' = 'आह' रूप सिद्ध होता है। णलादेश के अभावपक्ष में 'ब्रू ति' रूप बनने पर '५९५–ब्रुव ईट्' से 'तिप्' को 'ईट्' (ई) आगम हो 'ब्रू ई ति' रूप बनता है। तब '३८८–सार्वधातुक०' से ब्रू के ऊकार को गुण–ओकार हो, ब्रो ई ति' रूप बनने पर ओकार के स्थान पर '२२–एचः०' से 'अव्' आदेश होकर 'ब्र् अव् ई ति' = 'ब्रवीति' रूप सिद्ध होगा।

१९. इयाय

यह 'इ' (इण्-जाना) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन और उत्तम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। दोनों की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् दी जाती है :–

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है–'इ लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) हो 'इ ति' रूप बनने पर '३९२-परस्मैपदानां०' से 'तिप् (ति) को 'णल्' (अ) होकर 'इ अ' रूप बनता है। तब '३९४-लिटि धातोः०' से द्वित्व हो 'इ इ अ' रूप बनने पर णित् प्रत्यय 'णल्' (अ) परे होने के कारण '१८२-अचो ञ्णिति' से द्वितीय इकार को वृद्धि-ऐकार हो 'इ ऐ अ' रूप बनेगा। तब '२२-एचः०' से ऐकार को 'आय्' आदेश हो 'इ आय् अ' रूप बनने पर '५७९–अभ्यासस्य०' से अभ्यास-इकार के स्थान पर 'इयङ्' (इय्) आदेश होकर 'इय् आय् अ' = 'इयाय' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन–मूलरूप है–'इ लिट्'। यहाँ उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद—'मिप्' (मि) हो 'इ मि' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'मिप्' (मि) को 'णल्' (अ) होकर 'इ अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया खण्ड 'क' के समान है। अन्तर केवल इतना ही है, '४५६-णलुत्तमो वा' से उत्तम का 'णल्' (अ) विकल्प से णित् होता है। अतः णित् के अभावपक्ष में 'इ इ अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से धातु–द्वितीय 'इ' को गुण-एकार हो 'इ ए अ' रूप बनने पर '२२–एचः०' से एकार के स्थान पर 'अय्' होकर 'इ अय् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '५७९–अभ्यासस्य०' से अभ्यास इकार को 'इयङ्' (इय्) हो 'इय् अय् अ' = 'इयय' रूप सिद्ध होगा।

भी विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभावपक्ष में 'और्णु इ स् ई त्' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से उकार को गुण औकार हो 'और्ण् ओ इ स् ई त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२२–एचः०' से ओकार को 'अव्' आदेश होकर 'और्ण् अव् इ स् ई त्=और्णव् इ स् ई त्' रूप बनने पर सकार–लोप और दीर्घादेश हो 'और्ण व् ई त्' = 'और्णवीत्' रूप सिद्ध होगा।

३२. जक्षतुः (आदतुः)

यह 'अद्' (खाना) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अद् लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद—'तस्' हो 'अद् तस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'तस्' को 'अतुस्' होकर 'अद् अतुस्' रूप बनता है। तब '५५३–लिटयन्यतरस्याम्' से 'अद्' के स्थान पर विकल्प से 'घस्लृ' (घस्) आदेश हो 'घस् अतुस्' रूप बनने पर '३९४–लिटि धातोः०' से 'घस्' का द्वित्व होकर 'घस् घस् अतुस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम—'घस्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '३९६–हलादिः शेषः' से उसके सकार का लोप होकर 'घ घस् अतुस्' रूप बनने पर '४५४–कुहोश्चुः' से घकार को झकार हो 'झ घस् अतुस्' रूप बनता है। यहाँ '३९९–अभ्यासे०' से झकार को जकार हो 'जघस् अतुस्' रूप बनने पर '५०५–गमहन०' से 'घस्' धातु की उपधा-घकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'ज घ् स् अतुस्' रूप बनेगा। तब '७४–खरि च' से घकार को ककार हो 'जक् स् अतुस्' रूप बनने पर '५७४–शासि-वसि०' से प्रथम सकार को षकार होकर 'ज क् ष् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में ककार और षकार के संयोग से क्षकार हो 'जक्ष् अतुस्' = 'जक्षतुस्' रूप बनने पर '१०५–ससजुषो०' से सकार को 'रु' (र्) आदेश होकर 'जक्षतुर्' रूप बनेगा। तब '९३–खरवसानयोः' से रकार को विसर्ग होकर 'जक्षतुः' रूप सिद्ध होता है। यहाँ ध्यान रहे कि 'अद्' के स्थान पर घस्लृ' (घस्) आदेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'अद् अतुस्' रूप बनने पर पूर्ववत् द्वित्व और हलादि-शेष 'अ अद् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४४३–अत आदेशः' से अभ्यास के प्रथम अकार को दीर्घ-आकार होकर 'आ अद् अतुस्' रूप बनने पर '४२–अकः०' से आकार और अकार के स्थान पर दीर्घ-आकार हो 'आद् अतुस्' = 'आदतुस्' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् रुत्व-विसर्ग हो 'आदतुः' रूप सिद्ध होता है।

३३. जघन

देखिये ३७ (ख) वें पद की रूप-सिद्धि।

३४. जघनिथ (जघन्थ)

यह 'हन्' (मार डालना) धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हन् लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद—'सिप्' होकर 'हन् सिप्' रूप बनने पर '३९२–

परस्मैपदानाम्०' से 'सिप्' को 'थल्' (थ) हो, 'हन् थ' रूप बनता है। तब ३२ वें पद की भाँति द्वित्व, हलादि-शेष, '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के हकार को झकार तथा उसके स्थान में पुनः जकार हो 'जहन् थ' रूप बनने पर '४८२–ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' (थ) को विकल्प से 'इट्' (इ) आगम होकर 'जहन् इ थ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '५६०–अभ्यासाच्च' से 'हन्' के हकार को घकार होकर 'जघन् इ थ' = 'जघनिथ' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव पक्ष में 'जहन् थ' रूप बनने पर पूर्ववत् हकार को घकार हो 'जघ न् थ' = 'जघन्थ रूप सिद्ध होगा।

३५. जघस

इसके लिए ३८ (ख) वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

३६. जघसिथ (आदिथ)

यह 'अद्' (खाना) धातु का लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अद् लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद–'सिप्' हो 'अद् सिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'सिप्' को 'थल्' (थ) होकर 'अद् थ' रूप बनता है। तब '५५३–लिटयन्यतरस्याम्' से 'अद्' के स्थान पर विकल्प से 'घस्लृ' (घस्) आदेश हो 'घस् थ' रूप बनने पर ३२ वें पद की भाँति द्वित्व, हलादि-शेष, घकार को झकार और झकार को जकार होकर 'जघस् थ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४७९–कृ-सृ०' से 'थल्' (थ) को 'इट्' (इ) आगम हो 'जघस् इ थ' = 'जघसिथ' रूप सिद्ध होता है। घस्लृ-आदेश के अभावपक्ष में 'अद् थ' रूप बनने पर पूर्ववत् द्वित्व और हलादि शेप होकर 'अ अद् थ' रूप बनता है। तब '४४३–अत आदेः' से अभ्यास के प्रथम अकार को दीर्घ-आकार हो 'आ अद् थ' रूप बनने पर '४७९–कृ-सृ०' से 'थल्' (थ) को 'इट्' (इ) आगम होकर 'आ अद् इ थ' रूप बनेगा। तब '४२–अकः०' से आकार और अकार के स्थान पर दीर्घ-आकार हो 'आ द् इ थ' = 'आदिथ' रूप सिद्ध होता है।

३७. जघान

यह 'हन्' (वध करना) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन और उत्तम-पुरुप-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हन् लिट्'। आगे की प्रक्रिया अलग-अलग है :—

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद—'तिप्' हो 'हन् तिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'तिप्' को 'णल्' (अ) आदेश होकर 'हन् अ' रूप बनता है। तब ३९४-लिटि धातोः०' से 'हन्' को द्वित्व हो 'हन् हन् अ' रूप बनने पर '३९६–हलादि शेषः' से अभ्यास-प्रथम 'हन्' के नकार का लोप होकर 'ह हन् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के हकार को झकार होकर 'झ हन् अ' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे०' से झकार को जकार हो 'जहन् अ' रूप बनता है। यहाँ '४५५–

अत उपधायाः' से उपधा-हकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि आकार होकर 'जह् आ न् अ' रूप बनने पर '२८७–हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से 'हन्' के हकार को घकार हो 'जघ् आन् अ' = 'जघान' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद 'मिप्' होकर 'हन् मिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'मिप्' को 'णल्' (अ) हो 'हन् अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया खण्ड 'क' के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ '४५६–णलुत्तमो वा' से 'णल्' (अ) की विकल्प से णित् संज्ञा होती है। अतः उसके अभावपक्ष में 'जहन् अ' रूप बनने पर उपधा-वृद्धि न होकर पूर्ववत् हकार को घकार हो 'जघ न् अ' = 'जघन्' रूप भी सिद्ध होता है।

३८. जघास (आद)

यह 'अद्' (खाना) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन और उत्तम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। दोनों की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् दी जाती है:–

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन–यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद–'तिप्' हो 'अद् तिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'तिप्' को 'णल्' (अ) होकर 'अद् अ' रूप बनता है। तब '५५३-लिटचन्यतरस्याम्' से 'अद्' के स्थान पर विकल्प से 'घस्लृ' (घस्) आदेश हो 'घस् अ' रूप बनने पर ३२ वें पद की भाँति 'घस्' को द्वित्व, हलादि-शेष, अभ्यास के घकार को झकार और झकार को जकार होकर 'जघस् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४५५–अत उपधायाः' से उपधा-घकारोत्तर-वर्ती अकार को वृद्धि-आकार को 'जघ् आ स् अ' = 'जघास' रूप सिद्ध होता है। 'घस्लृ' (घस्)–आदेश के अभावपक्ष में 'अद् अ' रूप बनने पर पूर्ववत् द्वित्व और हलादि-शेष होकर 'अ अद् अ' रूप बनता है। तब '४४३–अत आदेः' से अभ्यास के प्रथम 'अ' को दीर्घ आकार हो 'आ अद् अ' रूप बनने पर '४५५–अत उपधायाः' से 'अद्' की उपधा-अकार को वृद्धि आकार होकर 'आ आद् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४२-अकः०' से दीर्घ आकार एकादेश हो 'आ द् अ' = 'आद' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर 'मिप्' होकर 'अद् मिप्' रूप बनने पर '३९२-परस्मैपदानाम्०' से 'मिप्' को 'णल्' (अ) आदेश हो 'अद् अ' रूप बनता है। तब खण्ड 'क' की भाँति 'घस्लृ' आदेश और द्वित्व आदि होकर 'जघास' रूप सिद्ध होता है। '४५६–णलुत्तमो वा' से यहाँ 'णल्' (अ) विकल्प से णित् होता है, अतः णित् के अभावपक्ष में 'जघस् अ' रूप बनने पर 'उपधा-वृद्धि' न हो 'जघस्' रूप भी सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'घस्लृ' (घस्)–आदेश के अभावपक्ष में 'णल्' (अ) के णित् होने पर खण्ड 'क' के समान 'आद' रूप बनता है। णित् के अभावपक्ष में भी 'आ अद् अ' रूप बनने पर '४२–अकः०' से आकार और अकार के स्थान पर 'दीर्घ-आकार' होकर 'आ द् अ' = 'आद' रूप ही सिद्ध होता है।

३९. जहि

यह 'हन्' (वध करना) धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हन् लोट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद—'सिप्' (सि) हो 'हन् सि' रूप बनने पर '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) प्रत्यय होकर 'हन् अ सि' रूप बनता है। इस स्थिति में '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का लोप हो 'हन् सि' रूप बनने पर '४१५–सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि' आदेश होकर 'हन् हि' रूप बनेगा। तब '५६१–हन्तेर्जः' से 'हन्' को 'ज' आदेश हो 'जहि' रूप बनता है। यहाँ '४१६–अतो हेः' से 'हि' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु '५६२–असिद्धवत्०' परिभाषा से 'ज' आदेश के असिद्ध होने से 'हि' लोप नहीं होता और इस प्रकार 'जहि' रूप सिद्ध होता है।

४०. दुग्धः

यह 'दुह्' (दुहना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन और मध्यमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दुह् लट्'। आगे की प्रक्रिया अलग-अलग दी जा रही है :—

(क) प्रथमपुरुष-द्विवचन—यहाँ प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तस्' होकर 'दुह तस्' रूप बनने पर '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) प्रत्यय हो 'दुह् अ तस्' रूप बनता है। तब '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का लोप हो पुनः 'दुह् तस्' रूप बनने पर '२५२–दादेर्धातो०' से 'दुह्' के हकार को घकार होकर 'दुघ् तस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '५४९–झषः०' से तकार को धकार हो 'दुघ् धस्' रूप बनने पर '१९–झलां जश्०' से घकार को गकार होकर 'दुग् धस्' रूप बनेगा। यहाँ '४५१–पुगन्त०' से गुण आदेश प्राप्त होता है, किन्तु अपित् होने से '५००–सार्वधातुकमपित्' द्वारा 'तस्' के ङिद्वत् होने के कारण उसके परे रहते '४३३–ग्क्ङिति च' से प्राप्त गुणादेश का निषेध हो जाता है। तब '१०५–ससजुषोः०' से सकार के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश हो 'दुग् धर्' रूप बनने पर '९३–खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग हो 'दुग्धः' रूप सिद्ध होता है।

(ख) मध्यमपुरुष-द्विवचन—यहाँ मध्यमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'थस्' होकर 'दुह् थस्' रूप बनने पर पूर्ववत् शप्, शप्-लोप और घकारादेश हो 'दुघ् थस्' रूप बनता है। तब '५४९–झषः०' से थकार को धकार हो 'दुघ् धस्' रूप बनने पर पूर्ववत् गकारादेश आदि होकर 'दुग्धः' रूप सिद्ध होता है।

४१. धुक्षीष्ट

यह 'दुह्' (दुहना) धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-

परक रूप है। मूलरूप है—'दुह् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'दुह् त' रूप बनने पर '५२०–लिङः सीयुट्' से 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) आगम होकर 'दुह् सीय् त' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५१–पुगन्त०' से उपधा को गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु '५८९–लिङ्सिचौ०' से 'सीय् त' के कित् होने के कारण '४३३–क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४२९–लोप व्योर्वलि' से यकार का लोप हो 'दुह् सीत' रूप बनने पर '२५२–दादेर्धातो:०' से हकार को घकार होकर 'दुघ् सीत' रूप बनेगा। यहाँ '२५३–एकाचो बशः०' से दकार को धकार होकर 'धुघ् सीत' रूप बनने पर '७४–खरि च' से घकार को ककार हो 'धुक् सीत' रूप बनता है। इस स्थिति में '५२३–सुट् तिथो.' से 'त' को 'सुट्' (स्) आगम हो 'धुक् सी स् त' रूप बनने पर '१५०–आदेशप्रत्ययोः' से दोनों सकारों के स्थान पर षकार-आदेश होकर 'धुक् ष् ई ष् त' रूप बनेगा। तब '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार 'धुक् ष् ई ष् ट् अ' रूप बनने पर ककार और षकार संयोग से क्षकार होकर 'धुक्ष् ई ष् ट् अ' = 'धुक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

तनादिकृञ्भ्य उः' से उसका बाध हो 'उ' प्रत्यय होकर 'विद् आम् कृ उ ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में आर्धधातुक 'उ' प्रत्यय रहने पर '३८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' धातु के ऋकार के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से 'अर्' आदेश हो 'विद् आम् क् अर् उ ति' रूप बनता है। तब सार्वधातुक 'तिप्' (ति) परे रहने पर पुनः '३८८–सार्वधातुक०' से उकार को गुण-ओकार हो 'विद् आम् क् अर् ओ ति' = 'विदाम् करोति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' (तिप्) इकार को उकार होकर 'विदाम् करोत् उ' = 'विदाम् करोतु' रूप बनेगा। यहाँ '७८–नश्चाऽपदान्तस्य०' से मकार को अनुस्वार हो 'विदां करोतु' रूप बनने पर '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण ङकार होकर 'विदाङ् करोतु' = 'विदाङ्करोतु' रूप सिद्ध होता है।

'तातङ्'–पक्ष में भी 'विद्' धातु से पूर्ववत् 'आम्' आदि और 'लोट्' के स्थान पर 'तिप्' हो 'विद् आम् कृ ति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से इकार को उकार होकर 'विद् आम् कृ त् उ' = 'विदाम् कृ तु' रूप बनता है। यहाँ '४१२–तुह्योस्तातङ्०' से 'तु' को 'तातङ्' (तात्) हो 'विदाम् कृ तात्' रूप बनने पर '५७१–तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' प्रत्यय तथा '३८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'अर्' होकर 'विदाम् क् अर् उतात्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'तातङ्' (तात्) के ङित् होने से 'उ' को गुण न होने पर '५७२–अत उत्०' से 'कृ' धातु के अकार को उकार होकर 'विदाम् क् उर् उ तात् = 'विदाम् कुरुतात्' रूप बनता है। तब पूर्ववत् अनुस्वार और परसवर्ण हो 'विदाङ्कुरुतात्' रूप सिद्ध होगा।

यहाँ ध्यान रहे कि 'आम्' प्रत्यय आदि विकल्प से ही होते हैं, अतः उनके अभाव में 'विद् लोट्' रूप बनने पर 'लोट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) और '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) प्रत्यय हो 'विद् अ ति' रूप बनने पर '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का लोप होकर 'विद् ति' रूप बनता है। तब '४५१–पुगन्त०' से उपधा-इकार को गुण-एकार हो 'व् एद् ति' = 'वेद् ति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से इकार को उकार होकर 'वेद् त् उ' = 'वेद् तु' रूप बनेगा। इस स्थिति में '७४–खरि च' से दकार को तकार हो 'वेत् तु' = 'वेत्तु' रूप सिद्ध होता है।

४५. विदाङ्कुरुतात्

देखिये ४४ वें पद की रूप-सिद्धि।

४६. विदाञ्चकर

इसके लिए ४७ (ख) वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

४७. विदाञ्चकार (विवेद)

यह 'विद्' धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन और उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। दोनों की रूप-सिद्धि अलग-अलग दी जाती है :—

परक रूप है। मूलरूप है—'दुह् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'दुह् त' रूप बनने पर '५२०—लिङः सीयुट्' से 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) आगम होकर 'दुह् सीय् त' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५१—पुगन्त०' से उपधा को गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु '५८९—लिङ्सिचौ०' से 'सीय् त' के कित् होने के कारण '४३३—क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४२९—लोप व्योर्वलि' से यकार का लोप हो 'दुह् सीत' रूप बनने पर '२५२—दादेर्धातोः०' से हकार को घकार होकर 'दुघ् सीत' रूप बनेगा। यहाँ '२५३—एकाचो बशः०' से दकार को धकार होकर 'धुघ् सीत' रूप बनने पर '७४—खरि च' से घकार को ककार हो 'धुक् सीत' रूप बनता है। इस स्थिति में '५२३—सुट् तिथोः' से 'त' को 'सुट्' (स्) आगम हो 'धुक् सी स् त' रूप बनने पर '१५०—आदेश-प्रत्ययोः' से दोनों सकारों के स्थान पर षकार-आदेश होकर 'धुक् ष् ई ष् त' रूप बनेगा। तब ६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार 'धुक् ष् ई ष् ट् अ' रूप बनने पर ककार और षकार संयोग से क्षकार होकर 'धुक्ष् ई ष् ट् अ' = 'धुक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

४२. निष्यात्

यह 'नि' उपसर्ग-पूर्वक 'अस्' (होना) धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नि अस् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर परस्मैपद—'तिप्' (ति) होकर 'नि अस् ति' रूप बनने पर '४२४—इतश्च' से 'त' के इकार का लोप हो 'नि+अस् त् रूप बनता है। तब '४२६—यासुट्०' से 'तिप्' (त्) को 'यासुट्' (यास्) आगम हो 'नि अस् यास् त्' रूप बनने पर '४२७—लिङः सलोपः०' से 'यास्त्' के सकार का लोप होकर 'नि अस् या त्' रूप बनेगा। तब '५७४—श्नसोः०' से 'अस्' के अकार का लोप होकर 'नि स् या त्' रूप बनने पर '५७५—उपसर्गप्रादुर्भ्याम्०' से सकार को षकार हो 'नि ष् यात् = 'निष्यात्' रूप सिद्ध होता है।

४३. ब्रवीति

देखिये १८ वें पद की रूप-सिद्धि।

४४. विदाङ्करोतु (वेत्त, विदाङ्कुरुतात्)

यह 'विद्' (जानना) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'विद् लोट्'। यहाँ '५७०—विदङ्कुर्वन्तु०' से 'विद्' धातु से विकल्प से 'आम्' प्रत्यय, लघूपध का गुणाभाव, लोट् का लुक् और लोट्परक 'कृ' धातु का अनुप्रयोग हो 'विद् आम् कृ लोट्' रूप बनने पर प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद—'तिप्' (ति) होकर 'विद् आम् कृ ति' रूप बनता है। यहाँ '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु '५७१—

तनादिकृञ्भ्य उः' से उसका बाध हो 'उ' प्रत्यय होकर 'विद् आम् कृ उ ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में आर्धधातुक 'उ' प्रत्यय रहने पर '३८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' धातु के ऋकार के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से 'अर्' आदेश हो 'विद् आम् क् अर् उ ति' रूप बनता है। तब सार्वधातुक 'तिप्' (ति) परे रहने पर पुनः '३८८–सार्वधातुक०' से उकार को गुण-ओकार हो 'विद् आम क् अर् ओ ति' = 'विदाम् करोति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से 'ति' (तिप्) इकार को उकार होकर 'विदाम् करोत् उ' = 'विदाम् करोतु' रूप बनेगा। यहाँ '७८–नश्चाऽपदान्तस्य०' से मकार को अनुस्वार हो 'विदां करोतु' रूप बनने पर '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण ङकार होकर 'विदाङ् करोतु' = 'विदाङ्करोतु' रूप सिद्ध होता है।

'तातङ्'–पक्ष में भी 'विद्' धातु से पूर्ववत् 'आम्' आदि और 'लोट्' के स्थान पर 'तिप्' हो 'विद् आम् कृ ति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से इकार को उकार होकर 'विद् आम् कृ त् उ' = 'विदाम् कृ तु' रूप बनता है। यहाँ '४१२–तुह्योस्तातङ्०' से 'तु' को 'तातङ्' (तात्) हो 'विदाम् कृ तात्' रूप बनने पर '५७१–तनादिकृञ्भ्य उः' से 'उ' प्रत्यय तथा '३८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'अर्' होकर 'विदाम् क् अर् उतात्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'तातङ्' (तात्) के ङित् होने से 'उ' को गुण न होने पर '५७२–अत उत्०' से 'कृ' धातु के अकार को उकार होकर 'विदाम् क् उर् उ तात् = 'विदाम् कुरुतात्' रूप बनता है। तब पूर्ववत् अनुस्वार और परसवर्ण हो 'विदाङ्कुरुतात्' रूप सिद्ध होगा।

यहाँ ध्यान रहे कि 'आम्' प्रत्यय आदि विकल्प से ही होते हैं, अतः उनके अभाव में 'विद् लोट्' रूप बनने पर 'लोट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) और '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) प्रत्यय हो 'विद् अ ति' रूप बनने पर '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का लोप होकर 'विद् ति' रूप बनता है। तब '४५१–पुगन्त०' से उपधा-इकार को गुण-एकार हो 'व् एद् ति' = 'वेद् ति' रूप बनने पर '४११–एरुः' से इकार को उकार होकर 'वेद् त् उ' = 'वेद् तु' रूप बनेगा। इस स्थिति में '७४–खरि च' से दकार को तकार हो 'वेत् तु' = 'वेत्तु' रूप सिद्ध होता है।

४५. विदाङ्कुरुतात्

देखिये ४४ वें पद की रूप-सिद्धि।

४६. विदाञ्चकर

इसके लिए ४७ (ख) वें पद की रूप-सिद्धि देखिये।

४७. विदाञ्चकार (विवेद)

यह 'विद्' धातु का लिट् में [illegible] उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन–मूलरूप है—'विद् लिट्' । यहाँ '५६९–उपविद०' से 'लिट्' परे होने पर 'आम्' प्रत्यय हो 'विद् आम् लिट्' रूप बनने पर प्रतिज्ञा में 'विद्' धातु के अकारान्त होने से '४५१–पुगन्त०' से लघूपध गुण नहीं होता।[1] तब '४७१–आमः' से 'लिट्' का लुक् हो 'विद् आम्' रूप बनने पर '४७२–कृञ् चाऽनुप्रयुज्यते०' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'विद् आम् कृ लिट्' रूप बनेगा। इस स्थिति में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर 'तिप्' हो 'विद् आम् कृ तिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'तिप्' को 'णल् (अ) होकर 'विद् आम् कृ अ' रूप बनता है। यहाँ '३९४–लिट् धातोः०' से 'कृ' का द्वित्व हो 'विद् आम् कृ कृ अ' रूप बनने पर '४७३–उरत्' द्वारा '२९–उरण् रपरः' की सहायता से अभ्यास-प्रथम 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'अर्' आदेश होकर 'विद् आम् क् अर् कृ अ' रूप बनेगा। तब '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास के रकार का लोप हो 'विद् आम् क् अ कृ अ' रूप बनने पर '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार को चकार होकर 'विद् आम् च् अ कृ अ' = 'विदाम् चकृअ' रूप बनता है। इस स्थिति में णित् प्रत्यय (अ) परे होने के कारण '१८२–अचो ञ्णिति' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर (२९–उरण् रपर की सहायता से) वृद्धि–'आर्' हो 'विदाम् च क् आर् अ' = 'विदाम् चकार' रूप बनने पर '७८–नश्चाऽपदान्तस्य०' से मकार को अनुस्वार होकर 'विदां चकार' रूप बनेगा। तब '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण-ञकार हो 'विदाञ् चकार' = विदाञ्चकार' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'आम्' प्रत्यय विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभावपक्ष में 'विद् लिट्' रूप बनने पर पूर्ववत् लिट् के स्थान पर 'तिप्' और 'तिप्' को 'णल्' (अ) हो 'विद् अ' रूप बनने पर द्वित्व होकर 'विद् विद् अ' रूप बनता है। तब '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास-प्रथम 'विद्' के दकार का लोप हो 'वि विद् अ' रूप बनने पर आर्धधातुक 'णल्' (अ) परे होने के कारण '४५१–पुगन्त०' से उपधा 'विद्' के इकार को गुण एकार होकर 'वि व् ए द् अ' = 'विवेद' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—मूलरूप है—'विद् लिट्' यहाँ पूर्ववत् 'विद् आम् कृ लिट्' रूप बनने पर उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद 'मिप्' हो 'विद् आम् कृ मिप्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'मिप्' को 'णल्' (अ) होकर 'विद् आम् कृ अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया खण्ड 'क' के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'णल्' (अ) विकल्प से '४५६–णलुत्तमो वा' द्वारा णित् होता है, अतः णित् के अभाव पक्ष में 'विदाम् च कृ अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर ('२९-उरण्

1. 'विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि गुणो न भवति'—काशिका।

रपरः' की सहायता से) 'अर्' आदेश हो 'विदाम् च क् अर् अ' = विदाम् चकर' रूप बनता है। यहाँ पूर्ववत् अनुस्वार और पर-सवर्ण होकर 'विदाञ्चकर' रूप सिद्ध होगा।

'आम्' के अभावपक्ष में यहाँ भी 'विद् लिट्' रूप बनने पर लिट् के स्थान पर 'मिप्' और 'मिप्' को 'णल्' (अ) होकर खण्ड 'क' की भाँति 'विवेद' रूप बनता है।

४८. वध्यात्

यह 'हन्' (वध करना) धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हन् लिङ्'। यहाँ आर्धधातुक लिङ् के विषय में '५६४—हनो वध०' से 'हन्' को 'वध' हो 'वध लिङ्' रूप बनने पर प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'वध ति' रूप बनता है। तब '४३२—किदाशिषि' से 'तिप्' (ति) को 'यासुट्' (यास्) आगम हो 'वध यास् ति' रूप बनने पर '४७०—अतो लोपः' से 'वध्' के अकार लोप होकर 'वध् या स् ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में ४२४—'इतश्च' से इकार का लोप हो 'वध् या स् त्' रूप बनने पर '३०९—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से सकार का लोप होकर 'वध् या त्' = 'वध्यात्' रूप सिद्ध होता है।

४९. विवेद

देखिये ४७ वें पद की रूप-सिद्धि।

५०. वेत्ति

इसके लिए ५२ वें पद की रूप सिद्धि देखिये।

५१. वेत्तु

देखिये ४४ वें पद की रूप-सिद्धि।

५२. वेद (वेत्ति)

यह 'विद्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'विद् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) हो 'विद् ति' रूप बनने पर '५६८—विदो लटो वा' से विकल्प से 'तिप्' (ति) को 'णल्' (अ) होकर 'विद् अ' रूप बनता है तब '३८७—कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) होकर 'विद् अ' रूप बनने पर '५५२—अदिप्रभृतिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का लोप हों पुनः 'विद् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४५१—पुगन्त०' से 'विद्' की उपधा-इकार को एकार होकर 'व् ए द् अ' = 'वेद' रूप सिद्ध होता है।

'णल्' आदेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव पक्ष में 'विद् ति' रूप बनने पर पूर्ववत् शप्, शप्-लुक् और उपधा को गुण हो 'वेद् ति' रूप बनता है। यहाँ '७४—खरि च' से दकार को तकार होकर 'वेत् ति' = 'वेत्ति' रूप सिद्ध होगा।

५३. शेरते

यह 'शी' (शीङ्-सोना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का आत्मनेपद परक रूप है। मूलरूप है—'शी लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा 'लट्' के स्थान पर आत्मनेपद 'झ' हो 'शी झ' रूप बनने पर '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) प्रत्यय हो 'शी अ झ' रूप बनता है। तब '५५२–अदिप्रभृतिभ्य०' से 'शप्' (अ) का लोप हो पुनः 'शी झ' रूप बनने पर '५८३–शीङः सार्वधातुके०' से 'शी' के ईकार को गुण–एकार होकर 'श् ए झ' = 'शे झ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '५२४–आत्मनेपदेष्वनतः' से झकार को 'अत्' आदेश हो 'शे अत् अ' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानाम्०' से टि-अन्त्य अकार को एकार होकर 'शे अत् ए = 'शे अते' रूप बनता है। यहाँ '५८४–शीङो रुट्' से 'अत्' को 'रुट्' (र्) आगम हो 'शेर् अते' = 'शेरते' रूप सिद्ध होता है।

५४. स्तात्

देखिये २८ वें पद की रूपसिद्धि।

जुहोत्यादिगण-प्रकरण

१. अदित

यह 'दा' (डुदाञ्-देना) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दा लुङ्'। यहाँ '४२३–लुङ्लङ्० से 'दा' धातु को 'अट्' (अ) आगम और प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'अ दा त' रूप बनता है। तब '४३७–च्लि लुङि' से 'च्लि' हो 'अ दा च्लि त' रूप बनने पर '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' (स्) होकर 'अ दा स् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६२४–स्थाघ्वोरिच्च' से घुसंज्ञक 'दा' धातु के आकार को इकार आदेश हो 'अ द् इ स् त' = 'अदि स् त' रूप बनता है। यहाँ कित् सिच् परे होने से गुणाभाव हो '५४५–ह्रस्वादङ्गात्' से सिच्' (स्) का लोप होकर 'अदित' रूप सिद्ध होगा।

२. जहति

यह 'हा' (ओहाक्-छोड़ना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हा लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'लट्' से स्थान पर परस्मैपद 'झि' हो 'हा झि' रूप बनने पर '३८६–कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) होकर 'हा अ झि' रूप बनता है। तब '६०४–जुहोत्यादिभ्यः०' से 'शप्' (अ) का 'श्लु' (लोप) होकर 'हा झि' रूप बनने पर '६०५–श्लौ' से 'हा' धातु का द्वित्व हो 'हा हा झि' रूप बनेगा। इस स्थिति में अभ्यास-प्रथम 'हा' के आकार

को '३९७–ह्रस्वः' से ह्रस्व अकार और हकार को '४५४–कुहोश्चुः' से झकार हो 'झ् अ हा झि' रूप वनता है। यहाँ '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के झकार को जकार हो 'ज् अ हा झि' रूप वनने पर '६०६–अदभ्यस्तात्' से 'झि' के झकार को 'अत्' होकर 'ज् अ हा अत् इ' = 'ज हा अति' रूप वनेगा। तव '६१९–श्नाभ्यस्तयोः०' से 'हा' धातु के आकार का लोप हो 'जह् अति' = 'जहति' रूप सिद्ध होता है।

३. जहाहि (जहिहि, जहीहि)

यह 'हा' (ओहाक्-छोड़ना) धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन की परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हा लोट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद—'सिप्' (सि) होकर 'हा सि' रूप वनने पर '४१५–सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि' हो 'हा हि' रूप वनता है। तव दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु, द्वित्व और अभ्यास-कार्य हो 'ज् अ हा हि' रूप वनने पर '६३०–आ च हौ' से 'हा' धातु के आकार के स्थान पर आकार ही होकर 'ज् अ ह् आ हि' = 'जहाहि' रूप सिद्ध होता है। इसके साथ ही साथ इकार पक्ष में 'जहिहि' और ईकार पक्ष में 'जहीहि' रूप भी वनते हैं।[1]

४. जहिहि

देखिये तीसरे पद की रूप-सिद्धि।

५. जहीहि

इसके लिए तीसरे पद की रूप-सिद्धि देखिये।

६. जह्यात्

यह 'हा' (ओहाक्-छोड़ना) धातु का विधिलिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'हा लिङ्'। वहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर परस्मैपद–'तिप्' (ति) होकर 'हा ति' रूप वनने पर दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु, द्वित्व अभ्यास कार्य हो 'जहाति' रूप वनता है। तव '४२३–इतश्च' से इकार का लोप हो 'ज हा त' रूप वनने पर '४२६–यासुट्०' से 'यासुट्' (यास्) आगम होकर 'ज हा या स् त्' रूप वनेगा। इस स्थिति में '४२७–लिङः सलोप०' से सकार का लोप होकर 'ज हा या त्' रूप वनने पर '६२१–लोपोयि' से 'हा' धातु के आकार का लोप हो 'ज ह् या त्' = 'जह्यात्' रूप सिद्ध होता है।

७. जुहवाञ्चकार (जुहाव)

यह 'हु' (हवन करना) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष एकवचन और उत्तम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है मूलरूप है—'हु लिट्'। आगे की प्रक्रिया अलग अलग दी जा रही है :—

---

१. विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६३० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

(क) प्रथमपुरुष-एकवचन—यहाँ '६०७–भी ह्री०' से 'आम्' और श्लुवद्भाव होने पर '६०५–श्लौ' से 'हु' धातु का द्वित्व हो 'हु हु आम् लिट्' रूप बनता है। तब '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास-प्रथम 'हु' के हकार को झकार हो 'झु हु आम् लिट्' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से झकार को जकार होकर 'जु हु आम् लिट्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४८८–सार्वधातुक०' से 'हु' के उकार को गुण ओकार होकर 'जु ह् ओ आम् लिट्' रूप बनने पर '२२–एचः०' से ओकार को 'अव्' आदेश हो 'जु ह् अव् आम् लिट्' = 'जुहवाम् लिट्' रूप बनता है। यहाँ '४७१–आमः' से लिट् का लोप होकर 'जुहवाम्' रूप बनने पर '४७२–कृञ् चाऽनुप्रयुज्यते०' से लिट् परक 'कृ' धातु का अनुप्रयोग हो 'जुहवाम् कृ लिट्' रूप बनेगा। तब प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद-तिप्' (ति) हो 'जुहवाम् कृ ति' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'तिप्' (ति) को 'णल्' (अ) होकर 'जुहवाम् कृ अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९४–लिटि धातोः०' से 'कृ' का द्वित्व हो 'जुहवाम् कृ कृ अ' रूप बनने पर '४७३–'उरत्' से अभ्यास–प्रथम 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'अर्' होकर 'जुहवाम् क् अर् कृ अ' रूप बनेगा। यहाँ '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास के रकार का लोप हो 'जुहवाम् क् अ कृ अ' रूप बनने पर '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार को चकार होकर 'जुहवाम् च् अ कृ अ' रूप बनता है। तब '१८२–अचोञ्णिति' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर वृद्धि 'आर्' होकर 'जहवाम् च् अ क् आर् अ' = 'जुहवाम् चकार' रूप बनने पर '७८–नश्चापदान्तस्य०' से मकार को अनुस्वार तथा '७९–अनुस्वारस्य०' से उस अनुस्वार के स्थान पर पुनः परसवर्ण–ञकार हो 'जुहवाञ् चकार' = 'जुहवाञ्चकार रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'आम्' विकल्प से ही होता है, अतः पक्ष में 'हु लिट्' रूप बनने पर पूर्ववत् लिट् के स्थान पर तिप् णल् और 'हु' धातु को '३९४-लिटि धातोः' से द्वित्व हो 'हु हु अ' रूप बनता है। यहाँ पुनः पूर्ववत् अभ्यास के हकार को झकार तथा झकार को जकार हो 'जु हु अ' रूप बनने पर '१८२–अचो ञ्णिति' से 'हु' के उकार के स्थान पर वृद्धि औकार होकर 'जु ह् औ अ' रूप बनेगा। तब '२२–एचः०' से औकार को 'आव्' आदेश हो 'जु ह् आव् अ' = 'जुहाव' रूप सिद्ध होता है।

(ख) उत्तमपुरुष-एकवचन—यहाँ 'आम्'–पक्ष में पूर्ववत् 'जुहवाम् कृ लिट्' रूप बनने पर उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर 'मिप्' (मि) हो 'जुहवाम् कृ मि' रूप बनता है। तब '३९२–परस्मैपदानाम्०' के इस 'मिप्' (मि) को पुनः 'णल्' (अ) होकर 'जुहवाम् कृ अ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया खण्ड 'क' के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'णल्' (अ) '४५६–णलुत्तमो वा' से विकल्प से णित् होता है अतः णित् के अभावपक्ष '३८८–सार्वधातुक०' से गुणादेश हो 'जुहवाञ्चकर' रूप भी बनता है। इसी प्रकार 'आम्' के अभावपक्ष में भी णित् न होने पर गुण हो 'जुहव' रूप भी बनता है। णित्-पक्ष में तो खण्ड 'क' के समान 'जुहाव' रूप रहेगा ही।

८. जुहाव

देखिये ७ वें पद की रूप-सिद्धि।

९. देहि

यह 'दा' (डुदाञ्) धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'दा लोट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद–'सिप्' (सि) हो 'दा सि' रूप बनने पर '४१५–सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि' हो 'दा हि' रूप बनता है। तब दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु और द्वित्व हो 'दा दा हि' रूप बनने पर अभ्यास-प्रथम 'दा' को '३९७–ह्रस्वः' से ह्रस्वादेश होकर 'द दा हि' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६२३–दाधा घ्वदाप्' से 'दा' धातु की घुसंज्ञा होने पर '५७७–घ्वसोरेत्०' से अभ्यास का लोप और 'दा' धातु को एकारादेश होकर 'द् ए हि' = 'देहि' रूप सिद्ध होता है।

१०. धेहि

यह 'धा' (डुधाञ्) धातु का लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'धा लोट्'। शेष प्रक्रिया ९ वें पद के समान है।

११. नेनिजानि

यह 'निज्'[1] (णिजिर्–धोना) धातु का लोट् लकार में उत्तमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप—'निज् लोट्'। यहाँ उत्तमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद–'मिप्' (मि) होकर 'निज् मि' रूप बनने पर '४१७–मेर्निः' से 'मि' को 'नि' हो 'निज् नि' रूप बनता है। तब दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु और द्वित्व हो 'निज् निज् नि' रूप बनने पर '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास-प्रथम 'निज्' के जकार का लोप होकर 'नि निज् नि' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४१८–आड् उत्तम०' से 'नि' को 'आट्' (आ) आगम होकर 'नि निज् आनि' रूप बनने पर '६२६–णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास–'नि' के इकार को गुण-एकार हो 'न् ए निज् आनि' = 'ने निज् आनि' रूप बनता है। यहाँ '४५१–पुगन्त०' से लघूपध गुण प्राप्त होने पर '६२७–नाभ्यस्तस्याचि०' से अजादि पित् सार्वधातुक–'आनि' परे होने के कारण उसका निषेध हो जाता है और इस प्रकार–'नेनिज् आनि' = 'नेनिजानि' रूप सिद्ध होता है।

१२. नेनेक्ति

यह 'निज्' (णिजिर्–धोना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का

---

१. ध्यान रहे कि णिजिर् धातु में 'इर इत्संज्ञा वाच्या' वार्त्तिक से इर् इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाने पर णिज् ही शेष रह जाता है। यहाँ '४५८–णो नः' से णकार को नकार हो निज् रूप प्राप्त होता है।

परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'निज् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद–'तिप्' (ति) हो 'निज् ति' रूप बनने पर ११ वें पद की भाँति शप्-श्लु, द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'नि निज् ति' रूप बनता है। तब '६२६–णिजां त्रयाणां०' से अभ्यास को गुण हो 'ने निज् ति' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से जकार को गकार होकर 'ने निग् ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में '७४–खरि च' से गकार को ककार होकर 'ने निक् ति' रूप बनने पर '४५१–पुगन्त०' से नकारोत्तरवर्ती इकार (उपधा) को गुण–एकार हो 'ने न् ए क् ति = 'नेनेक्ति' रूप सिद्ध होता है।

१३. नेनेक्षि

यह 'निज्' (णिजिर्-धोना) धातु का लट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'निज् लट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद–'सिप्' (सि) हो 'निज् सि' रूप बनने पर १२ वें पद की भाँति 'नेनेक् सि' रूप बनता है। इस स्थिति में '१५०–आदेशप्रत्यययोः०' से सकार को षकार हो 'नेनेक् ष् इ' रूप बनने पर ककार के संयोग से क्षकार होकर 'नेनेक्ष् इ' = 'नेनेक्षि' रूप सिद्ध होता है।

१४. पपरतुः

देखिये १५ वें पद की रूप-सिद्धि।

१५. पप्रतुः (पपरतुः)

यह 'पॄ' (पालन-पोषण करना) धातु का लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पॄ लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तस्' होकर 'पॄ तस्' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानाम्०' से 'तस्' को 'अतुस्' हो 'पॄ अतुस्' रूप बनता है। तब '३९४–लिटि धातो' से 'पॄ' धातु को द्वित्व हो 'पॄ पॄ अतुस्' रूप बनने पर '३९७—ह्रस्वः' से अभ्यास-प्रथम 'पॄ' को ह्रस्व होकर 'पृ पॄ अतुस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४७३—उरत्' से अभ्यास के ऋकार को 'अर्' हो 'प् अर् पॄ अतुस्' रूप बनने पर '३९६—हलादि शेषः' से रकार का लोप होकर 'प् अ पॄ अतुस्' रूप बनता है। यहाँ '६१३—शॄ–दॄ०' से 'पॄ' को विकल्प से ह्रस्वादेश हो 'प् अ पृ अतुस्' रूप बनने पर '१५—इको यणचि' से ऋकार के स्थान पर रकार होकर 'प् अ प् र् अतुस्' = 'पप्रतुस्' रूप बनेगा। तब '१०५—ससजुषो०' से सकार को 'रु' (र्) आदेश हो 'पप्रतुर्' रूप बनने पर '९३—खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग होकर 'पप्रतुः' रूप सिद्ध होता है। ह्रस्वादेश के अभावपक्ष में 'प् अ पॄ अतुस्' रूप बनने पर '६१४—ऋच्छत्यॄताम्' से 'पॄ' के ॠकार को गुण–'अर्' होकर 'प् अ प् अर् अतुस्' = 'पपरतुस्' रूप बनता है। तब पूर्ववत् रुत्व-विसर्ग हो 'पपरतुः' रूप सिद्ध होगा।

१६. पिपूर्तः

यह 'पॄ' (पालन-पोषण करना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पॄ लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तस्' हो 'पॄ तस्' रूप बनने पर दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु और द्वित्व होकर 'पॄ पॄ तस्' रूप बनता है। तब '६१०-अर्ति-पिपर्त्योश्च' से अभ्यास के ऋकार के स्थान पर 'इर्' आदेश हो 'प् इ र् पॄ तस्' रूप बनने पर '३९६-हलादिः शेषः' से रकार का लोप होकर 'प् इ पॄ तस्' = 'पिपॄ तस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६११—उद् ओष्ठ्यपूर्वस्य' से ऋकार को 'उर्' आदेश हो 'पि पॄ उर् तस्' रूप बनने पर '६१२—हलि च' से उपधाभूत उकार को दीर्घ ऊकार होकर 'पि प् ऊर् तस्' = 'पिपूर्तस् रूप बनता है। यहाँ १५ वें पद की भाँति रुत्व-विसर्ग हो 'पिपूर्तः' रूप सिद्ध होता है।

१७. बिभितात् (बिभीतात्, बिभेतु)

यह 'भी' (डरना) धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भी लोट्'। यहाँ दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु, द्वित्व और ह्रस्वादेश हो 'भि भी ति' रूप बनने पर '३९९—अभ्यासे चर्च' से अभ्यास भकार के बकार होकर 'बि भी ति' रूप बनेगा। यहाँ '४११—एरुः' से ति के इकार को उकार होकर 'बि भी तु' रूप बनने पर '४१२—तुह्योस्तातङ्०' से तु के स्थान पर विकल्प से 'तातङ्' (तात्) आदेश हो 'बिभीतात्' रूप बनता है। इस स्थिति में '६०९—भियोऽन्यतरस्याम्' से 'भी' के ईकार को विकल्प से ह्रस्व इकार हो 'बिभितात्' सिद्ध होता है। इकार के अभावपक्ष में 'बिभीतात्' रूप ही रहेगा। ध्यान रहे यह 'तातङ्'—आदेश भी विकल्प से होता है, अतः उसके अभावपक्ष में 'बि भी तु' रूप बनता ही है। '३८८-सार्वधातुक०' से भकार के इकार को गुण होकर 'बभेतु' रूप भी बनता है।

१८. बिभ्रति

यह 'भृ' ('भृञ्' = धारण और पालन करना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लट्' यहाँ प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'झि' हो 'भृ झि' रूप बनने पर दूसरे पद की भाँति शप्-श्लु और द्वित्व होकर 'भृ भृ झि' रूप बनता है। तब '६२२—भृञामित्०' से अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है। '२९—उरण् रपरः' की सहायता से अभ्यास 'भृ' के ऋकार के स्थान पर 'इर्' हो 'भ् इर् भृ झि' रूप बनता है। तब '३९६—हलादिः शेषः' से रकार का लोप होकर 'भ् इ भृ झि' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३९९—अभ्यासे०' से अभ्यास के भकार को बकार होकर 'ब् इ भृ झि' = बि भृ झि' रूप बनता है, यहाँ '३४४—उभे अभ्यस्तम्' से अभ्यास संज्ञा होने पर '६०६—अभ्यस्तात्' से 'झ' के झकार को 'अत्' होकर 'बभृ अत् इ' = 'बिभृ अति' रूप बनेगा।

तव '१५—इको०' से 'भृ' के ऋकार को यण्-रकार हो 'वि भ् र् अत् इ' = 'विभ्रति' रूप सिद्ध होता है।

१९. भृपीष्ट

यह 'भृ' (भृञ्'—धारण और पालन करना) धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'भृ त' रूप वनने पर '५२०—लिङ०' से 'त' प्रत्यय को 'सीयुट्' (सीय्) का आगम होता है। '८५—आद्यन्तौ०' परिभाषा से यह सीयुट् (सीय्) 'त' आदि का अवयव होता है और इस प्रकार रूप वनता है—'भृ सीय् त'। तव '४२९—लोपः०' से यकार का लोप होकर 'भृ सी त' रूप वनने पर '५२३—सुट्तिथोः' से तकार को 'सुट् (स्) का आगम होगा। टित् होने से पूर्ववत् यह भी तकार का आदि अवयव होगा और रूप वनेगा—'भृ सी स् त'। इस अवस्था में '४३१—लिङ् आशिषि' से 'स् त' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१—आर्धधातुक०' से 'इट्' का आगम प्राप्त होता है किन्तु 'भृ' धातु के एकाच् होने के कारण '४७५—एकाच०' से उसका निषेध हो जाता है। तव '३८८—सार्वधातुक०' से गुण प्राप्त होता है किन्तु '५४४—उश्च' से 'सी स् त' की कित् संज्ञा होने पर '४३३—ग्क्ङि०' से उसका भी निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '१५०—आदेश०' से दोनों-सकारों को षकार हो 'भृ षी ष् त' रूप वनने पर '६४—ष्टुना०' से तकार को टकार हो 'भृपीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

२०. भ्रियात्

यह 'भृ' ('भृञ् = धारण और पालन करना) धातु का आशीर्लिङ् प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'भृ लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) हो 'भृ ति' रूप वनने पर '४२४—इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'भृ त्' रूप वनेगा। इस स्थिति में '४२६—यासुट्०' से 'लिङ्' सम्वन्धी 'त्' को 'यासुट्' (यास्) का आगम होता है। टित् होने कारण यह 'त्' का आदि अवयव होगा और रूप वनेगा—'भृ यास् त्' तव '३०९—स्कोः संयोगा०' से 'यास्' के 'स्' का लोप होकर 'भृ या त्' रूप वनने पर '५४३—रिङ्श०' से 'भृ' के ऋकार को 'रिङ्' (रि) होकर 'भ् रि या त' = 'भ्रियात्' रूप सिद्ध होता है।

२१. मिमीते

यह 'मा' ('माङ्'—नापना और शब्द करना) धातु का लट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'मा लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'मा त' रूप वनने पर '५०८—टित आत्मने०' से 'त' को एत्व होकर 'मा ते' रूप वनता है। इस स्थिति में दूसरे

पद की भाँति 'शप्' (अ) 'श्लु' द्वित्व और अभ्यास को ह्रस्व हो 'म मा ते' रूप बनने पर '६२२-भृञामित्' से अभ्यास-ककार के अकार को इकार अन्तादेश हो 'मि मा ते' रूप बनता है। तब '६१८-ई हल्यघोः' से धातु 'मा' के आकार को ईकार हो 'मि म् ई ते' = 'मिमीते' रूप सिद्ध होगा।

दिवादिगण-प्रकरण

१. अजनि (अजनिष्ट)

यह 'जन्' ('जनी'-उत्पन्न होना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकचवन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'जन् लुङ्'। यहाँ '४२३-लुङलङ्०' से 'जन्' धातु को 'अट्' (अ) आगम और प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'अ जन् त' रूप बनता है। तब '४३७-च्लि लुङि' से 'च्लि' हो 'अ जन् च्लि त' रूप बनने पर '६४०-दीपजन०' से विकल्प से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) होकर 'अ जन् इ त' रूप बनता है। यहाँ '४५५-अत०' से 'जन्' के अकार को वृद्धि प्राप्त होती है, परन्तु '६४२-जनि०' से वृद्धि का निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '६४१-चिणो लुक्' से 'त' का लोप होकर 'अजनि' रूप सिद्ध होता है। 'चिण्' के अभाव-पक्ष में 'च्लि' को '४३८-च्लेः सिच्' से 'सिच्' (स्) होकर 'अ जन् स् त' रूप बनने पर '४०१-आर्धधातुक०' से 'इट्' (इ) का आगम हो 'अ जन् इ स् त' रूप बनेगा। तब '१५०-आदेश०' से सकार को षकार होकर 'अ जन् इ ष् त' रूप बनने पर '६४-ष्टुना ष्टुः०' से तकार को टकार हो 'अजन् इ ष् ट' = 'अजनिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

२. अजनिष्ट

देखिये प्रथम पद की रूप-सिद्धि।

३. अदास्त

यह 'दी' (दीङ्-नाश होना) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दी लुङ्'। यहाँ '४२३-लुङ्लङ्०' से 'दी' धातु को 'अट्' (अ) का आगम और प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'अ दी त' रूप बनता है। तब '४३७-च्लि लुङ्' से 'च्लि' हो 'अ दी च्लि त' रूप बनने पर '४३८-च्लेः सिच्' को 'सिच्' (स) होकर 'अ दी स् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६३८-मीनाति०' से 'दी' धातु को 'आत्व' (आ) होकर 'अ दा स् त' रूप बनता है। यहाँ '६२३-दाधा' से 'दा' की घुसंज्ञा होने के कारण '६२४-स्थाघ्वोरिच्च' से उसके आकार को इकार आदेश प्राप्त होता है, किन्तु 'स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः' वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है और इस प्रकार 'अ दा स् त' = ,अदास्त' रूप सिद्ध होता है।

४. अपादि

यह 'पद्' (जाना) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'पद् लुङ्'। यहाँ तीसरे पद की भाँति 'अट्' (अ) आगम और आत्मनेपद 'त' हो 'अ पद् त्' रूप बनता है। तब '४३७—च्लि लुङि' से 'च्लि' हो 'अ पद च्लि त' रूप बनने पर '६४३—चिण्ते पदः' से 'च्लि' को 'चिण्' (इ) आदेश होकर 'अ पद् इ त' रूप बनता है। इस स्थिति में '६४१—चिणो लुक्' से 'त' का लोप हो 'अ पद् इ' रूप बनने पर '४५५—अत उपधायाः' से 'पद' धातु को 'वृद्धि' आकार हो 'अ पा द् इ' = 'अपादि' रूप सिद्ध होता है।

५. असृष्ट

यह 'सृज्' (छोड़ना) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सृज् लुङ्'। यहाँ भी 'अट्' (अ) आगम और 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'अ सृज् त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४३७—च्लि लुङि' से 'अ सृज् च्लि त' रूप बनने पर '४३८—च्लेः सिच्' से 'च्लि' को 'सिच्' (स्) होकर 'अ सृज् स् त' रूप बनेगा। तब '४५१—पुगन्त०' से 'सृज्' की उपधा को गुण प्राप्त होता है, किन्तु '५८९-लिङ् सिच्०' से 'सिच्' (स्) की कित् संज्ञा होने के कारण '४३२—क्ङिति०' से उसका निषेध हो जाता है। तब '४७८—झलो झलि०' से 'सिच्' सम्बन्धी सकार का लोप होकर 'अ सृ ज् त' रूप बनने पर '३०७—व्रश्च०' से जकार को षकार होकर 'अ सृ ष् त' रूप बनेगा। यहाँ '६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर अ सृ ष् ट' = 'असृष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६. जज्ञे

यह 'जन्' धातु का लिट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद परक रूप है। मूलरूप है—'जन् लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' हो 'जन् त' रूप बनता है। इस स्थिति में '३९४—लिटि धातो०' से 'जन्' धातु को द्वित्व हो 'जन् जन् त' रूप बनने पर '३९६—हलादिः शेषः' से नकार का लोप होकर 'ज जन् त' रूप बनेगा। यहाँ '५१३—लिटस्त०' से त को 'एश्' (ए) आदेश हो 'ज जन् ए' रूप बनने पर '५०५—गमहन०' से 'जन्' के जकार के अकार का लोप होकर 'ज ज् न् ए' रूप बनता है। तब '६२—स्तोश्चु०' से 'न्' को 'ञ्' होकर 'ज ज् ञ् ए' रूप बनने पर जकार-ञकार के संयोग से 'ज्ञ' हो 'ज ज्ञ् ए' = 'जज्ञे' रूप सिद्ध होता है।

७. दिदीये

यह 'दी' धातु का लिट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'दी लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'त' हो 'दी त' रूप बनने पर '३९४—लिट्०' से द्वित्व होकर 'दी दी त' रूप बनता है। इस

स्थिति में '५१३-लिटस्त०' से 'त' को 'एश्' (ए) हो 'दी दी ए' रूप बनने पर '३९७–ह्रस्वः' से प्रथम 'दी' को ह्रस्व होकर 'दि दी ए' रूप बनेगा। तब '६३७–दीङो०' से 'युट्' का आगम प्राप्त होता है तथा '२०[illegible]–एरनेकाचो०' से 'यण्' प्राप्त होता है। इस स्थिति में 'युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' वार्तिक से नित्य 'युट्' (य्) होकर 'दि दी य् ए' = 'दिदीये' रूप सिद्ध होगा।

८. ननद्ध

देखिये १२ वें पद की रूप-सिद्धि के अन्तर्गत।

९. ननंष्ठ-(नेशिथ)

यह 'नश्' ('णश्'-नाश होना) धातु का लिट्-लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'नश् लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद 'सि' हो 'नश् सि' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' 'सि' के स्थान पर 'थल्' (थ) होकर 'नश् थ' रूप बनेगा, तब '३१४-लिटि धातोः०' से द्वित्व हो 'नश् नश् थ' रूप बनने पर '३९६–हलादिः' से अभ्यास के शकार का लोप होकर 'न नश् थ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६३५–रधादि०' से विकल्प से 'इट्' (इ) हो 'न नश् इ थ' रूप ननने पर '४६१-थलि च सेट्' से अभ्यास 'न' का लोप तथा धातु के नकारोत्तरवर्ती अकार को एकार हो 'न् ए श् इ थ' = नेशिथ रूप बनेगा।

ध्यान रहे 'इट्' (इ) विकल्प से होता है, अतः इट् के अभाव पक्ष में 'न नश् थ' इस स्थिति में ही '६३६–मस्जिनशो०' से 'नुम्' (न्) आगम होता है। '२४०-मिदचो०' से यह आगम द्वितीय नकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् होगा और रूप बनेगा-'न न न् श् थ' तब '३०७-व्रश्च०' से शकार को षकार हो 'न न न् ष् थ' रूप बनने पर '६४-ष्टुनाष्टुः' से थकार को ठकार होकर 'न न न् ष् ठ' रूप बनेगा। यहाँ '७८-नश्चा-पदान्त०' से नकार को अनुस्वार हो 'न नं ष् ठ' = 'ननंष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

१०. नर्तिष्यति-(नर्त्स्यति)

यह 'नृत्' (नृती-नाचना) धातु का लृट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है–'नृत् लृट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में परस्मैपद 'ति' हो 'नृत् ति' रूप बनने पर '४०३-स्यतासी०' से 'स्य' प्रत्यय होकर 'नृत् स्य ति' रूप बनता है। तब '६३०-सेऽसिचि०' से विकल्प से 'इट्' (इ) आगम हो 'नृत् इ स्य ति' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त०' से धातु को गुण हो 'नर् त् इ स्य ति' रूप बनेगा। '१५०-आदेश०' से 'स्' को 'ष्' होकर 'न र्त् इ ष्य ति' = 'नर्तिष्यति' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव पक्ष में षकार न होकर 'नर्त्स्यति' रूप सिद्ध होगा।

११. नर्त्स्यति

देखिए दसवें पद की रूप सिद्धि।

(अ) के स्थान पर 'औ' आदेश होकर 'स सा औ' रूप बनेगा। तब '३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि–एकादेश होकर 'ससौ' रूप सिद्ध होता है।

१६. सृक्षीष्ट

यह 'सृज्' (छोड़ देना) धातु का आशीर्लिङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सृज् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' होकर 'सृज् त' रूप बना। अब '५२०–लिङः सीयुट्' से 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) आगम होकर 'सृज् सीय् त' रूप बनेगा।[1] यहाँ '५२३–सुट्०' से 'त' को 'सुट्' (स्) आगम पूर्ववत् 'त' के पूर्व होकर 'सृज् सीय् स् त' रूप और '३०७–व्रश्च०' से 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'सृष् सीय स् त' रूप बनता है। तब '५४८–षढोः०' से षकार से सकार परे होने के कारण षकार के स्थान पर ककार होकर 'सृक् सीय् स् त' रूप एवं '४२९–लोपो०' से वल् सकार परे होने से यकार का लोप होकर 'सृक् सी स् त' रूप बनेगा। यहाँ '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'क्' के व्यवहित परवर्ती एवं ईकार के अव्यवहित परवर्ती दोनों सकारों के स्थान पर 'ष्' होकर 'सृक् षीष् त' रूप और फिर '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'त्' के स्थान पर 'ट्' हो 'सृक् षी ष् ट् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में ककार और परवर्ती षकार के संयोग से क्षकार हो 'सृ क्ष् ई ष् ट् अ' = सृक्षीष्ट' रूप सिद्ध होगा।

१७. स्रक्ष्यते

यह 'सृज्' (विसर्गार्थवाची) धातु का लृट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सृज् लृट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लृट्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' होकर 'सृज् त' रूप बनता है। पुनः '४०३–स्यतासी०' से धातु से 'स्य' प्रत्यय होकर 'सृज् स्य त' रूप होकर '५०८–टित०' से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की टि–'अ' के स्थान पर 'ए' होकर 'सृज् स्य ते' रूप बनेगा। अब '६४४–सृजि०' से 'सृज्' को अम् (अ) आगम होगा। यह आगम '२४०–मिदचो०' के अनुसार 'सृज्' के अन्त्य अच् ऋकार के बाद होगा और रूप बनेगा–'सृ अ ज् स्य ते'। अब '१५–इको यणचि' से अकार के स्थान में रकार होकर 'स् र् अज् स्य ते' रूप और '३०७–व्रश्च०' से ज् के स्थान में ष् होकर 'स् र् अष् स्य ते' = 'स्रष् स्य ते' रूप बनता है। फिर '५४८–षढोः०' 'ष्' के स्थान पर 'क्' होने पर 'स्रक् स्य ते' रूप और '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' के स्थान पर 'ष' होकर 'स्रक् ष् य ते' = 'स्रक्ष्यते' रूप सिद्ध हुआ।

---

१. ध्यान रहे टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'सीयुट्' (सीय्) आगम प्रत्यय 'त' का आद्यवयव बनता है।

१८. स्रष्टा

यह 'सृज्' (विसर्गार्थवाची) धातु का लुट्-लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'सृज् लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष—एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर आत्मने पद 'त' होकर 'सृज् त' रूप बनता है। फिर '४०३–स्यतासी०' से धातु के बाद 'तासि' (तास्) की प्राप्ति होकर 'सृज् तास् त' रूप और '४०५–लुटः०' से 'त' के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'सृज् तास् आ' रूप बनता है। तब '२४२–टेः' से डित्–डा (आ) पर होने के कारण टि–'आस्' का लोप होकर 'सृ ज् त् आ' रूप बनेगा[1]। अब '६४४–सृजि०' से 'सृज्' को 'अम्' (अ) आगम होगा। यह आगम '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' के अनुसार 'सृज् के अन्त्य अच्–ऋकार से पर होगा और रूप बनेगा–'सृ अ ज् त् आ'। इसके पश्चात् '१५–इको यणचि' से 'ऋ' के स्थान पर 'र्' होने से 'स् र् अ ज् त् आ' = 'स्रज् ता' रूप एवं '३०७–व्रश्च–भ्रस्ज०' से 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होने पर 'स्र ष् ता' रूप बनेगा। यहाँ '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'त्' के स्थान पर 'ट्' होकर 'स्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।

स्वादिगण-प्रकरण

१. अचैषीत्

यह 'चिञ्' (चि–चयन करना) धातु का लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'चि लुङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'चि ति' रूप और '४२३–लुङ्-लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ चि ति' रूप बनता है। फिर '४२४–इतश्च' से ङित् लकार–लुङ् सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद 'ति' के अन्त्य वर्ण–इकार का लोप होकर 'अ चि त्' रूप बनेगा। अब '४३७–च्लि लुङि' से लुङ् परे होने के कारण धातु 'चि' से पर 'च्लि' होकर 'अ चि च्लि त्' रूप एवं '४३८–च्लेः सिच् से 'च्लि' के स्थान पर सिच् (स्) आदेश होकर 'अ चि स् त' रूप बनता है। अब '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से 'सिच्' (स्) के वलादि आर्धधातुक प्रत्यय होने के कारण 'इट्' (इ) का आगम हो रहा था जिसका बाध '४७५–एकाच उपदेऽनुदात्तात्' से हुआ। फिर '४४५–अस्ति सिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' (स्) से पर अपृक्त हल्–'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होकर 'अ चि स् ई त्' रूप बनकर '४८४–सिचि वृद्धिः०' से इगन्त अङ्ग 'अ चि' के इकार के स्थान

१. विशेष स्पष्टीकरण के लिये रूप-संख्या १४ (योद्धा) की रूप-सिद्धि प्रक्रिया देखिये।

में वृद्धि–'ऐ' होकर 'अ चै सी त्' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '१५०–आदेश-प्रत्यययोः०' से 'स्' के स्थान पर मूर्धन्य—'ष्' होकर 'अचैषीत्' रूप सिद्ध हुआ।

२. अधावीत्

यह 'धू' (धूञ्–हिलाना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'धू लुङ्'। यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद होने से कारण लुङ् के स्थान पर 'तिप्' (त) आदेश होकर 'अ धू ति' रूप बनता है। तब '४२४–इतश्च' से ङित् लकार–'लुङ्' के स्थान पर आने वाले परस्मैपद 'ति' के इकार लोप होने पर 'अ धू त्' रूप बनेगा। अब '४३७–च्लि लुङि' से 'लुङ्' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ धू च्लि त्' रूप एवं '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश हो जाने पर 'अ धू स् त्' रूप बनेगा। फिर '६४६–स्तुसु०' से परस्मैपद में 'सिच्' को 'इट्' (इ) आगम होकर 'अ धू इ स् त्' रूप और '४४५–अस्ति सिचोऽपृक्ते' से 'तिप्' के 'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होने पर 'अ धू इ स् ई त्' रूप बनता है। इसके पश्चात् '४४६–इट ईटि' से इट् से पर सकार से परवर्ती 'ईट्' होने के कारण सकार का लोप होकर 'अ धू इ ई त्' रूप बनने पर '४८४–'सिचि वृद्धिः०' से ऊकार के स्थान पर वृद्धि होकर अध् औ इ ई त् रूप बनेगा। तब '२२–एचोऽयवायावः' से 'औ' के स्थान पर 'आव्' होकर 'अध् आव् इ ई त्' रूप बनने पर '४२-अकः सवर्णे०' से 'इ' और 'ई' के स्थान पर दीर्घ ईकार हो 'अध् आव् ई त्' = 'अधावीत्' रूप सिद्ध होता है।

३. असावीत्

यह 'षु' (षुञ्–निचोड़ना आदि) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'षु लुङ्'। यहाँ पहले '२५५–धात्वादेः षः सः' से षकार के स्थान पर सकार होकर 'सु लुङ्' रूप एवं '४२३–लुङ्लङ्०' से 'सु' को अट् (अ) आगम होने पर 'अ सु लुङ्' रूप बनता है। फिर '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ सु ति' रूप और '४२४–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'अ सु त्' रूप बनता है। इसके बाद '४३७–च्लि लुङि' से 'लुङ्' पर होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ सु च्लि त्' रूप एवं '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश होकर 'अ सु स् त्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्वपद (२) के समान है।

४. अस्तरिष्ट (अस्तृत)

यह 'स्तृ' (स्तृञ्—आच्छादन करना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'स्तृ लुङ्'। यहाँ '४२३—लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होने पर 'अ स्तृ लुङ्' एवं '३८२—तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन आत्मनेपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'त' आदेश होकर 'अ स्तृ त' रूप वनता है। अव '४३७—च्लि लुङ्' से लुङ् परे होने के कारण धातु से पर 'च्लि' होकर 'अ स्तृ च्लि त' रूप एवं '५३८—च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर सिच् (स्) आदेश होकर 'अ स्तृ स् त' रूप वनेगा। इस स्थिति में '३८८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से सार्वधातुक प्रत्यय 'त' पर होने के कारण अङ्ग के इक्—'ऋ' के स्थान में गुणादेश—'अर्' होकर 'अस्तर् स् त' रूप बनता है।[1] इसके पश्चात् '६४९—ऋतश्च०' से आत्मनेपद 'त' परे होने के कारण संयोगादि ऋकारान्त धातु से परे (सिच्) स् को विकल्प से 'इट्' (इ) आगम होकर 'अस्तर् इ स् त' रूप वनेगा। तव '१५०—आदेश-प्रत्यययोः' से 'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'अस्तर् इ ष् त' रूप एवं '६४—ष्टुना ष्टुः' से 'ष् से पर 'त्' के स्थान पर 'ट्' होकर 'अस्तर् इ ष् ट् अ'—'अस्तरिष्ट' रूप सिद्ध होगा। 'इट्' के अभाव-पक्ष में 'अस्तृ स् त' रूप वनने पर '५४४—उश्च' से 'स्' कित् हुआ। कित् होने के कारण '३८८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'ऋ' के स्थान पर प्राप्त होने वाले गुणादेश—'अर्' का निषेध '४३३—क्क्ङिति च' से हुआ। अव '५४५—ह्रस्वादङ्गात्' से 'स्' का लोप हो जाता है क्योंकि 'सिच्' (स्) ह्रस्वान्त अङ्ग से परे है और 'सिच्' (स्) से पर झल्—'त्' है। इस प्रकार 'स्' का लोप होने पर 'अस्तृत' रूप सिद्ध हुआ।

५. अस्तृत

देखिये—रूप-सिद्धि संख्या ४ के अन्तर्गत।

६. चिकाय

यह 'चिञ्' (चि—चयन करना) धातु का लिट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'चि लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'चि ति' रूप वनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'णल्' (अ) आदेश होकर 'चि अ' रूप वनता है। अव '३९४—लिटि धातोरनभ्यासस्य' से धातु का द्वित्व होकर 'चि चि अ' रूप वनेगा। इस स्थिति में '६४७—विभाषा चेः' से द्वितीय 'चि' से पर

---

१. 'ऋ' के स्थान में गुण—अर् '२९—उरण् रपरः' से होता है।

लिट्-स्थानीय 'णल्' (अ) होने के कारण उसी 'चि' के 'च्' के स्थान में 'क' होकर 'चि कि अ' रूप बनने पर '१८२–अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय 'णल्' (अ) परे होने के कारण अजन्त अङ्ग 'चि कि' के अन्त्य अच्–ककारोत्तरवर्ती इकार को वृद्धि 'ऐ' होकर 'चि कै अ' रूप बनता है। तब '२२–एचोऽयवायावः' से 'ऐ' स्थान में 'आय्' आदेश होकर 'चिक् आय् अ' = 'चिकाय' रूप सिद्ध होगा।[1]

७. दुधविथ

यह 'धू' (धूञ्–हिलाना) धातु का लिट्-लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'धू लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'सिप्' (सि) होकर 'धू सि' रूप बनता है। फिर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'सिप्' के स्थान पर 'थल्' (थ) आदेश होकर 'धू थ' रूप होने पर '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से धातु का द्वित्व होकर 'धू धू थ' रूप बनेगा। अब '३९७–ह्रस्वः' से अभ्यास संज्ञक प्रथम 'धू' के अच्–'ऊ' का ह्रस्व–'उ' होकर 'धु धू थ' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास संज्ञक प्रथम 'धु' झल्–'ध्' के स्थान पर जश्–'द्' होकर 'दु धू थ' रूप बनता है। इसके पश्चात् '४७६-स्वरति०' के द्वारा 'ध' (धूञ्) धातु से वलादि आर्धधातुक 'थल्' पर होने के कारण 'थल्' को 'इट्' (इ) आगम होकर 'दु धू इ थ' रूप बनेगा। बाद में '३८८–सार्व धातुक०' से इगन्त अङ्ग को गुण होने पर 'दु ध् ओ इ थ' रूप एवं '२२–एचोऽय-वायावः' से 'ओ' के स्थान में 'अव्' आदेश होकर 'दुध् अव् इ थ' = 'दुधविथ' रूप सिद्ध हुआ।

८. दुधुविव

यह 'धू' (धूञ्) धातु का लिट्–लकार में उत्तमपुरुष-द्विवचनका का परस्मैपदपरक रूप है। प्रारम्भ की प्रक्रिया उपर्युक्त 'दुधविथ' रूप संख्या ७ समान है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ रूप उत्तमपुरुष-द्विवचन का है अत एव जहाँ उक्त रूप में 'सिप्' एवं 'थल्' प्रत्यय आये हैं वहाँ क्रमशः 'वस्' एवं 'व' आयेंगे। इस प्रकार '३९९–अभ्यासे चर्च' से 'दुधूव' रूप बनेगा। तब '४७६–स्वरति०' द्वारा 'धूञ्' धातु से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय 'व' परे होने के कारण 'व' को विकल्प से इट् (इ) आगम प्राप्त था, किन्तु '६५०–श्र्युकः किति' से एकाच्-उगन्त धातु 'धू' (धूञ्) से पर कित् प्रत्यय 'व' के इडागम का निषेध हो जाता है। तब '४७९–अचि क्रसृ०' द्वारा पुनः नित्य इडागम होने पर 'दु धू इ व' रूप एवं '१९९–अचि श्नुधातु०' द्वारा 'धू' धातु के

१. सूत्र '६४७–विभाषा चेः' से कुत्व विकल्प से होता है। कुत्वाभावपक्ष में 'चचाय' रूप बनेगा।

उकार के स्थान पर 'उवङ्' (उव्) आदेश होकर 'दुध् उव् इ व' = 'दुधुविव' रूप सिद्ध हुआ।

९. सुन्वते

यह 'षु' (षुञ्–निचोड़ना आदि) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–बहुवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'षु लट्'। पहले '२५५ धात्वादेः षः सः' से षकार के स्थान पर सकार होकर 'सु लट्' रूप एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथम-पुरुष–बहुवचन आत्मनेपद होने के कारण 'लट्' के स्थान पर 'झ' आदेश होकर 'सु झ' रूप बनता है। इसके बाद '६४५–स्वादिभ्यः श्नुः' से धातु से श्नु (नु) प्रत्यय होकर 'सु नु झ' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में '३८९–झोऽन्तः' से 'झ्' के स्थान से 'अन्त' आदेश हो रहा था परन्तु अकारभिन्न–उकार से पर आत्मनेपद के 'झ' के स्थान में 'अत्' का विधान करने वाले सूत्र '५२४–आत्मनेपदेष्वनतः' के द्वारा 'अन्त' का बाध होकर 'अत्' के विधान से 'सु नु अत् अ', रूप बनेगा। अब '३८८–सार्वधातुकार्धधातु-कयोः' से इगन्त–उकारान्त अङ्ग–'सु नु' से पर सार्वधातुकप्रत्यय 'अत्' के परवर्ती होने पर उकार को गुण–ओकार हो रहा था किन्तु 'सु नु' अनेकाच् अङ्ग है और यह अङ्ग 'श्नु'-प्रत्ययान्त है, क्योंकि 'श्नु' प्रत्यय का ही अवयव 'नु' है। 'नु' के उकार के पूर्व संयोग भी नहीं है। एवं 'अत्' अजादि सार्वधातुक प्रत्यय है, अतः '५०१–हुश्नुवोः०' से नकारोत्तरवर्ती उकार को यण् वकार होकर 'सु न् व् अत् अ' रूप बनता है। यहाँ तकारोत्तरवर्ती 'अ' टि है। '५०८–टित०' से टित्–लट् लकार के स्थान में आये हुये आत्मनेपद प्रत्यय–'अत् अ' की टि–'अ' के स्थान पर 'ए' होकर 'सु न् व् अत् ए' = 'सुन्वते' रूप सिद्ध होता है।

१०. स्तरिषीष्ट

यह 'स्तृ' (स्तृञ्) धातु का आशीर्लिङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'स्तृ लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन आत्मने-पद की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर 'त' आदेश होकर 'स्तृ त' रूप बनने पर '५२०–*लिङः सीयुट्' द्वारा लिङ् के आत्मनेपद प्रत्यय 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) आगम* होकर 'स्तृ सीय् त' रूप बनेगा। अब '५२३–सुट् तिथोः' से लिङ् के 'त' को 'सुट्' (स्) आगम होने पर 'स्तृ सीय् स् त' रूप एवं '६४९–ऋतश्च संयोगादेः' के द्वारा संयोगादि ऋकारान्त धातु 'स्तृ' से पर आत्मनेपदपरक लिङ्स्थानी 'सीय् स् त' को इट् (इ) आगम होकर 'स्तृ इ सीय् स् त' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '४०८–गुणोऽर्ति संयोगाद्योः' से 'ऋ' के स्थान पर गुण 'अर्' होकर 'स्त् अर् इ सीय् स् त' एवं '४२९–लोपो व्योर्वलि' से 'य्' का लोप होकर 'स्त् अर् इ सी स् त' रूप होता है। तब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्ययावयव दोनों सकारों के स्थान पर मूर्धन्य षकार होकर

'स्त् अ र् इ षी ष् त' रूप और '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'ष्' से पर 'त्' को 'ट्' होकर 'स्त् अर् इ षीष् ट' = 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध हुआ ।

तुदादिगण-प्रकरण

१. अकार्क्षीत्

देखिये ४ र्थ पद की रूप-सिद्धि ।

२. अकृक्षत्

देखिये ४ र्थ पद की रूप-सिद्धि ।

३. अकृक्षाताम्

यह 'कृष्' (जोतना) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष–द्विवचन का आत्मनेपद-परक रूप है । सिच्–पक्ष एवं क्स–पक्ष दोनों में समान रूप–'अकृक्षाताम्' बनता है, जैसा कि प्रकृत प्रक्रिया के क्रमशः (क) एवं (ख) भाग से स्पष्ट हो जायगा ।

सामान्य प्रक्रिया

मूलरूप है—'कृष् लुङ्' । यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ कृष् लुङ्' एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–द्विवचन आत्मनेपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'आताम्' आदेश होने पर 'अ कृष् आताम्' रूप बनता है । इसके पश्चात् '४३७–च्लि लुङि' से लुङ्–'आताम्' पर होने से धातु से 'च्लि' होकर 'अ कृष् च्लि आताम्' रूप बनेगा ।

विशेष प्रक्रिया

(क) पूर्वोल्लिखित 'अकृष् च्लि आताम्' रूप होने पर '६५३–अनुदात्तस्य०' सूत्र की व्याख्या में वर्तमान वार्तिक–'स्पृश-मृश०' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) की विकल्प से प्राप्ति होती है, फलतः सिजभाव पक्ष में '५९०–शल इगुपधाद०' से 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' (स) की प्राप्ति होगी ।[1] जब 'च्लि' के स्थान पर सिच् (स्) होगा तब रूप बनेगा–'अ कृष् स् आताम्' । ऐसी स्थिति होने पर '५४८–षढोः कः सि' से सकार परे होने के कारण षकार को ककार होकर 'अकृक् स् आताम्' रूप एवं '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सिच्' प्रत्यय के अवयव–'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'अ कृ क् ष् आताम्' = 'अकृक्षाताम्' रूप सिद्ध हुआ ।[2] (ख) सामान्य प्रक्रिया

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये–४ र्थ पद–'अक्राक्षीत्' की रूपसिद्धि की विशेष प्रक्रिया (क) का प्रारम्भिक अंश ।

२. ध्यान रहे कि ककार और षकार के संयोग से क्षकार हो जाता है ।

द्वारा निर्दिष्ट 'अकृष् च्लि आताम्' रूप वनने पर एवं ऊपर (क) भाग में प्रदर्शित सिजभावपक्ष में '५९०-शल इगुपधाद०' से 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' (स) की प्राप्ति होने पर रूप वनता है-'अ कृ ष् स आताम्'। अव '५९२-क्सस्याऽचि' से अजादि तङ्-'आताम्' परे होने के कारण 'क्स' (स) के अन्त्य अल्-'अ' का लोप होकर 'अ कृष् स् आताम्' रूप वनता है। यह रूप ऊपर (क) भाग के समान ही है अत एव शेप वही प्रक्रिया होकर 'अकृक्षाताम्' रूप सिद्ध होगा।

४. अक्राक्षीत् (अकार्क्षीत्, अकृक्षत्)

इनमें से प्रत्येक 'कृष्' धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है।[1]

सामान्य प्रक्रिया

मूलरूप है—'कृष् लुङ्'। यहाँ '४२२-लुङ्लङ्०' से 'अट् (अ) आगम होकर 'अ कृष् लुङ्' एवं '३८२-तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होने पर 'अकृष् ति' रूप और' ४३७-च्लि लुङि' से लुङ्-'त्' पर होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ कृप् च्लि त्' रूप वनता है।

विशेष प्रक्रिया

(क) 'अ कृष् च्लि त्' रूप होने पर '४३८-च्लेः सिच् (३. १. ४४)' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश हो रहा था किन्तु '५९०-शल इगुपधाद०' (३. १. ४५) से इगुपध (इक्-ऋ उपधा है) शलन्त (शल्-क् है) एवं अनिट्

---

१. तीनों का मूलरूप 'कृप् लुङ्' है। '४३७-च्लि लुङि' से धातु से 'च्लि' होकर 'कृष् च्लि लुङ्' रूप होता है। अव '४३८-च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' की प्राप्ति हो रही थी किन्तु '५९०-शल इगुपधाद-०' से सिच् के आदेश को वाधकर 'क्स' की प्राप्ति होने लगी। तव '६५३-अनुदात्तस्य०' सूत्रपरक वार्तिक-'स्पृशमृश०' से 'क्स' को वाधकर 'सिच्' की प्राप्ति विकल्प से हुई। अर्थात् एक पक्ष में सिच् की प्राप्ति होगी दूसरे में नहीं होगी। जिस पक्ष में 'सिच्' की प्राप्ति नहीं होगी उसमें 'क्स' ही की प्राप्ति होगी। अर्थात् दो पक्ष इस प्रकार हैं—(१) सिच् की प्राप्ति (२) क्स की प्राप्ति। सिच् की प्राप्ति में-'६५३-अनुदात्तस्य०' से 'अम्' की प्राप्ति विकल्प से होगी। इस प्रकार 'सिच्' पक्ष में भी दो पक्ष हो गये (१) 'अम्' सहित 'सिच्' पक्ष (२) 'अम्' रहित 'सिच्' पक्ष। अव 'क्स'-पक्ष को मिलाकर कुछ तीन पक्ष हुए—(१) अम्-सहित सिच् पक्ष (२) अम् रहित सिच् पक्ष (३) क्स पक्ष। इन्हीं तीनों विभेदों के आधार पर क्रमशः 'अक्राक्षीत्' 'अकार्क्षीत्' और 'अकृक्षत्' रूप वनते हैं।

धातु–'कृप्' से परे 'च्लि' होने के कारण 'सिच्' का बाध होकर वहाँ 'क्स' (स) की प्राप्ति होने लगी। तब '६५३–अनुदात्तस्य०' सूत्र की व्याख्या में वर्तमान वार्तिक–'स्पृशमृश०' से 'क्स' का बाध एवं 'सिच्' की प्राप्ति विकल्प से होती है। यहाँ 'सिच्' (स्) की प्राप्ति होने पर 'अ कृ प् स् त्' रूप बनता है। अब '६५३–अनुदात्तस्य०' से ऋदुपध धातु 'कृष्' को विकल्प से 'अम्' (अ) आगम होगा। आगम 'अम्' 'मित्' होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' के बल से ऋकार के पश्चात् होगा, तब रूप बनेगा–'अ कृ अ ष् स् त्।' अब '१५–इको यणचि' से 'ऋ' के स्थान पर 'र्' होकर 'अ क् र् अ ष् स् त्' तथा '५४८–षढोः कः सि' से सकार परे होने से षकार को ककार होकर 'अ क् र् अ क् स् त्' रूप बनता है। तब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'सिच्' प्रत्यय के अवयव 'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'अ क् र् अ क् ष् त्' रूप और '४४५–अस्ति सिचोऽपृक्ते' से 'सिच्' (ष्) से पर अपृक्त हल् 'त्' को ईट् (ई) आगम होकर 'अ क् र् अ क् ष् ई त्' रूप बनेगा। अब '४६५–वदव्रज०' से धातु के अच्–रकारोत्तरवर्ती अकार–को वृद्धि होकर 'अ क् र् आ क् ष् ई त्' रूप बनने पर ककार और षकार के संयोग से क्षकार हो, अ क् र् आ क्ष् ई त्' = 'अक्राक्षीत्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) भाग (क) में उल्लिखित हो चुका है कि '६५३–अनुदात्तस्य०' से ऋदुपध धातु 'कृष्' को विकल्प से अम् (अ) आगम होगा। अत एव अमागम न होने की स्थिति में पूर्ववत् 'अ कृष् स् त्' रूप बनने पर '४६५–वदव्रज०' से हलन्त धातु 'कृष्' से परे 'सिच' (स्) होने के कारण धातु के 'अच्'–ककारोत्तरवर्ती ऋकार–को वृद्धि 'अ क् आर् ष् स् त्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया (क) भाग के समान ही है, यथा–'५४८–षढोः कः सि' से षकार को ककार होकर 'अ क् आर् क् स् त्' रूप, '१५०–आदेशप्रत्यययोः' द्वारा 'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'अ क् आर् क् ष् त्' रूप एवं '४४५–अस्ति सिचोऽपृक्ते' से 'त्' को इट् (ई) आगम होकर 'अ क् आर् क् ष् ई त् = 'अकार्क्षीत्' रूप सिद्ध होगा।

(ग) भाग (क) में उल्लिखित हो चुका है कि 'स्पृशमृश०' वार्तिक से 'सिच्' की प्राप्ति विकल्प से होती है। अत एव विकल्प होने के कारण जब 'सिच्' की प्राप्ति नहीं होगी तब '५९०–शल इगुपधाद०' से 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' (स्) की प्राप्ति होकर 'अ कृ ष् स त्' रूप बनता है। अब पूर्ववत् '५४८–षढोः कः सि' से षकार को ककार होकर 'अ कृ क् स त्' रूप एवं '१५–आदेश प्रत्यययोः' से सकार के स्थान पर षकार होकर 'अ कृ क् ष त्' = 'अ कृ क्ष त्' रूप सिद्ध होता है।[1]

---

१. सूत्र '१३६–लशक्वतद्धिते' से प्रत्यय का आदि ककार इत् होता है। 'क्स' प्रत्यय भी ककार इत् होने के कारण कित् है। 'क्स' के कित् होने के कारण यहाँ गुण न होगा। देखिये सूत्र–'४३३–ग्क्ङिति च'।

५. अप्राक्षीत्

यह 'प्रच्छ' (प्रच्छ्–पूंछना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'प्रच्छ् लुङ्'। यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग–'प्रच्छ्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ प्रच्छ् लुङ्' रूप एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर तिप् (ति) आदेश होने पर 'अ प्रच्छ् ति' रूप बनता है। अब '४३७–च्लि लुङि' से 'लुङ्' परवर्ती होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ प्रच्छ् च्लि ति' रूप और '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश हो जाने पर 'अ प्रच्छ् स् ति' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति होने पर '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' द्वारा 'छ्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'अ प्र ष् स् ति' रूप एवं '५४८–षढोः कः सि' से षकार के स्थान पर ककार होकर 'अ प्र क् स् ति' रूप बनेगा। तब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान पर षकार होकर 'अ प्र क् ष् ति' रूप तथा '४२५—इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अ प्र क् ष् त्' रूप बनता है। इसके पश्चात् '४४५–अस्ति सिचो०' से 'त्' को ईट् (ई) आगम होकर 'अ प्र क् ष् ई त्' रूप बनेगा। तब '४६५–वदव्रज०' से 'सिच्' (ष्) परे होने के कारण हलन्त धातु–'प्रच्छ्' के अच्–अकार को वृद्धि—आकार होकर 'अ प्रा क् ष् ई त्' = 'अप्राक्षीत्' रूप सिद्ध होता है।

६. अभार्क्षीत् (अभ्राक्षीत्)

इनमें प्रत्येक 'भ्रस्ज' (भ्रस्ज्–भूनना) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। जैसा कि निम्नलिखित प्रक्रिया से स्पष्ट हो जायगा, 'रम्' के आगम होने पर 'अभार्क्षीत्' एवं रमभाव पक्ष में 'अभ्राक्षीत्' रूप बनेगा।

सामान्य प्रक्रिया

मूल रूप है—'भ्रस्ज् लुङ्'। यहाँ '४२२–लुङ्लङ्०' से अङ्ग 'भ्रस्ज्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ भ्रस्ज् लुङ्' रूप एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर तिप् (ति) आदेश होने पर 'अ भ्रस्ज् ति' रूप बनता है। अब '४३७–च्लि लुङि' से 'लुङ्' पर होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ भ्रस्ज् च्लि ति' रूप एवं '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश हो जाने पर 'अ भ्रस्ज् स् ति' रूप बनेगा।

विशेष प्रक्रिया

(क) उक्त 'अ भ्रस्ज् स् ति' स्थिति होने पर '६५२–भ्रस्जो०' से 'भ्रस्ज्', धातु के रेफ के एवं उपधा–'स्' के स्थान पर विकल्प से 'रम्' (र्) आगम होकर 'अ भर् ज् स् ति' रूप होकर '३०७–व्रश्चभ्रस्ज० द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर

११. अव्यचीत्

देखिये १२ वें पद की रूप-सिद्धि ।

१२. अव्याचीत् (अव्यचीत्)

इनमें से प्रत्येक 'व्यच्' (व्यच—कपट करना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'व्यच् लुङ्। यहाँ '४२३—लुङ्लङ्०' से अङ्ग—'व्यच्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ व्यच् लुङ्' रूप एवं '३८२—तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष—एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ व्यच् ति' रूप वनता है। फिर '४२४—इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'अ व्यच् त्' रूप तथा '४३७—च्लि लुङि' द्वारा लुङ—'त्' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ व्यच् च्लि त्' रूप वनता है। अव '४३८—च्लेः सिच्' से च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) होने पर 'अव्य च् स् त्' रूप होता है। अव '४०१—आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय—'सिच्' (स्) को 'इट्'—आगम होकर 'अव्यच् इ स् त्' रूप वनेगा।[1] तव '४४५—अस्ति सिचो०' द्वारा विद्यमान सिच्—'स्' से पर अपृक्त हल्—'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होने पर 'अव्यच् इ स् ई त्' रूप एवं '४४६—इट ईटि' से सकार का लोप होकर 'अव्यच् इ ई त्' रूप वनेगा। अव '४५७—अतो हलादेर्लघोः' से धातुस्थ अकार की वृद्धि—आकार-विकल्प से होती है। वृद्धि-पक्ष में 'अव्याच् इ ई त्' = 'अव्याचीत्' रूप एवं वृद्ध्यभावपक्ष में 'अ व्य च् इ ई त्' = 'अव्यचीत्' रूप बनते हैं।[2]

१३. असिक्त

यह 'षिच्' (षिच—सींचना) धातु का लुङ्—लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। इस पद की रूप सिद्धि की प्रारम्भिक प्रक्रिया १४ वें पद की प्रक्रिया के समान है। अन्तर यह है कि यहाँ लुङ् के स्थान पर 'त' प्रत्यय होता है और अन्त तक 'त' ही रहता है। ऐसी स्थिति में १४ वें पद के समान '४३७—च्लि् लुङि' से 'अ सिच् च्लि त' रूप वनने पर '६५६—आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' से तङ्—'त' परे होने के कारण 'सिच्' धातु से पर 'च्लि' को विकल्प से 'अङ्' (अ) आदेश होता है[3]। अङभावपक्ष में '४३८—च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश होकर

---

१. वलादि अर्धधातुक के लिये ४३ वें पद 'व्रश्चिता' की रूप सिद्धि की पाद टिप्पणी देखिये।

२. ध्यान रहे कि यहाँ दोनों ही स्थलों में इकार और ईकार के स्थान पर '४२—अकः सवर्णे०' से दीर्घ ईकार हो जाता है।

३. 'अङ्'—पक्ष में १४ वें पद के समान रूप सिद्धि होकर 'असिचत' रूप वनता है।

'अ सिच् स् त' रूप एवं '४७८—झलो झलि' से सकार का लोप होकर 'अ सि च् त' रूप वनता है। यहाँ '३०६—चोः कुः' से चकार के स्थान पर ककार होकर 'अ सि क् त' = 'असिक्त' रूप सिद्ध होगा।

१४. असिचत्

यह 'षिच्' (षिच-सींचना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'षिच् लुङ्'। पहले '२५५—धात्वादेः षः सः' से 'ष्' के स्थान पर 'स्' होकर 'सिच्' लुङ् रूप एवं '४२३—लुङ्लङ्०' से अङ्ग 'सिच्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ सिच् लुङ्' रूप बनता है। एतदनन्तर '३८२—तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ् के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ सिच् ति' रूप और '४२४—इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'अ सिच् त्' रूप बनेगा। तब '४३७—च्लि लुङि' से लुङ् *स्थानीय 'त्'—परे होने से धातु से 'च्लि' होकर 'अ सिच् च्लि त्' रूप तथा* '६५५—लिपि—सिचि ह्वश्च' से 'च्लि' को 'अङ्' (अ) आदेश होकर 'अ सि च् अ त्' = 'असिचत्' रूप सिद्ध होता है।[1]

१५. आनर्च्छ

यह 'ऋच्छ्' (ऋच्छ—जाना, इन्द्रिय-बल घट जाना) धातु का लिट्—लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ऋच्छ् लिट्'। यहाँ प्रथम-पुरुष—एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद तिप्' (ति) होकर 'ऋच्छ् ति' रूप बनने पर '३९२—परस्मैपदानां०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'णल्' (अ) आदेश होकर 'ऋच्छ् अ' रूप वनता है। अव '३९४—लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'ऋच्छ्' धातु का द्वित्व होकर 'ऋच्छ् ऋच्छ् अ' रूप वनने पर '४७३—उरत्' द्वारा पूर्ववर्ती 'ऋच्छ्' के ऋकार को 'अत्' (अ) आदेश होता है। प्रकृत आदेश '२९—उरण् रपरः' से रपर—'अर्' रूप में प्राप्त होता है। तब 'ऋ' के स्थान में 'अर्' होकर रूप बनता है—'अर् च्छ् ऋच्छ् अ'। इस स्थिति में '३९६—हलादिः शेषः' से अभ्यास—'अर् च् छ्' के अनादि हल्—र्, च् एवं छ् तीनों का लोप होकर 'अ ऋच्छ् अ' रूप होता है।[2] अव '४४३—अत आदेः' से अभ्यास के आदि अकार का दीर्घ होकर 'आ ऋच्छ् अ' रूप बनने पर '३१४—ऋच्छत्यॄताम्' से लिट—'णल्' (अ) परे होने के

---

१. यहाँ '४५१—पुगन्त०' से गुण हो रहा था, किन्तु 'अङ्' प्रत्यय के ङित् होने के कारण '४३३—क्ङिति च' से गुण का निषेध हो गया।

२. सूत्र ३९६—हलादिः शेषः, ७. ३. ६०' का मुख्य प्रयोजन अनादि हलों का लोप करना है। 'निवृत्तिरेव तु विधेयत्वात् प्रधानम्। तत्रायमर्थोऽस्य जायते। अभ्यासः स्यानादेर्हलो निवृत्तिर्भवतीति'—काशिका (सूत्र ७. ३. ६० पर वृत्ति)

कारण प्रकृत तुदादिगण की 'ऋच्छ्' धातु के ऋकार का गुण–'अ' होगा, किंतु '२९–उरण् रपरः' से गुण–'अ' रपर–'अर्' होकर 'आ आर्च्छ् अ' रूप बनेगा। तब '४६४–तस्मान्नुड्०' से आकार से पर द्विहल् (=अनेक हल्) 'अर्च्छ्' को 'नुट्' (न्) आगम होकर 'आ न् अर्च्छ् अ' = 'आनर्च्छ' रूप बनता है।[1]

१६. उद्विजिता

यह 'उद्' पूर्वक विज् (ओविजी–डरना, विचलित होना) धातु का लुट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है।

'विजिता' से पद का मूल रूप है–'विज् लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'विज्त' रूप बनता है। तब ४०३–स्यतासी०' के द्वारा के धातु से 'तासि' (तास्) की प्राप्ति होने पर 'विज् तास् त' रूप एवं '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से आर्धधातुक प्रत्यय 'तासि' (तास्) को 'इट्' (इ) आगम होकर 'विज् इ तास् त' रूप बनता है। तब '४०५–लुटः प्रथमस्य डारौरसः' से 'त' के स्थाने पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'विज् इ तास् आ' रूप एवं '२४२–टेः' से डित्–'डा' (आ) पर होने से टि–'आस्' का लोप होकर 'विज् इ त् आ' रूप बनेगा। यहाँ आर्धधातुक 'इट्' (ई) परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'विज्' के इकार के स्थान पर गुण–एकार प्राप्त हो रहा था, किन्तु '६६५–विज इट्' से इडादि (जिसके आदि में 'इट्' हो) प्रत्यय ङिद्वत् होता है अत एव '४३५–ग्क्ङिति च' से इकार के स्थान पर होने वाले गुण का निषेध हो गया। तव रूप बनता है 'विज् इ त् आ' = 'विजिता'। यहाँ 'उद्' उपसर्ग जुड़ जाने पर 'उद् + विजिता' = 'उद्विजिता' रूप सिद्ध होगा।

१७. उपस्किरति

यह 'उप' पूर्वक 'कॄ' (काटना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

'किरति' पद का मूलरूप है—'कॄ लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'कॄ ति' रूप बनता है। फिर '६५१–तुदादिभ्यः शः' के द्वारा धातु से 'श' (अ) प्रत्यय होने पर रूप बनेगा—

---

१. 'सूत्र' '४६४–तस्मान्नुड्०' द्विहल्' का अर्थ अनेक हल् किया गया—'द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्–प्रकृत स्थल ('आनर्च्छ' रूप सिद्ध) में वरदराज। 'अर्च्छ्' में अनेक हल्–३ हल हैं—र् च् और छ्। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि 'नुट्' (न्) आगम टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'अर्च्छ्' का आद्यावयव बनता है।

'कृ अ ति'। तब '६६०–ऋत इद्धातोः' से ऋकारान्त धातु-रूप अङ्ग–"कृ के ऋकार को 'इत्' (इ) आदेश होता है। इत् (इ) आदेश को '२९–उरण् रपरः' से रपर–'इर्' होकर ऋकार के स्थान पर आने से रूप बनेगा—'क् इर् अ ति = किरति'।

अब 'उप' उपसर्गपूर्वक 'किरति' अर्थात् 'उप किरति' स्थिति होने पर '६६१–किरतौ लवने' से 'किरति' को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'उप स् किरति' = 'उपस्किरति' रूप सिद्ध होगा।

१८. उपास्किरत्

यह 'उप' पूर्वक 'कृ' धातु का लङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। यहाँ धातुरूप 'अकिरत्' है जिसका मूलरूप होगा—'कृ लङ्'। इस स्थिति में पहले '४२३–लुङ्लङ्०' से 'लङ्' परे होने के कारण अङ्ग 'कृ' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ कृ लङ्' रूप और प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में '३८२–तान्येक-वचन०' से 'लङ्' के स्थान में 'तिप्' (ति) होकर 'अ कृ ति' रूप बनता है। फिर '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से पर 'शप्' (अ) होने पर 'अ कृ अ ति' रूप एवं '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अ कृ अ त्' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् '६६०–ऋत इद्धातोः' से 'ऋ' के स्थान पर 'इर्' होकर 'अ क् इर् अ त्' = 'अ किरत्' रूप बनता है। ध्यान रहे कि यहाँ ककार के पूर्व का अकार 'अट्' से प्राप्त हुआ है।

अब 'उप' उपसर्गपूर्वक 'अकिरत्' अर्थात् 'उप अकिरत्' स्थिति होने पर 'अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्' वार्तिक की प्रवृत्ति होती है।[1] इसके अनुसार 'अट्' का व्यवधान होने पर भी 'कृ' धातु के पूर्व 'सुट्' (स्) का आगम होता है। इस प्रकार 'उप' और 'किरत्' के बीच 'अट्' (अ) का व्यवधान होने पर भी 'किरत्' को 'सुट्' (स्) का आगम होने पर 'उप अ स् किरत्' = 'उपास्किरत्' रूप सिद्ध हुआ।

१९. कर्ष्टा

देखिये २१ वें पद की रूप–सिद्धि।

२०. कृक्षीष्ट

यह 'कृष्' धातु का आशीर्लिङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कृष् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'कृष् त' रूप बनता है। तदनन्तर '५२०–

---

१. प्रकृत वार्तिक के लिये देखिये–'६६१–किरतौ लवने' सूत्र की व्याख्या।

लिङः सीयुट्' से 'लिङ्' के स्थान पर आये हुए आत्मनेपद प्रत्यय 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) होने पर 'कृप् सीय् त' रूप और '५२३—सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'कृप् सीय् स् त' रूप बनेगा। अब यहाँ '४५१—पुगन्त०' के द्वारा ऋकार को गुण हो रहा था किन्तु '५८९—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' द्वारा 'सीय् स् त' की 'कित्' संज्ञा हुई अत एव '४३३—क्ङिति च' के द्वारा गुण का निषेध हो गया। तब '४२९—लोपो व्योर्वलि' से वल्—'स्' के परे होने के कारण यकार का लोप होकर 'कृप् सी स् त' रूप और फिर '५४८—षढोः कः सि' से सकार के स्थान पर ककार होकर रूप बनता है—'कृक् सी स् त'। अब '१५०—आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों के स्थान पर षकारों के हो जाने पर 'कृ क् षी ष् त' रूप और '६४—ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान पर टकार होकर 'कृ क् षी ष् ट' = 'कृक्षीष्ट' रूप सिद्ध होगा।[1]

२१. क्रष्टा (कर्ष्टा)

इनमें से प्रत्येक धातु 'कृष्' का लुट्—लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है; '६५३—अनुदात्तस्य०' से ऋदुपध धातु—'कृष्' को 'अम्' आगम विकल्प से होता है। अमागम होने पर 'क्रष्टा' एवं अमभाव पक्ष में 'कर्ष्टा' रूप बनेगा।

सामान्य प्रक्रिया

दोनों का मूलरूप है—'कृष् लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष—एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'कृष् ति' रूप बनता है। फिर '४०३—स्यतासी०' से 'तासि' (तास्) की प्राप्ति होने पर 'कृष् तास् ति' रूप और '४०५—लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'कृष् तास् आ' रूप बनेगा। तब '२४२—टेः' से टित्—'डा' (आ) परे होने के कारण टि—'आस्' का लोप होकर 'कृष् त् आ' रूप बनता है।

विशेष प्रक्रिया

(क) उपरिलिखित 'कृष् त् आ' स्थिति होने पर '६५३—अनुदात्तस्य०' से ऋदुपध धातु—'कृष्' को विकल्प से 'अम्' (अ) आगम होगा। 'अम्' (अ) मित् होने के कारण '२४०—मिदचोऽन्त्यात्परः' के अनुसार ऋकार के बाद होगा, तब रूप बनेगा—'कृ अ ष् त् आ'। अब '१५—इको यणचि' से 'ऋ' के स्थान पर 'र्' होकर 'क् र् अ ष् त् आ' रूप और फिर '३४—ष्टुना ष्टुः' से 'त्' के स्थान पर 'ट्' होकर 'क् र् अ ष् ट् आ' = 'क्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।

(ख) अमभावपक्ष—सामान्य-प्रक्रिया द्वारा 'कृष् त् आ' स्थिति होने पर 'अम्' के

[1] ध्यान रहे यहाँ ककार और षकार के संयोग से क्षकार हो जाता है।

अभाव पक्ष में '४५१–पुगन्त०' से 'कृप्' के इक–'ऋ' के स्थान पर रपर गुणादेश–'अर्' होकर 'क् अर् ष् त् आ' रूप एवं तदनन्तर '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'त्' के स्थान पर 'ट्' होने से 'क् अर् ष् ट् आ' = 'कर्ष्टा' रूप सिद्ध होता है।

२२. चकर्ष

यह 'कृष्' (जोतना) धातु का लिट्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कृष् लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'कृष् ति' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'णल्' (अ) आदेश होकर 'कृष् अ' रूप बनता है। अब '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'कृष्' धातु का द्वित्व होकर 'कृष् कृष् अ' रूप होने पर '४७३–उरत्' द्वारा पूर्ववर्ती 'कृष्' के ऋकार को 'अत्' (अ) आदेश होता है। प्रकृत आदेश '२९–उरण् रपरः' द्वारा रपर होकर 'अर्' रूप में प्राप्त होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'क् अर् ष् कृष् अ'। अब '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास–'क् अर् ष्' के 'र्' एवं 'ष्' हलों के लोप हो जाने पर 'क् अ कृष् अ' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति होने पर '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास-संबन्धी पूर्ववर्ती 'क्' के स्थान पर 'च्' आदेश होने पर 'च् अ कृष् अ' रूप एवं '४५१–पुगन्त०' से 'कृष्' के इक्–'ऋ' के स्थान पर रपर गुणादेश–'अर्' होकर 'च् अ क् अ र् ष् अ' = 'चकर्ष' रूप सिद्ध होता है।

२३. तुतोदिथ

यह 'तुद्' (तुद–व्यथित करना) धातु का लिट्–लकार में मध्यमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तुद् लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद–प्रत्यय 'सिप्' (सि) होकर 'तुद् सि' रूप बनता है। फिर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'सिप्' के स्थान पर 'थल्' (थ) आदेश होकर 'तुद् थ' रूप बनने पर '२९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से धातु का द्वित्व होकर 'तुद् तुद् थ' रूप बनेगा। अब '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास संज्ञक प्रथम 'तुद्' के 'द्' का लोप होने पर 'तु तुद् थ' रूप होता है। इसके पश्चात् '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक 'थ' को 'इट्' (इ) आगम होकर 'तु तुद् इ थ' रूप हो रहा था किन्तु '४७५–एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात्' से 'इट्' के आगम का निषेध हो जाता है। तब '४७९–कृ–सृ०' द्वारा नित्य 'इट्' का आगम होकर 'तु तुद् इ थ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५१–पुगन्त०' से आर्धधातुक प्रत्यय परे होने के कारण लघूपध अङ्ग के इक् उकार का गुण–'ओ' होकर 'तु त् ओ द् इ थ' = 'तुतोदिथ' रूप सिद्ध होगा।

२४. तृम्फति

यह 'तृम्फ' (उपदेशावस्था में 'तृम्फ्'–तृप्त होना) धातु का लट्–लकार में प्रथम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'तृम्फ् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'तृम्फ् ति' रूप बनता है। अब '६५१–तुदादिभ्यः शः' के द्वारा कर्त्रर्थ सार्वधातुक प्रत्यय–'तिप्' (ति) के परवर्ती होने के कारण धातु से 'श' (अ) प्रत्यय होकर 'तृम्फ् अ ति' रूप बनेगा। 'श' (अ) प्रत्यय ङित् है।[1] अत एव '३३४–अनिदितां हल०' से ङित् प्रत्यय 'श' (अ) परे होने के कारण हलन्त (फकारान्त) अनिदित् (जिसका इकार इत् नहीं हुआ है) अङ्ग–'तृम्फ्' की उपधा मकार का लोप होकर रूप बनता है—'तृफ् अ ति'। अब प्रासाङ्गिक (सूत्र '६५७–तीष–सह०' की व्याख्या में उल्लिखित) वार्तिक 'शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः' से धातु को 'नुम्' (न्) का आगम होकर 'तृ न् फ् अ ति' रूप बनेगा।[2] यहाँ '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'तृं फ् अ ति' रूप बनता है। इसके पश्चात् '७९–अनुस्वारस्य०' से यय्–फकार पर होने के कारण अनुस्वार के स्थान पर फकार का सवर्ण अनुनासिक–मकार होकर 'तृ म् फ् अ ति' = 'तृम्फति' रूप सिद्ध होता है।

२५. बभर्जिथ (बभर्ष्ठ, बभ्रष्ठ)

इन तीनों में से प्रत्येक 'भ्रस्ज्' धातु का लिट्–लकार में मध्यमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है।

सामान्य प्रक्रिया

मूलरूप है—'भ्रस्ज् लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में 'सिप्' (सि) होकर 'भ्रस्ज् सि' रूप बनने के पश्चात् '३९२–परस्मैपदानां०' से 'सिप्' के स्थान पर 'थल्' (थ) आदेश होकर 'भ्रस्ज् थ' रूप बनता है। तब '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से धातु का द्वित्व होकर 'भ्रस्ज् भ्रस्ज् थ' रूप बनकर '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्याससंज्ञक प्रथम 'भ्रस्ज्' का आदि हल् 'भ्' छोड़कर इतर हलों का लोप होने पर 'भ भ्रस्ज् थ' रूप बनेगा। उसके पश्चात् '३९९–अभ्यासे

---

१. 'श' प्रत्यय का शकार '१३६–लशक्वतद्धिते' से इत् होता है। अत एव 'श' प्रत्यय शित् है। शित् होने के कारण 'श' प्रत्यय '३८६–तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक हुआ। 'श' प्रत्यय पित् (जिसका पकार इत् हो) नहीं है, अत एव अपित् एवं सार्वधातुक होने के कारण '५००–सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् होगा।

२. सूत्र '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' से मित् (जिसका मकार इत् हो) होने के कारण 'नुम्' (न्) का आगम ऋकार से पर हुआ है।

चर्चे' से अभ्याससंज्ञक 'भ' के भकार का 'बकार' होकर 'ब भ्रस्ज् थ'[1] रूप और '६५२–भ्रस्जो रोपधयो०' से आर्धधातुक प्रत्यय 'थल्' परे होने के कारण 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ एवं उपधा–'स्' के स्थान पर विकल्प से 'रम्' (र्) का आगम होने पर 'ब भ र् ज् थ' रूप बनता है।[2]

विशेष प्रक्रिया

(क) ऐसी स्थिति में '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक 'थल्' के विकल्प से 'इट्' (इ) आगम हो रहा था किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' द्वारा 'इट्' के आगम का निषेध हो गया। तब '४७९–कृसृ०' से लिट्–'थल्' को विकल्प से 'इट्' आगम होकर 'ब भ र् ज् इ थ' = 'बभर्जिथ' रूप सिद्ध हुआ।

(ख) '४७९–कृसृ०' द्वारा विकल्प से इडागम होने के कारण इट् अभाव होने पर 'ब भ र् ज् थ' इस स्थिति में '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'ब भ र् ष् थ' तथा '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'थ्' के स्थान पर 'ठ्' होकर 'ब भ र् ष् ट' = 'बभर्ष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

(ग) सामान्य प्रक्रियानुसार सूत्र '३९९–अभ्यासे चर्च' से 'ब भ्रस्ज् थ' रूप बनने पर 'रम्' के अभाव-पक्ष में '३०९–स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'स्' का लोप होकर 'ब भ्र ज् थ' रूप बनता है। यहाँ पुनः '४७६–कृ-सृ०' से वैकल्पिक 'इट्' न होने पर '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'ब भ्र ष् थ' रूप तथा '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'थ्' के स्थान पर 'ठ्' होकर 'बभ्रष्ठ' रूप सिद्ध होता है।[3]

२६. बभर्ष्ठ

देखिये २५ वें पद की रूप-सिद्धि।

---

१. 'बभ्रष्ठ' रूप की सामान्य प्रक्रिया 'बभ्रस्ज् थ' तक ही है। इसके बाद की प्रक्रिया (ग) भाग में देखिये।

२. सूत्र '६५२–भ्रस्जो रोपधयो०' से 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ और 'स्' की निवृत्ति होती है अर्थात् रेफ और सकार हट जाते हैं, उन दोनों के स्थान पर केवल एक 'रम्' (र्) का आगम होता है। रम् 'मित्' है इसलिये अन्त्य अच्–अकार से पर 'र्' का आगम होता है। देखिये '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः'। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि 'भ्रस्ज्' (भ् र् अ स् ज्) के रकार और सकार का लोप हो जाने पर 'भ् अ ज्' रूप बच रहता है। 'रम्' इसी भकारोत्तरवर्ती अकार के बाद आता है।

३. स्मरण रहे इस रूप में '६५२–भ्रस्जो०' से प्राप्त वैकल्पिक 'रम्' और '४७९–कृ–सृ०' से प्राप्त वैकल्पिक 'इट्'–इन दोनों का अभाव ही रहता है।

२७. बभ्रष्ठ

देखिये २५ वें पद की रूप-सिद्धि।

२८. भर्क्षीष्ट (भ्रक्षीष्ट)

प्रत्येक 'भ्रस्ज्' धातु का आशीर्लिङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। '६५२–भ्रस्जो०' से 'रम्' आगम की प्राप्ति विकल्प से होती है। रमागम पक्ष में 'भर्क्षीष्ट' एवं रम्–अभावपक्ष में 'भ्रक्षीष्ट' रूप सिद्ध होंगे।

सामान्य प्रक्रिया

मूलरूप है—'भ्रस्ज् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'भ्रस्ज् त' रूप बनता है। तदनन्तर '५२०–लिङः सीयुट्' से 'लिङ्' के स्थान में आये हुये आत्मनेपद 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) आगम होने पर 'भ्रस्ज् सीय् त' रूप बनता है।

विशेष प्रक्रिया

(क) उक्त 'भ्रस्ज् सीय् त' स्थिति होने पर '६५२–भ्रस्जो०' से रेफ एवं उपधा 'स्' की निवृत्ति एवं रम् (र्) का आगम होने पर 'भ र् ज् सीय् त' और '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' द्वारा 'ज' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ र् ष् सीय् त' रूप बनेगा। तब '५४८–षढोः कः सि' से 'ष्' के स्थान पर 'क्' होकर 'भ र् क् सीय् त' तथा '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'सीय्' के 'स्' का 'ष्' होकर 'भ र् क् षीय् त' रूप बनता है। फिर '४२९–लोपो व्योर्वलि' से 'य्' का लोप होने पर 'भ र् क् षी त' एवं '५२३–सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'भ र् क् षी स् त' रूप बनता है। इसके पश्चात् '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' को 'ष्' होकर 'भ र् क् षी ष् त' तथा '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'त्' को 'ट्' होकर 'भ र् क् षी ष् ट' = 'भर्क्षीष्ट' रूप सिद्ध हुआ।

(ख) सामान्य प्रक्रिया द्वारा 'भ्रस्ज् सीय् त' रूप बनने पर 'रम्' के अभावपक्ष में '३०९–स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से आदि 'स्' का लोप होकर 'भ्रज् सीय् त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया वही है जो (क) भाग के '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' सूत्र से लेकर अन्त तक है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'भ्रक्षीष्ट' रूप बनता है।

२९. भर्क्ष्यति (भ्रक्ष्यति)

इनमें से प्रत्येक 'भ्रस्ज्' धातु का लृट्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। '६५२–भ्रस्जो०' द्वारा 'रम्' का विकल्प से आगम होता है। आगम होने पर 'भर्क्ष्यति' तथा आगम न होने पर 'भ्रक्ष्यति' रूप बनेगा।

सामान्य प्रक्रिया

उक्त दोनों रूपों की प्रारम्भिक एवं सामान्य प्रक्रिया इस प्रकार है। मूल रूप है–'भ्रस्ज् लृट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लृट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (त) होकर 'भ्रस्ज् ति' रूप होता है। तब '४०३–स्यतासी०' से लृट् के परे होने के कारण धातु से 'स्य' प्रत्यय होकर 'भ्रस्ज् स्य ति' स्थिति होती है।

विशेष प्रक्रिया

(क) उक्त 'भ्रस्ज् स्य ति' स्थिति होने पर '६५२–भ्रस्जो०' से आर्धधातुक प्रत्यय 'स्य' परे होने के कारण 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ एवं उपधा–'स्' के स्थान पर 'रम्' (र्) का आगम होकर 'भ र् ज् स्य ति' रूप बनेगा।[1] अब '३०७–व्रश्च भ्रस्ज०' द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ र् ष् स्य ति' रूप एवं '५४८–षढोः कः सि' से 'स्' परे होने के कारण 'ष्' के स्थान पर 'क्' होकर 'भ र् क् स्य ति' रूप बनता है। यहाँ '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'क्' से पर वर्तमान 'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ र् क् ष् य ति' = 'भर्क्ष्यति' रूप सिद्ध होगा।

(ख) सामान्य प्रक्रिया द्वारा 'भ्रस्ज् स्य ति' रूप बनने पर 'रम्' के अभावपक्ष में '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ्रस्ष् स्य ति' रूप तथा '५४१–षढोः कः सि' से 'ष्' के स्थान पर 'क्' होकर 'भ्रस्क् स्य ति' रूप होता है। तब '३०९–स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से आदि सकार का लोप होने पर 'भ्र क् स्य ति' रूप बनेगा। तत्पश्चात् '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ्र क् ष्य ति' = 'भ्रक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

३०. भर्ष्टा (भ्रष्टा)

इनमें से प्रत्येक धातु 'भ्रस्ज्' का लुट्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है।

सामान्य प्रक्रिया

मूलरूप है—'भ्रस्ज् लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'भ्रस्ज् ति' रूप बनता है। इसके पश्चात् '४०३–स्यतासी०' से 'तासि' (तास्) की प्राप्ति होने पर 'भ्रस्ज् तास् ति' रूप और '४०५–लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'भ्रस्ज् तास् आ' रूप बनेगा। तब '२४२–टेः' से डित्–'डा' (आ) परे होने के कारण टि–'आस्' का लोप होकर 'भ्रस्ज् त् आ' रूप बनता है।

---

१. 'स्य' प्रत्यय आर्धधातुक है। देखिये सूत्र '४०४–आर्धधातुकं शेषः'। 'रम्'-सम्बन्धी विधि के विशेष विवरण के लिये २५ वें पद-'बभर्जिथ' की पाद-टिप्पणी देखिये।

विशेष प्रक्रिया

(क) 'भ्रस्ज् त् आ' स्थिति होने पर '६५२—भ्रस्जो०' से आर्धधातुक प्रत्यय तास् (त्) पर होने के कारण 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ एवं उपधा—'स्' के स्थान पर विकल्प से रम् (र्) का आगम होकर 'भ र् ज् त् आ' रूप बनेगा।[1] तदनन्तर '३०७—व्रश्चभ्रस्ज०' द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ र् ष् त् आ' रूप तथा '६४—ष्टुना ष्टुः' से 'त्' के स्थान पर 'ट्' होकर 'भ र् ष् ट् आ' = 'भर्ष्टा' रूप सिद्ध होता है।

(ख) जब '६५२—भ्रस्जो०' से विकल्प होने के कारण रमागम नहीं होता है, तब सामान्य प्रक्रियानुसार 'भ्रस्ज् त् आ' रूप बनने पर '३०९—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से 'स्' का लोप होकर 'भ्रज् त् आ' रूप बनता है। यहाँ '३०७—व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा 'ज्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'भ्र ष् त् आ' एवं '६४—ष्टुना ष्टुः' से 'त्' के स्थान पर 'ट्' होकर 'भ्रष् ट् आ' = 'भ्रष्टा' रूप सिद्ध होगा।

३१. भृज्जति

यह 'भ्रस्ज्' (भूनना) धातु का लट्—लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'भ्रस्ज् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष—एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) होकर 'भ्रस्ज् ति' रूप और '६५१—तुदादिभ्यः शः' से सार्वधातुक तिप् प्रत्यय परे होने के कारण धातु से 'श' (अ) प्रत्यय होकर 'भ्रस्ज् अ ति' रूप बनता है। अब '६३४—ग्रहिज्या०' से धातु 'भ्रस्ज्' से पर ङित् प्रत्यय—'श'[2] (अ) होने के कारण 'भ्रस्ज्' धातु के 'र' को सम्प्रसारण—'ऋ' होकर भ् ऋ अ स्ज् अ ति' रूप और '२५८—सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होकर 'भ् ऋ स्ज् अ ति' रूप होता है। फिर '६२—स्तोः श्चुना श्चुः' से 'स्' के स्थान पर 'श्' होने पर 'भृ श् ज् अ ति' रूप और '१९—झलां जश् झशि' से 'श्' को 'ज्' होकर 'भृ ज् ज् अ ति' = 'भृज्जति' रूप सिद्ध होता है।

३२. भृज्जते

यह 'भ्रस्ज्' धातु का 'लट्' लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—भ्रस्ज् लट्। यहाँ रूप-सिद्धि प्रक्रिया 'भृज्जति' (३१ वें पद) के ही समान है। अन्तर केवल यह है कि यहाँ प्रथमपुरुष—एकवचन—आत्मनेपद की विवक्षा में 'त' प्रत्यय होता है। इस प्रकार ३१ वें पद के समान 'भृज्जत' तक रूप बनता है।

---

१. देखिये २५ वें पद 'बभर्जिथ' की रूपसिद्धि की पाद-टिप्पणी।

२. 'श' प्रत्यय ङित् है। देखिये सूत्र '३८६—तिङ्शित् सार्वधातुकम्' और '५००—सार्वधातुकमपित्'।

फिर '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित् लकार–लट् के स्थान में आदेश होने वाले आत्मनेपदप्रत्यय 'त' की टि–'अ' का 'ए' होकर 'भृज्जते' रूप सिद्ध होता हैं।

३३. भृज्ज्यात्

यह 'भ्रस्ज्' धातु का आशीर्लिङ्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है।—'भ्रस्ज् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान में परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'भ्रस्ज् ति' रूप वनता है। अब '४२६–यासुट्०' से लिङ् के परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' (ति) को 'यासुट् (यास्) आगम होने पर 'भ्रस्ज् यास् ति' रूप होता है। फिर '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'भ्रस्ज् यास् त्' रूप बनता है। यहाँ '४३२–किदाशिषि' से 'यासुट्' (यास्) प्रत्यय कित् है। अव दो सूत्रों की प्रवृति एक ही साथ होती है—एक तो '६३४–ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से कित्–'यास्' (यासुट्) परे होने के कारण 'भ्रस्ज्' धातुस्थ रेफ को सम्प्रसारण–ऋ और दूसरे '६५२-भ्रस्जो०' (६।४।४७) से 'भ्रस्ज्' धातु के रेफ एवं उपधा–'स्' के स्थान पर रम् (र्) आगम की प्राप्ति हो रही है। '११३–विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) परिभाषा से रमागम की प्राप्ति होती है, किन्तु '६५२–भ्रस्जो रोपधयो०' सूत्रस्थ वार्तिक—'क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्व-विप्रतिषेधेन' के द्वारा रमागम का बाध होकर सम्प्रसारण ही होगा।

सम्प्रसारण होने पर रूप वनता है—'भ् ऋ अ स्ज् यास् त्'। अव '२५८–सम्प्रसारणाच्च' द्वारा 'ऋ' और 'अ' दोनों के स्थान पर पूर्वरूप होकर 'भ् ऋ स्ज् यास् त्' रूप होता है। तव '३०९–स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से तकार के पूर्व वाले 'स्' का लोप होकर 'भ् ऋ स्ज् या त्' रूप वनने पर '६२–स्तोः०' से 'स्' के स्थान पर 'श्' होकर 'भ् ऋ श् ज् या त्' रूप वनता है। तब '१९–झलां जश् झशि' से 'श्' के स्थान पर 'ज्' होकर 'भ् ऋ ज् ज् या त्' = 'भृज्ज्यात्' रूप सिद्ध होता है।

३४. भ्रक्षीष्ट

देखिये २८ वें पद की रूप-सिद्धि।

३५. भ्रक्ष्यति

देखिये २९ वें पद की रूप-सिद्धि।

३६. भ्रष्टा

देखिये ३० वें पद की रूप-सिद्धि।

३७. ममङ्क्थ (ममज्जिथ)

यह 'मस्ज्' (टुमस्जो = स्नान करना, माँजना) धातु का लिट्–लकार में मध्यम-पुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'मस्ज् लिट्'। यहाँ मध्यम-

पुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'सिप्' (सि) होकर 'मस्ज् सि' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'सिप्' (सि) के स्थान पर 'थल्' (थ) आदेश होकर 'मस्ज् थ' रूप बनता है। अब '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'मस्ज्' धातु का द्वित्व होकर 'मस्ज् मस्ज् थ' रूप बनने पर '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास–पूर्ववर्ती 'मस्ज्' के अनादि हल्–'स्' एवं 'ज्' का लोप होकर 'ममस्ज् थ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '६३६–मस्जिनशोर्झलि' से झलादिप्रत्यय—'थ' परवर्ती होने के कारण 'मस्ज्' धातु को 'नुम्' (न्) आगम होता है। यहाँ 'नुम्' का आगम वार्तिक–'मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः' से 'मस्ज्' के अन्त्य वर्ण जकार के पूर्व होगा न कि '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' से अन्त्य अच्-अकार के बाद[1]। 'नुम्' (न्) के आगम से बनता है—'म म स् न् ज् थ'। तब '३०९–स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से संयोग के आदि में होने के कारण सकार का लोप होकर 'म म न् ज् थ' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से 'ज्' के स्थान पर 'ग्' होकर 'म म न् ग् थ' रूप बनता है। इसके पश्चात् '७४–खरि च' से खर्—'थ्' परे होने के कारण झल्—'ग्' का चर्—'क्' होने पर 'म म न् क् थ' रूप और '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'ममंक् थ' रूप बनता है। तब '७९–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान पर ककार का सवर्ण ङकार होकर 'म म ङ् क् थ' = 'ममङ्क्थ' रूप सिद्ध होगा। ध्यान रहे यह रूप 'इट्' के अभाव पक्ष में बनता है।

इट्–पक्ष में पूर्ववत् '३९६–हलादिः शेष' से 'ममस्ज् थ' रूप बनने पर '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से 'स्' के स्थान पर 'श्' होकर 'ममश् ज् थ' एवं '१९–झलां जश् झशि' से 'श्' के स्थान पर 'ज्' होने पर 'ममज्ज् थ' रूप बनता है। तब '४७९—कृसृ०' से लिट्—'थ' को वैकल्पिक 'इट्' (इ) होकर 'म म ज् ज् इ थ' = 'ममज्जिथ' रूप बनेगा।

३८. मुक्षीष्ट

यह 'मुच्' (मुच्लृ–छोड़ना) धातु का आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'मुच् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' प्रत्यय होकर 'मुच् त' रूप बनता है। तब '५२०–लिङ् सीयुट्' से लिङ् के स्थान पर आये हुये आत्मनेपद प्रत्यय 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) होते पर 'मुच् सीय् त' रूप और '५२३–सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'मुच् सीय् स् त' रूप बनेगा।

---

१. वार्तिक—'मस्जेरन्त्यात्०' '६५८–स्फुरति०' की व्याख्या में उल्लिखित हुआ है।

अब यहाँ '४५१–पुगन्त०' से 'मुच्' के उकार को गुण प्राप्त था किन्तु '५८९–लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'सीय् स् त' की 'कित्' संज्ञा हो गई। अत एव '४३२–क्ङिति च' से गुण का निषेध हो गया। तब '४२९–लोपो व्योर्वलि' से वल्—'स्' होने के कारण 'य्' का लोप होकर 'मुच् सी स् त' रूप और '३०६–चोः कुः' से 'च्' को 'क्' हो 'मु क् सी स् त' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों को षत्व होकर 'मु क् षी ष् त' रूप और तदनन्तर '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान पर टकार होकर 'मु क् षी ष् ट् अ' = 'मुक्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

३९. मुञ्चति

यह 'मुच्' (मुच्लृ–छोड़ना) धातु का लट्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'मुच् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपदप्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'मुच् ति' रूप बनता है। इसके बाद '६५१–तुदादिभ्यः शः' से कर्त्रर्थ सार्वधातुक प्रत्यय–तिप् (ति) परे होने से धातु–'मुच्' से 'श' (अ) प्रत्यय होता है और इस प्रकार रूप बनता है–'मुच् अ ति'। 'श' प्रत्यय 'शित्' एवं 'अपित्' है अत एव[1] ङिद्वत् होने के कारण '४५१–पुगन्त०' से प्राप्त धातुविषयक गुणकार्य न होगा। तब '६५४–शे मुचादीनाम्' से धातु को 'नुम्' (न्) आगम हुआ। मित् (इत्–मकार वाला) होने के कारण 'नुम्' आगम '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'मुच्' धातु के उकार के बाद होकर 'मु न् च् अ ति' रूप बनता है। यहाँ '७८–अनुस्वारस्य०' से चकार का सवर्ण अनुनासिक ञकार होकर 'मु ञ् च् अ ति' = 'मुञ्चति' रूप सिद्ध होगा।

४०. मुञ्चते

यह 'मुच्' (मुच्लृ) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। मूलरूप है–'मुच् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय–'त' होकर 'मुच् त' रूप बनता है। आगे पूर्वपद (३९) के समान 'श' आदि होकर 'मु ञ् च् अ त' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित्–लकार लट्-सम्बन्धी 'त' की 'टि'–अकार को एकार होकर 'मु ञ् च् अ त् ए = 'मुञ्चते' रूप होता है।

---

१. 'श' प्रत्यय '१३६–लशक्वतद्धिते' से शित् है और '३८६–तिङ्शित्०' से 'सार्वधातुक' है। 'श' प्रत्यय पित् (जिसका पकार इत् हो) न होने से अपित् है, अत एव 'सार्वधातुक' एवं 'अपित्' होने के कारण 'श' प्रत्यय सूत्र '५००–सार्वधातुकमपित्' से ङि–द्वत् हुआ और '४३३–क्ङिति च' से गुण का निषेध हो जाने पर '४५१–पुगन्त०' द्वारा होने वाले गुणकार्य का निषेध हो गया।

४१. लोब्धा

देखिये ४२ वें पद की रूप-सिद्धि।

४२. लोभिता (लोब्धा)

इनमें से प्रत्येक 'लुभ्' (लालच करना) धातु का लुट्–लकार में परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'लुभ् लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर परस्मैपद–प्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'लुभ् ति' रूप बनता है। फिर '५०३-स्यतासी०' से 'तासि' (तास्) की प्राप्ति होने पर 'लुभ् तास् ति' रूप बनेगा। यहाँ '६५७–तीषसह०' से तकारादि आर्धधातुक प्रत्यय–'तास्' को 'लुभ्' धातु से परे होने के कारण 'इट्' (इ) आगम विकल्प से होता है। इडागम पक्ष में रूप बनेगा–'लुभ् इ तास् ति'। तब '४५१–पुगन्त०' से 'लुभ्' के इक्–उकार के स्थान पर गुणादेश–ओकार होकर 'ल् ओ भ् इ तास् ति' रूप और '४०५–लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'ल् ओ भ् इ तास् आ' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '२४२–टेः' से डित्–'डा' (अ) परे होने के कारण टि–'आस्' का लोप होकर 'ल् ओ भ् इ त् आ' = 'लोभिता' रूप सिद्ध होता है।

ईडभाव होने पर 'लुभ् तास् ति' रूप बनने के पश्चात् '५४९–झषस्तथोर्धोऽधः' से झष्–'भ्' से पर 'त्' को 'ध्' होकर 'लुभ् धास् ति' एवं '१९–झला जश् जशि' से भकार के स्थान पर बकार होकर 'लुब् धास् ति' रूप बनता है। तब पूर्ववत् गुणादेश, डादेश एवं टिलोप होकर 'ल् ओ ब् ध् आ' = 'लोब्धा' रूप सिद्ध होता है।

४३. व्रश्चिता (व्रष्टा)

इनमें से प्रत्येक धातु 'व्रश्च्' (ओव्रश्चू-काटना) का लुट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। जैसा कि प्रक्रिया में निर्देश किया जायगा, '४७६–स्वरतिसूति०' सूत्र से इट् विकल्प से होता है। इट् होने पर 'व्रश्चिता' एवं इडभाव में 'व्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।

सामान्य प्रक्रिया

मूलरूप है—'व्रश्च लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर परस्मैपदप्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'व्रश्च् ति' रूप बनता है। फिर '४०३–स्यतासी०' द्वारा धातु से तासि (तास्) की प्राप्ति होने पर 'व्रश्च् तास् ति' रूप बनेगा। अब '४७६–स्वरतिसूति०' द्वारा ऊदित् (जिसका ऊकार इत् हो) धातु–'व्रश्च्' से पर वलादि आर्धधातुक प्रत्यय–'तासि' (तास्) को 'इट्' (इ) आगम विकल्प से होता है।[1] इट्–आगम होने पर 'व्रश्च् इ तास् ति' एवं इडभावपक्ष में 'व्रश्च् तास् ति' रूप बनता है।

---

१. प्रत्यय 'तासि' न तो 'तिङ्' है और न 'शित्' ही। '४०३–स्यतासी०' से

विशेष प्रक्रिया

(क) इडागमपक्ष में 'व्रश्च् इ तास् ति' रूप बनने पर '४०५–लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'व्रश्च् इ तास् आ' रूप बनता है। तब '२४२–टेः' डित्–'डा' (आ) परे होने के कारण 'टि'–'आस्' का लोप होकर 'व्रश्च् इ त् आ' = 'व्रश्चिता' रूप सिद्ध होता है।

(ख) सामान्य-प्रक्रिया द्वारा निर्दिष्ट इडभावपक्ष में 'व्रश्च् तास् ति' रूप बनने पर पूर्ववत् 'डा' आदेश एवं 'टि' का लोप होकर 'व्रश्च् त् आ' रूप बनता है। यहाँ धातुस्थ शकार असिद्ध है अर्थात् शकार न होकर सकार होगा। तब रूप होगा—'व्र स् च् त् आ'। यहाँ '३०९-स्कोः०' से सकार का लोप होकर 'व्रच् त् आ' रूप एवं '३०७-व्रश्चभ्रस्ज०' से चकार के स्थान पर षकार होकर 'व्रष् त् आ' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान पर टकार होकर 'व्र ष् ट् आ' = 'व्रष्टा' रूप सिद्ध हुआ।

रुधादिगण-प्रकरण

१. अतृणेट् (आतृणेड्)

यह 'तृह्' (हिंसा करना) धातु का लङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूल रूप है—'तृह लङ्'। यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से 'लङ्' परे होने के कारण अङ्ग–'तृह्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ तृह् लङ्' रूप और प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में '३८२–तान्येकवचन०' से 'लङ्' के स्थान में 'तिप्' (ति) होने पर 'अ तृह् ति' रूप बनता है। अब '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अ तृह् त्' रूप बनेगा। इसके बाद '६६६–रुधादिभ्यः श्नम्' से धातु के बाद 'श्नम्' (न) होता है। 'श्नम्' का मकार इत् है, अत एव यह मित्–संज्ञक है। मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' से 'श्नम्' (न) धातु के अन्त्य अच्–ऋकार के बाद आयेगा, तब रूप बनेगा–'अ तृ न ह् त्'। अब वार्तिक–'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से ऋकार के पश्चात् आने के कारण नकार का णकार होकर 'अ तृ ण ह् त्' रूप बनता है।[1] यहाँ '६६७–तृणह इम्' से 'तृ ण ह्' को 'इम्' (इ) आगम होता है। यह भी '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' के द्वारा अकार के बाद होगा। और तब रूप बनेगा–'अ तृ ण इ ह् त्'। इसके बाद '२७–आद्गुणः' से गुण–एकार

'तासि' प्रत्यय धातु से विहित है। अत एव '४०४–आर्धधातुकं शेषः' से 'तासि' प्रत्यय आर्धधातुक है। 'तासि' प्रत्यय वलादि भी है क्योंकि वल्–तकार इसका आदि वर्ण है।

१, यह वार्तिक सूत्र '२११–वर्षाभ्वश्च' के अन्तर्गत दिया हुआ है।

होकर 'अ तृ णे ह् त्' रूप और '२५१–हो ढः' से हकार के स्थान पर ढकार होकर 'अ तृ णे ढ् त्' रूप बनेगा। अब '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से तकार का लोप होने पर 'अ तृ णे ढ्' रूप एवं '६७–झलां जशोऽन्ते' से झल्–'ढ्' के स्थान पर जश्–'ड्' होकर 'अ तृ णे ड्' रूप बनता है। यहाँ '१४६–वावसाने' से डकार को चर्–टकार विकल्प से होकर 'अतृणेट्' रूप सिद्ध होगा। 'चर्' न होने पर 'अतृणेड्' रूप सिद्ध होता है।

२. अनजानि

यह 'अञ्ज्' (अञ्जू–तेल लगाना, लेप करना आदि) धातु का लोट्–लकार में उत्तमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'अञ्ज् लोट्'। यहाँ उत्तमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर 'मिप्' (मि) प्रत्यय होकर 'अञ्ज् मि' रूप बनता है। अब '६६६–रुधादिभ्यः श्नम्' से धातु के बाद–अन्त्य अच् के बाद–'श्नम्' (न) होकर–'अनञ्ज् मि' रूप बनने पर '६६८–श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' (न) के बाद वाले 'न्' (ञ्) [1] का लोप होकर 'अनज् मि' रूप और '४१७–मेर्निः' से 'मि' के स्थान पर 'नि' होने पर 'अ न ज् नि' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '४२०–आडुत्तमस्य पिच्च' से 'मि' को 'आट्' (आ) आगम होकर 'अनज् आनि' = 'अनजानि' रूप सिद्ध होता है।

३. अहिनः

देखिये ५ वें पद की रूप-सिद्धि का (ख) खण्ड।

४. अहिनत्

देखिये ५ वें दिन की रूप–सिद्धि।

५. अहिनद् (अहिनत्, अहिनः)

इनमें से प्रथम दो 'हिस्' (हिसि–मार डालना) धातु का लङ्–लकार में प्रथम-पुरुष–एकवचन एवं मध्यमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप हैं, अर्थात् प्रथमपुरुष–एकवचन में 'अहिनद्' एव 'अहिनत्' दोनों रूप बनते हैं और यही रूप मध्यमपुरुष–एक वचन में भी बनते हैं। मध्यमपुरुष–एकवचन में एक तीसरा रूप 'अहिनः' भी बनता है।

(क) प्रथमपुरुष–एकवचन—मूल-रूप है—'हिस् लङ्'। यहाँ '४२३–लुङ्०' से अङ्ग को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ हिस् लङ्' रूप और '३८२–तान्येकवचन०' से 'लङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) होकर 'अहिस् ति' रूप होता है। तब '४३३–इदितो नुम् धातोः' से इदित् धातु 'हिसि' (इसके सकार के बाद का इकार इत् है)

१. 'अञ्ज्' धातु का 'ञ्' वर्ण वस्तुतः उपदेशावस्था में 'न्' रहता है, अत एव प्रक्रिया काल में उसे 'न्' मानकर ही उसका लोप किया गया है।

से 'नुम्' (न्) का आगम प्राप्त है। मित् होने से '२४०—मिदचोऽन्त्यात्परः' यह इकार के वाद होता है, और इस प्रकार 'अ हि न् स् ति' रूप वनता है। अव '४२४—इतश्च' से 'ति' के ईकार का लोप होकर 'अहि न् स् त्' रूप वनेगा। फिर '६६६—रुधादिभ्यः श्नम्' से धातु के वाद 'श्नम्' (न्) आता है। मित् होने से '३४०—मिदचो०' द्वारा धातु के अन्त्य अच्—इकार के वाद होकर 'अ हि न न् स् त्' रूप वनता है। अव '६६८—श्नान्नलोपः' से 'श्नम्' (न्) के वाद वाले नकार का लोप होकर 'अहिन स् त्' रूप और '१७९—हल्ङ्याब्भ्यो०' से तकार का लोप होकर 'अहिनस्' रूप वनेगा। इसके पश्चात् "७७२—तिप्यनस्ते' सूत्र प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार 'तिप्' परे होने की स्थिति में पदान्त सकार के स्थान पर दकार होता है। यद्यपि यहाँ 'तिप्' (त्) प्रत्यय का लोप हो गया है किन्तु '१९०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से प्रत्यय द्वारा होने वाला कार्य होता है। इस प्रकार सकार के स्थान पर दकार होकर 'अहिनद्' रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ '१४६—वावसाने' से दकार को वैकल्पिक तकार होकर 'अहिनत्' रूप भी सिद्ध होता है।

(ख) मध्यमपुरुष—एकवचन—मूलरूप है—'हिस् लङ्'। आगे की प्रक्रिया पूर्ववत् है। केवल तिप् के स्थान पर 'सिप्' प्रत्यय आता है। इस प्रकार पूर्ववत् 'अहिनस्' रूप वनने पर '६७०—सिपि धातो रुर्वा' से पदान्त में वर्तमान धातु के सकार के स्थान पर विकल्प से 'रु' (र्) आदेश होने पर 'अहिनर्' रूप वनता है। तव '९३—खर-वसानयोः०' से 'र्' के स्थान पर विसर्ग होकर 'अहिनः' रूप सिद्ध होता है।

'रु' आदेश के अभाव में '६७—झलां जशोऽन्ते' से सकार के स्थान पर दकार होकर 'अहिनद्' रूप वनेगा। तव '७४—खरि च' से विकल्प से दकार के स्थान पर तकार होकर 'अहिनत्' रूप सिद्ध होगा। अभाव-पक्ष में 'अहिनद्' रूप ही रहेगा।

६. आञ्जीत्

यह 'अञ्ज्' (अञ्जू) धातु का लुङ्—लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'अञ्ज् लुङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर परस्मैपदप्रत्यय—'तिप्' (ति) होकर 'अञ्ज् ति' रूप वनता है। इसके वाद '४३७—च्लि लुङि' से 'लुङ्' परवर्ती होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अञ्ज् च्लि ति' रूप और '४३८—च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश हो जाने पर 'अञ्ज् स् ति' रूप वनेगा। अव '४२४—इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होने पर 'अञ्ज् स् त्' रूप एवं '४४५—अस्ति सिचो०' से 'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होकर 'अञ्ज् स् ई त्' रूप वनता है। फिर '६७१—अञ्जेः सिचि' से 'अञ्ज्' धातु से पर 'सिच्' (स्) को नित्य 'इट्' (इ) होने पर 'अञ्ज् इ स् ई त्' रूप और '४४६—

इट ईटि' द्वारा 'इट्' (इ) से पर सकार का–'ईट्' (ई) परे होने के कारण–लोप होकर 'अञ्ज् इ ई त्' रूप बनेगा। यहाँ '४४४–आडजादीनाम्' से अङ्ग से 'आट्' (आ) आगम होकर 'आ अञ्ज् इ ई त्' रूप और '१९७-आटश्च' से 'आट्' के आकार एवं उसके परवर्ती अच्–अकार दोनों के स्थान पर वृद्धिरेकादेश–आकार होकर 'आञ्ज् इ ई त्' रूप बनता है। तब '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से इकार एवं ईकार दोनों के स्थान पर सवर्णदीर्घ ईकार होकर 'आञ्ज् ई त्' = आञ्जीत्' रूप सिद्ध हुआ।

७. चच्छृत्से

देखिये ८ वें पद की रूप-सिद्धि।

८. चच्छृदिषे (चच्छृत्से)

इनमें से प्रत्येक 'छृद्' (उच्छृदिर्–दीप्त होना) धातु का लिट्–लकार में मध्यम-पुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'छृद् लिट्'। यहाँ मध्यमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान में आत्मनेपदप्रत्यय 'थास्' होकर 'छृद् थास्' रूप एवं '५१०–थासः से' से टित्-लिट् लकार के 'थास्' के स्थान में 'से' आदेश होने पर 'छृद् से' रूप बनता है। अब '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'छृद्' धातु का द्वित्व होकर 'छृद् छृद् से' रूप बनने पर '३७३–उरत्' द्वारा पूर्व 'छृद्' के ऋकार के स्थान पर 'अत्' (अ) आदेश होता है। प्रकृत आदेश '२९–उरण् रपरः' से रपर होकर 'अर्' रूप में प्राप्त होता है। तब 'ऋ' के स्थान में 'अर्' आदेश होकर रूप बनता है–'छ् अर् द् छृद् से'। यहाँ '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास 'छ् अर् द्' के 'र्' एवं 'द्' हलों के लोप हो जाने पर 'छ् अ छृ द् से' रूप बनने पर '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास के झल्–आदि छकार के स्थान में चर्–चकार होकर 'च् अ छृ द् से' रूप बनेगा। अब '६३०–सेऽसिचि०' से सिच्–भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय–'से' को विकल्प से 'इट्' आगम होता है। 'इट्' (इ) होने पर रूप बनता है–'च् अ छृ द इ से'। अब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से इण्–इकार से पर सकार के स्थान में षकार होकर 'च अ छृ द् इ षे' रूप बनने पर '१०१–छे च' से अकार के बाद 'तुक्' (त्) का आगम होकर 'च् अ त् छृ द् इ षे' रूप बनता है। इसके बाद '६२–स्तोः श्चुना श्चुः' से तकार के स्थान पर चकार होने पर 'च् अ च् छृ द् इ षे' = 'चच्छृदिषे' रूप सिद्ध होता है।

वैकल्पिक होने के कारण जब '६३०–सेऽसिचि०' से 'इट्' नहीं होता तब 'च् अ छृ द् से' स्थिति होने पर '७४–खरि च' से दकार के स्थान पर तकार होकर 'च् अ छृ त् से' रूप बनता है। फिर पूर्ववत् अकार से तुक्–आगम आदि होकर 'च् अ च् छृ त् से' = 'चच्छृत्से' रूप सिद्ध होगा।

९. तृणेढि

यह 'तृह्' (हिंसा करना) धातु का लट्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'तृह् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपदप्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'तृह् ति' रूप बनता है। अब '६६६–रुधादिभ्यः श्नम्' से धातु के अन्त्य अच् के बाद 'श्नम्' (न) होकर 'तृ न ह् ति' रूप बनता है।[1] अब वार्तिक 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से ऋकार के पश्चात् होने के कारण नकार के स्थान पर णकार होकर 'तृण ह् ति' रूप बनता है। इसके पश्चात् '६६७–तृणह इम्' से 'तुणह्' को 'इम्' (इ) आगम होता है। प्रकृत आगम मित् होने से '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' के द्वारा अन्त्य अच्–अकार के बाद होता है, और इस प्रकार रूप बनता है–'तृण इ ह् ति'। अब '२७–आद्गुणः' से णकारोत्तरवर्ती अकार तथा इकार के स्थान पर गुण-एकार हो 'तृणेह् ति' रूप बनेगा। फिर '२५१–हो ढः' से हकार के स्थान पर ढकार होकर 'तृ णे ढ् ति' रूप और '५४९–झषस्तथोर्धोऽधः' से झष्–'ढ्' से पर 'त्' को 'ध्' होकर 'तृणेढ् धि' रूप बनता है। यहाँ '६४-ष्टुना ष्टुः' से धकार को ढकार होकर 'तृणेढ्ढि' रूप बनने पर '५५०–ढो ढे लोपः' से पुर्ववर्ती ढकार का लोप होकर 'तृणेढि' रूप सिद्ध होगा।

१०. रिङ्क्ते

यह 'रिच्' (रिचिर्) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'रिच् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'त' प्रत्यय होकर 'रिच् त' रूप बनता है। फिर '६६६–रुधादिभ्यः श्नम्' से धातु के अन्त्य अच्—'इ' से पर 'श्नम्' (न) होकर 'रि न च् त' रूप बनेगा। तत्पश्चात् '५७४–श्नसोरल्लोपः' से सार्वधातुक ङित् प्रत्यय—'त' परे होने से 'श्न' (न) के अकार का लोप होने पर 'रि न् च् त' रूप और '५०७–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित्–लट् आत्मनेपद 'त' की टि-अकार के स्थान पर एकार होकर 'रि न् च् ते' रूप बनता है। फिर '३०६–चोः कुः' से चकार के स्थान पर ककार होकर 'रि न् क् ते' रूप बनने के पश्चात् '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार का अनुस्वार होने पर 'रिं क् ते' रूप बनेगा। यहाँ '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार के स्थान पर ककार का अनुनासिक सवर्ण ङकार होकर 'रिङ्क्ते' रूप सिद्ध होता है।

११. रुणद्धि

यह 'रुध्' (रुधिर्–रोकना) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'रुध् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा

---

१. 'न' की स्थिति ऋकार के बाद होगी। देखिये सूत्र '६६६–रुधादिभ्यः श्नम्' की हिन्दी व्याख्या।

में 'लट्' के स्थान में परस्मैपदप्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'रुध् ति' रूप बनता है। इसके पश्चात् '६६–रुधादिभ्यः श्नम्' से 'रुध्' धातु से 'श्नम्' (न) आगम होता है। मित् (जिसका मकार इत् हो) होने के कारण 'श्नम्' (न) की प्राप्ति 'रुध्' के उकार के बाद होकर 'रु न ध् ति' रूप बनेगा। अब '१३८–अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' से रकार एवं नकार के बीच अट्–उकार का व्यवधान होने पर भी नकार को णकार होकर 'रु ण ध् ति' रूप बनता है। यहाँ '५४९–झषस्तथोर्धोऽधः' से झष्–'ध' से पर 'त्' को 'ध्' होने पर 'रु ण ध् धि' रूप तथा '१९–झलां जश् झशि' से पूर्व-धकार को दकार होकर 'रुणद्धि' रूप सिद्ध होगा।

१२. रुन्धः (रुन्द्धः)

यह 'रुध्' (रुधिर्) धातु का लट्-लकार में प्रथमपुरुष–द्विवचन का परस्मैपद-परक रूप है। मूलरूप है—'रुध् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–द्विवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'तस्' प्रत्यय होकर 'रुध् तस्' रूप बनता है। तब '६६५–रुधादिभ्यः श्नम्' द्वारा 'रुध्' धातु से पूर्ववत् (रूप-सिद्धि पद–११) 'श्नम्' (न) होने पर 'रु न ध् तस्' रूप बनेगा। अब '५७४–श्नसोरल्लोपः' से सार्वधातुक ङित् प्रत्यय–'तस्'[1] पर होने से श्न (न) के अकार का लोप होने पर 'रु न् ध् त स्' रूप बनता है। फिर '५४९–झषस्तथोर्धोऽधः' से झष्–'ध्' से पर 'त्' को 'ध्' होने पर 'रु न् ध् ध स्' रूप बनेगा। अब '७३–झरो झरि सवर्णे' से हल्–'न्' से पर झर्–'ध्' का–सवर्ण झर् 'ध्' पर होने से—विकल्प से लोप होकर 'रु न् ध स्' रूप होने पर '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' (र्) होकर 'रु न् ध र्' रूप बनता है तब '९३–खरव-सान०' से 'र्' के स्थान पर विसर्ग होकर 'रु न् धः' = 'रुन्धः' रूप सिद्ध हुआ।

धकार लोप के अभाव में 'रु न् ध् ध स्' रूप की स्थिति में '१९–झलां जश् झशि' से पूर्व धकार को दकार होकर 'रु न् द् ध स्' रूप बनता है। तब पूर्ववत् 'स्' के स्थान पर 'रु' एवं विसर्ग होकर 'रु न् द् धः = 'रुन्द्धः' रूप सिद्ध होगा।

१३. शिण्ड्ढि (शिण्ढि)

यह 'शिष्' (शिष्लृ—विशेषित करना) धातु का लोट्–लकार में मध्यमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'शिष् लोट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एक-वचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद 'सिप्' (सि) प्रत्यय होकर 'शिष् सि' रूप बनता है। अब '६६६–रुधादिभ्यः श्नम्' से धातु के बाद—अन्त्य अच् के

---

१. 'तस्' सार्वधातुक ङित् प्रत्यय है। तिङ् होने के कारण 'तस्' प्रत्यय '३८–तिङ्शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक और साथ ही अपित् (जिसका पकार इत् न हो) होने के कारण '५००–सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत्–ङित् हुआ।

वाद—'श्नम्' (न) होकर 'शि न ष् सि' रूप बनने पर '४२५–सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान पर 'हि' आदेश होकर 'शि न ष् हि' रूप एवं '५५६–हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हि' को 'धि' आदेश होकर 'शि न ष् धि' रूप बनेगा। तब '५७४–श्नसोरल्लोपः' से 'श्नम्' (न) के अकार का लोप होकर 'शि न् ष् धि' रूप और '१९–झलां जश् झशि' से षकार के स्थान पर जश्–डकार होने पर 'शि न् ड् धि' रूप बनता है। यहाँ '६४–ष्टुना ष्टुः' से धकार का ढ़कार होकर 'शि न् ड् ढि' रूप एवं '७३–झरो झरि सवर्णे' से हल् 'न्' से पर 'ड्' का सवर्ण ढ् पर होने से लोप विकल्प से होकर 'शि न् ढि' रूप बनेगा। फिर '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' से 'न्' के स्थान पर अनुस्वार होकर 'शिंढि' रूप होने '७८–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान पर ढकार का सवर्ण अनुनासिक णकार होकर 'शिण्ढि' रूप सिद्ध होता है।

डकार के लोपाभावपक्ष में पूर्ववत् अनुस्वार एवं परसवर्ण होकर 'शि ण् ड् ढि' = 'शिण्ड्ढ़ि' रूप सिद्ध होगा।

तनादिगण-प्रकरण

१. अकार्षीत्

यह 'कृ' (डुकृञ्-करना) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है–'कृ लुङ्'। यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ कृ लुङ्' एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होने पर 'अ कृ ति' रूप बनता है। पुनः '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अ कृ त्' रूप और '४३६–च्लि लुङि' सूत्र से 'त्' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ कृ च्लि त्' रूप होता है। इसके पश्चात् '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश होकर 'अ कृ स् त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय 'सिच्' (स्) को 'इट्' (इ) आगम हो रहा था[1]। किन्तु '४७५–एकाच०' से इडागम का निषेध हो गया। तब '४४५–अस्ति सिचो०' से 'सिच्' (स्) से पर अपृक्त हल् 'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होकर 'अ कृ स् ई त्' रूप और '४८४–सिचि वृद्धिः०' से परस्मैपद सिच्' ((स्) परे होने के कारण अजन्त अङ्ग ऋकार को वृद्धि होकर 'अक् आर् स् ई त्' रूप बनेगा[2]। यहाँ '१५०–आदेश-

१. वलादि आर्धधातुक प्रत्यय के लिए देखिये तुदादिगण प्रकरण के ४३ वें पद 'व्रश्चिता' रूप–सिद्धि की पाद-टिप्पणी।

२. यहाँ वृद्ध्यादेश–आ '९९–उरण् रपरः' से रपर होकर 'आर्' हो गया है।

प्रत्यययोः' से सकार के स्थान पर षकार आदेश होकर 'अक् आर् ष् ई त्' = 'अकार्षीत्' रूप सिद्ध होता है ।

२. अतनीत्

देखिये ३ रे पद की रूप–सिद्धि ।

३. अतानीत् (अतनीत्)

इनमें से प्रत्येक 'तन्' (तनु–फैलाना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है । मूलरूप है—'तन् लुङ्' । यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग–'तन्' का 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ तन् लुङ्' रूप एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होने पर 'अ तन् ति' रूप बनता है । अब '४३७–च्लि लुङि' से 'लुङ्' परवर्ती होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ तन् च्लि ति' रूप और '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर सिच् (स्) आदेश हो जाने पर 'अ तन् स् ति' रूप बनेगा । ऐसी स्थिति होने पर '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय 'सिच्' (स्) को इट्–आगम होकर 'अ तन् इस् ति' रूप बनता है । फिर '४२४–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'अ तन् इ स् त्' रूप और '४४५–अस्तिसिचो०' विद्यमान 'सिच्' (स्) से पर अपृक्त हल्–'त्' को 'ईट्' (ई) आगम होने पर 'अ तन् इ स् ई त्' रूप बनेगा । तब '४४६–इट् ईटि' से सकार का लोप होकर 'अ तन् इ ई त्' रूप और बाद में '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दोनों इकारों का सवर्ण दीर्घ–'ई' होकर 'अ तन् ई त्' बनता है । तत्पश्चात् '४५७–अतो हलादेर्लघोः' से हलादि अङ्ग 'तन्' के अवयव अकार को इडादि 'सिच्' परे होने के कारण[1] विकल्प से वृद्धि होकर 'अतान् ई त्' = 'अतानीत्' रूप सिद्ध होगा । विकल्प के अभाव में 'अ तन् ई त्' = 'अतनीत्' रूप ही रहता है ।

४. असात (असनिष्ट)

यह 'षण्' (षणु–देना) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है । मूलरूप है—'षण् लङ्' । यहाँ '४२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग 'षण्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ षण् लुङ्' रूप बनता है । अब '२५५–धात्वादेः षः सः' से धातु के षकार को सकार होकर 'असण् लुङ्' रूप तथा 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम के बल पर णकार का नकार होने पर 'अ स न् लुङ्' रूप बनेगा । तब '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में

---

१. यहाँ 'सिच्' (स्) के आदि में इट् है । यद्यपि सिच् के सभी अवयवों का लोप हो गया है तो भी '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के अनुसार 'सिच्' विद्यमानवत् है ।

'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय–'त' होकर 'असन् त' रूप और '४३७–च्लि लुङि' से 'लुङ' परवर्ती होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'असन् च्लि त' रूप बनता है। इसके बाद '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स) आदेश हो जाने पर 'अ सन् स् त' रूप और '६७४–तनादिभ्यस्तथासोः' से तकार परे होने से 'सन्'—परवर्ती 'सिच्' (स्) का विकल्प से लोप होकर 'अ सन् त' रूप बनेगा। अब '६७६—जनसनखनां०' से झलादि ङित् प्रत्यय 'त' परे होने के कारण 'सन्' (षण्) धातु को आकारान्तादेश होता है। यह आकारान्त–आदेश '२१–अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार अन्त्य अल्–नकार के स्थान पर होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'अ स अ त'। यहाँ '४२–अकः सवर्णे०' से 'स'–स्थित अकार एवं परवर्ती अकार–दोनों के ही स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'अ स् आ त' = 'असात' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि '६७४–तनादिभ्य.०' से 'सिच्' का लोप विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव-पक्ष में पूर्ववत् 'असन् स् त' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुक०' से 'सिच्' (स्) को 'इट्' (इ) *आगम होकर 'अ सन् इ स् त' रूप बनता है।* यहाँ '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'सिच्' के सकार को षकार हो 'असन् इ ष् त' रूप बनने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'असन् इ ष् ट् अ' = 'असनिष्ट' रूप सिद्ध होगा।

५. कुर्वन्ति

यह 'कृ' (डुकृञ्) धातु का लट्-लकार में प्रथमपुरुष–बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कृ लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान में परस्मैपद 'झि' प्रत्यय होकर 'कृ झि' एवं '३८९–झोऽन्तः' से झकार के स्थान पर 'अन्त्' आदेश होकर 'कृ अन्ति' रूप बनता है। इसके पश्चात् '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' की प्राप्ति हो रही थी, जिसे बाधकर '६७३–तनादिकृञ्भ्य उः' से धातु के पश्चात् 'उ' की प्राप्ति हुई। तब रूप बनेगा–'कृ उ अन्ति'। अब '३८८–सार्वधातु-कार्धधातुकयोः' से ऋकार के स्थान पर गुण प्राप्त है, अत एव '२९–उरण् रपरः' से ऋकार के स्थान पर 'अर्' होकर 'क् अर् उ अन्ति' रूप बनता है। इसके बाद '५७२–अत उत् सार्वधातुके' से उ–प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार को 'उकार' होकर 'क् उर् उ अन्ति' रूप और '१५–इको यणचि' से उकार के स्थान पर वकार होकर 'क् उर् व् अन्ति' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में '६१२–हलि च' से 'क् उर्' की उपधा–उकार के स्थान पर दीर्घ–ऊकार की प्राप्ति हो रही थी, किन्तु '६७८–न भकुर्छुराम्' से कुर्' की उपधा होने से दीर्घत्व का निषेध हो गया। तब 'क् उर् व् अन्ति' = 'कुर्वन्ति' रूप सिद्ध हुआ।

६. कुर्वीत

यह 'कृ' (डुकृञ्) धातु का विधिलिङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'कृ लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद 'त' आदेश होकर 'कृ त' रूप बनता है। इस स्थिति में '३८७–कर्तरि शप्' से धातु शप् की प्राप्ति हो रही थी, किन्तु '६७३–तनादिकृञ्भ्य उः' से 'शप्' की प्राप्ति का बाध होकर 'उ' की प्राप्ति होती है और इस प्रकार रूप बनता है—'कृ उ त'। अब '३८८–सार्वधातुकाधातुकयोः' से ऋकार के स्थान पर गुण प्राप्त है अत एव '२९–उरण् रपरः' से ऋकार के स्थान पर रपर–'अर्' होकर 'क् अर् उ त' रूप बनेगा। फिर '५७२–अत उत् सार्वधातुके' से 'उ' प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार के स्थान पर उकार होने पर 'क् उ र् उ त' रूप और '५२०–लिङः सीयुट्' से 'लिङ्' के स्थान पर आये हुये 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) होकर 'क् उ र् उ सीय् त' रूप बनता है। तब '४१९–लोपो व्योर्वलि' से 'वल्'–तकार परे होने के कारण यकार का लोप होकर 'क् उर् उ सी त' रूप और '४२७–लिङ् सलोपो०' से सकार का लोप होकर 'क् उर् उ ई त' रूप बनेगा। यहाँ '१५–इको यणचि' से उकार के स्थान पर वकार होकर 'क् उर् व् ई त' = 'कुर्वीत' रूप सिद्ध होता है।

७. तर्णोति

देखिये ८ वें पद की रूप-सिद्धि।

८. तृणोति (तर्णोति)

इनमें से प्रत्येक 'तृण्' (तृणु–भोजन करना) धातु का लट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। मूलरूप है—'तृण् लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) प्रत्यय होकर 'तृण् ति' रूप बनता है। अब '६७३–तनादिकृञ्भ्य उः' से धातु के बाद 'उ' प्रत्यय होकर 'तृण् उ ति' रूप बनने पर '४५१–पुगन्त०' से लघूपध 'तृण्' की उपधा–ऋकार को गुणादेश प्राप्त होता है। 'उ' प्रत्यय परे होने के कारण यह गुणादेश 'उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा' नियम के विकल्प से होगा। पक्ष में ऋकार के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से गुण–'अर्' होकर 'त् अर् ण् उ ति' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से पुनः 'उ' को गुण–ओकार हो 'त् अर् ण् ओ ति' = 'तर्णोति' रूप सिद्ध होता है। गुण–अभाव पक्ष (उपधा को गुणादेश न होने पर) में 'तृण् उ ति' स्थित होने पर '३८८–सार्वधातुक०' से पूर्ववत् उकार को ओकार हो तृण् ओ ति' = 'तृणोति' रूप सिद्ध होगा।

९. सन्यात्

देखिये १० वें पद की रूप-सिद्धि।

१०. सायात् (सन्यात्)

इनमें से प्रत्येक 'षण्' (षणु–देना) धातु का आशीर्लिङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचनका परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'षण् लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एक-वचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर परस्मैपदप्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'षण् ति' रूप बनता है। तब '२५५–धात्वादेः०' से धातुस्थ 'ष्' के स्थान पर 'स्' होकर 'सण् ति' रूप एवं '४२६–यासुट्०' से लिङ् के परस्मैपदप्रत्यय—'तिप्' (ति) को 'यासुट्' (यास्) आगम होने पर 'सण् यास् ति' रूप बनेगा। फिर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम के वल से णकार को नकार होकर 'स न् या स् ति' रूप और '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'स न् यास् त्' रूप बनता है। अब '३०९–स्कोः०' से तकार से पूर्व वर्तमान सकार का लोप होकर 'स न् या त्' रूप एवं '६७५–ये विभाषा' से यकारादि कित् प्रत्यय—'यास्' (यासुट्) परे होने के कारण धातु 'सन्' को अर्थात् 'सन्' के अन्त्य अल् 'न्' को विकल्प से 'आ' होकर 'स आ या त्' रूप बनेगा। यहाँ '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दो अकारों के स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'सायात्' रूप सिद्ध होता है। जव 'न्' के स्थान पर 'आ' नहीं होगा। तव 'सन् यात्' = 'सन्यात्' रूप ही रहेगा।

क्र्यादिगण-प्रकरण

१. गृहाण

यह 'ग्रह्' (ग्रह–स्वीकार करना) धातु का लोट्-लकार में मध्यमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ग्रह् लोट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'सिप्' (सि) होकर 'ग्रह् सि' रूप बनता है। फिर '४१५–सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' से स्थान पर 'हि' आदेश होकर 'ग्रह् हि' रूप एवं '६८४–क्र्यादिभ्यः श्ना' से धातु के पश्चात् 'श्ना' (ना) होकर 'ग्रह् ना हि' रूप बनेगा। अव '६३४–ग्रहिज्या०' से ङित् प्रत्यय–'श्ना'[२] (ना) परे होने के कारण 'ग्र' के रेफ को सम्प्रसारण—'ऋ' होकर 'ग् ऋ अ ह् ना हि' रूप एवं '२५८–सम्प्र-सारणाच्च' से 'ऋ' एवं 'अ'—दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश—'ऋ' होकर 'ग् ऋ

---

१. 'यासुट्' यकारादि कित् प्रत्यय है। इसके आदि में यकार होने से यकारादि है और '४३२–किदाशिषि' से कित्।

२. शकार के इत् होने के कारण 'श्ना' प्रत्यय शित् है, '३८६–तिङ्शित् सार्व-धातुकम्' से सार्वधातुक है, पकार इत् न होने से अपित् है। अत एव सार्वधातुक अपित् होने के कारण 'श्ना' प्रत्यय '५००–सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हुआ।

ह् ना हि' रूप बनता है। इसके पश्चात् '६८७–हलः श्नः शानज्झौ' से 'ना' के स्थान पर 'शानच्' (आन) आदेश होकर 'ग् ऋ ह् आ न हि' रूप एवं '१३८–अटकुप्वाङ्०' से नकार के स्थान पर णकार होकर 'ग् ऋ ह् आ ण हि' रूप बनेगा[1]। तब '४१६–अतो हेः' से 'हि' का लोप होकर 'ग ऋ ह् आ ण' = 'गृहाण' रूप सिद्ध होता है।

२. ग्रहीता

यह 'ग्रह्' (ग्रह—स्वीकार करना) धातु का लुट्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ग्रह् लुट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'ग्रह् ति' रूप बनता है। फिर '४०३–स्यतासी०' द्वारा धातु से 'तास्' की प्राप्ति होने पर 'ग्रह् तास् ति' रूप और '४०४–लुटः प्रथम०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'ग्रह् तास् आ' रूप बनेगा। अब '२४१–टेः' से डित्—'डा' (आ) परे होने के कारण टि—'आस्' का लोप होकर 'ग्रह् त् आ' रूप एवं '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से 'तास्' को 'इट्' (इ) आगम होने पर 'ग्रह् इ त् आ' रूप बनता है। तब '६९३–ग्रहोऽलिटि दीर्घः' से इकार के स्थान पर दीर्घ—ईकार होकर 'ग्रह् ई त् आ' = 'ग्रहीता' रूप सिद्ध होगा।

३. जज्ञौ

यह 'ज्ञा' (जानना) धातु का लिट्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'ज्ञा लिट्'। यहाँ प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लिट्' के स्थान पर परस्मैपद–प्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'ज्ञा ति' रूप बनने पर '३९२–परस्मैपदानां०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'णल्' (अ) आदेश होकर 'ज्ञा अ' रूप बनता है। अब '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'ज्ञा' धातु का द्वित्व होकर 'ज्ञा ज्ञा अ' रूप होने पर '३९६–हलादिः शेषः' अभ्यास संज्ञक पूर्व 'ज्ञा' के अनादि हल्–'ञ्' का लोप होकर 'जा ज्ञा अ' रूप बनेगा।[2] फिर '९७–ह्रस्वः' से अभ्यास 'जा' के अच्–'आ' के स्थान पर ह्रस्व–'अ' होकर 'ज ज्ञा अ' रूप और '४८८–आत औ णलः' से आकारान्त धातु 'ज्ञा' से पर 'णल्' (अ) के स्थान पर 'औ' होकर 'ज ज्ञा औ' रूप बनता है। तब '३३–वृद्धिरेचि' से आकार एवं औकार के स्थान पर वृद्धि–एकादेश होकर 'जज्ञौ' रूप सिद्ध होगा।

---

१. देखिये सूत्र ८. ४. १ पर काशिका—ऋ वर्ण से पर 'न्' को भी 'ण्' होता है।

२. ध्यान रहे 'ज्ञा' में 'ज् ञ् आ'–इन तीन वर्णों का योग है। वस्तुतः ज्ञकार एक संयुक्त वर्ण है, जो जकार और ञकार के संयोग से बनता है। इसी प्रकार क्षकार भी ककार और षकार के योग से बनता है।
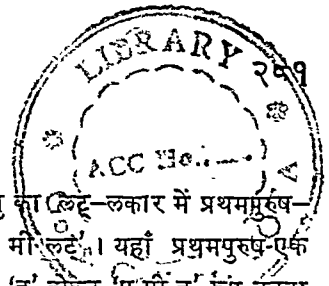
४. प्रमीणीते

यह 'प्र' उपसर्गपूर्वक-'मी' (मीञ्–मारना) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'प्र मी लट्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान में आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'प्र मी त' रूप बनता है। फिर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से 'टि'–अकार के स्थान पर 'एकार' होकर 'प्र मी ते' रूप और '६८४–क्र्यादिभ्यः श्ना' से धातु के पश्चात् 'श्ना' (ना) प्रत्यय होकर 'प्र मी ना ते' रूप बनेगा। यहाँ '६८५–हिनुमीना' से रकार के पश्चात् 'मीना' के नकार के स्थान पर णकार होकर 'प्रमीणा ते' रूप बनने पर '५१८–ई हल्यघोः' से 'श्ना' (ना) के आकार के स्थान पर ईकार होकर 'प्रमीणीते' रूप सिद्ध होता है।

५. वूर्षीष्ट (वरिपीष्ट)

यह 'वृ' (वृञ्–वरण करना) धातु का आशीर्लिङ्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है–'वॄ लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'वॄ त' रूप बनता है। तब '५२०–लिङः सीयुट्' से लिङ् के स्थान पर आये हुये आत्मनेपद प्रत्यय 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) होने पर 'वॄ सीय् त' रूप और '५२३–सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'वॄ सीय् स् त' रूप बनेगा। यहाँ '४२९–लोपो व्योर्वलि' से वल्–'स्' के पर होने के कारण 'य्' का लोप होकर 'वॄ सी स् त' रूप बनता है। इसके बाद '६९१–लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' से लिङ्–'सी स् त' को विकल्प से इडागम होता है। इडभावपक्ष में '६११–उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'ॠ' के स्थान में उत्व प्राप्त है। यह उत्व '२९–उरण् रपरः' से रपर होता है। तब रूप बनता है—'व् उर् सीस् त'। अब '६१२–हलि च' से इक्-उकार के स्थान पर दीर्घ–ऊकार होकर 'व् ऊर् सीस् त' रूप और '१५०–आदेश-प्रत्यययोः' से प्रत्ययस्थ दोनों सकारों के स्थान पर षकारों के होने पर 'व् ऊर् षी ष् त' रूप बनेगा। यहाँ '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान पर टकार होने पर 'व् ऊर् षी ष् ट' = 'वूर्षीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

'इट्'–पक्ष में पूर्ववत् 'वॄ सी स् त' रूप बनने पर '६९१–लिङ् सिच०' से लिङ्–'सी स् त' को 'इट्' (इ) आगम हो 'वॄ इ सी स् त' रूप बनता है। यहाँ '६१५–'वॄतो वा' से विकल्प से 'इट्' (इ) को दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु '६९२–न लिङ्' से उसका निषेध हो जाता है। तब '६१४–ऋच्छत्यॄताम्' से धातु के स्थान पर गुण–'अर्' होकर 'व् अर् इ सी स् त' रूप बनने पर पूर्ववत् षत्व एवं ष्टुत्व होकर 'व् अर् इ षी ष् ट् अ' = 'वरिषीष्ट' रूप सिद्ध होगा।

६. व्यष्टभत्

यह 'वि' उपसर्गपूर्वक 'स्तन्भ्' (स्तम्भु-रोकना)धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष–

एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'वि स्तन्भ् लुङ्' यहाँ '४२३—लुङ्लङ्०' से अङ्ग को 'अट्' (अ) आगम होकर 'वि अ स्तन्भ् लुङ्' रूप एवं '३८२—तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष—एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर तिप्' (ति) आदेश होने पर 'वि अ स्तन्भ् ति' रूप वनता है। अव '४३७-च्लि लुङि' से लुङ्स्थानीय 'ति' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ वि स्तन्भ् च्लि ति' रूप वनने पर '४३८—च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' की प्राप्ति होने लगी। किन्तु '६८८—जृस्तन्भु०' से 'सिच्' की प्राप्ति का वाध होकर 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'अङ्' (अ) आदेश हुआ। इस प्रकार रूप वनता है—'वि अ स्तन्भ् अ ति'। तव '३४४—अनिदितां हल्०' से 'स्तन्भ्' धातु के नकार का लोप होकर 'वि अ स्तभ् अ ति' एवं '६८९—स्तन्भेः' से सकार के स्थान पर षकार होकर 'वि अष् त भ् अ ति' रूप वनेगा। इसके वाद '६४—ष्टुना ष्टुः' से षकारोत्तरवर्ती तकार के स्थान पर टकार होकर 'वि अ ष् ट भ् अ ति' रूप और '१५—इको यणचि' से 'अ' परे होने से इकार के स्थान पर यकार होकर 'व् य् अ ष् ट भ् अ ति' रूप वनेगा। यहाँ '४२४—इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'व् य् अ ष् ट भ् अत्' = 'व्यष्टभत्' रूप सिद्ध होता है।

७. स्तभान

यह 'स्तन्भ्' (स्तम्भ्—रोकना) धातु का लोट्—लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। मूलरूप है—'स्तन्भ् लोट्'। यहाँ मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लोट्' के स्थान पर परस्मैपद प्रत्यय 'सिप्' (सि) होकर 'स्तन्भ् सि' रूप वनता है। अव '६८६—स्तन्भु०' से धातु के वाद 'श्ना' (ना) प्रत्यय विकल्प से होकर 'स्तन्भ् ना सि' रूप एवं '४१५—सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' को 'हि' आदेश होकर 'स्तन्भ् ना हि' रूप वनेगा। इसके वाद '६८७—हलः श्नः शानज्झौ' से 'ना' को 'शानच्' (आन) आदेश होने पर 'स्तन्भ् आन हि' रूप तथा '३३४—अनिदितां हल०' से 'स्तन्भ्' धातु के नकार का लोप होकर 'स्तभ् आन हि' रूप बनता है। यहाँ '४१६—अतो हेः' से अकारान्त अङ्ग से पर 'हि' का लोप होकन 'स्तभ् आन' = 'स्तभान' रूप सिद्ध होगा।

८. स्तरिषीष्ट

यह 'स्तॄ' (स्तॄञ्—अच्छादन करना) धातु का अशीर्लिङ्—लकार में प्रथमपुरुष—एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूलरूप है—'स्तॄ लिङ्'। यहाँ प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लिङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'स्तॄ त' रूप बनता है। तव '५२०—लिङः सीयुट्' से लिङ् के स्थान पर आये हुए आत्मनेपद प्रत्यय 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) होने पर 'स्तॄ सीय् त' रूप और '५२३—सुट् तिथोः' से तकार को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'स्तॄ सीय् स् त' रूप वनेगा। यहाँ '४२९—लोपो व्योर्वलि'

से वल्–'स्' पर होने के कारण 'य्' का लोप होकर 'स्तॄ सी स् त' रूप और '६९१–लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' से लिङ्–'सी स् त' को विकल्प से 'इट्' (आगम) होकर स्तॄ इ सी स् त' रूप बनता है। अब '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से अजन्त अङ्ग 'स्तॄ' के ॠकार को गुण होना प्राप्त है जो '२९–उरण् रपरः' से रपर होगा। इस प्रकार रूप बनेगा 'स्त् अर् इ सी स् त'। इस स्थिति में ६१५–वृतो वा' से 'इट्' (इ) के स्थान में दीर्घादिण प्राप्त हो रहा था किन्तु '६९२–न लिङि' से दीर्घादेश होने का निषेध हो गया। फिर '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्ययगत दोनों सकारों के स्थान पर षकारों के होने पर 'स्त् अर् इ षी ष् त' रूप बनता है। यहाँ '६४–ष्टुना ष्टुः' से षकारोत्तरवर्ती तकार के स्थान पर टकार होकर 'स्त् अर् इ षी ष् ट' = 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध होगा।

चुरादिगण-प्रकरण

१. अचकथत्

यह 'कथ' (कहना) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। अग्रिम ४ र्थ रूप 'कथयति' के समान णिच्, अकारलोप एवं उपधावृद्ध्यभाव होकर 'कथ् इ' रूप बनने पर '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'कथ् इ' की धातु संज्ञा हुई। तब लुङ्-लकार में 'कथ् इ लुङ्' रूप बनने पर '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ कथ् इ लुङ्' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '३८०–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ कथ् इ ति' रूप और '४२५–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'अ कथ् इ त्' रूप बनता है। फिर '४३७–च्लि लुङि' से लुङ् स्थानीय 'त्'—परे होने से धातु से 'च्लि' होकर 'अ कथ् इ च्लि त्' रूप बनेगा[1]। तब '५२८–णिश्रिद्रु०' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) होकर 'अ कथ् इ अ त्' रूप एवं '५२९–णेरनिटि' से 'णि' (थकारोत्तरवर्ती णिच् के इकार) का लोप होने पर 'अ कथ् अ त्' रूप बनता है यहाँ '५३१–चङि' से धातु के अवयव प्रथम एकाच्—'कथ्' का द्वित्व होकर 'अ कथ् कथ् अ त्' रूप एवं '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास संज्ञक 'क थ्' के थकार का लोप होने पर 'अ क कथ् अ त्' रूप बनेगा। तब '४५४–कुहोश्चुः' से 'क' के स्थान पर 'च' होकर 'अ च कथ् अ त्' रूप बनता है। ध्यान रहे कि ऊपर अकारलोप '४७०–अतो लोपः' से हुआ है अत एव सन्वद्भाव न होने के कारण

---

१. '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'कथ् इ' अंश की धातु संज्ञा है, अत एव 'कथ् इ' के बाद 'च्लि' का आगम हुआ।

इकार भाव एवं दीर्घत्व का निषेध होता है[1]। इस प्रकार 'अ च कथ् अ त्' = 'अचकथत्' रूप सिद्ध हुआ।

२. अचूचुरत्

यह 'चुर्' (चुर—चोरी करना) धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ '६९४–सत्यापपाश०' से चुर् धातु से 'णिच्' (इ) होकर 'चुर् इ' एवं '४५१–पुगन्त०' से आर्धधातुक–इकार परे होने के कारण 'चुर्' के उपधा–उकार को गुण–ओकार होकर 'चोर् इ' = 'चोरि' की 'धातु' संज्ञा होती है। इस प्रकार 'चोरि' की धातु-संज्ञा होने पर लुङ्–लकार में 'चोरि लुङ्' रूप बनता है। फिर '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) होकर 'चोरि ति' रूप एवं '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ चोरि ति' रूप बनेगा। पुनः '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अचोरि त्' रूप और '४३७–च्लि लुङि' से लुङ्–'त्' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अ चो रि च्लि त्' रूप बनता है। इसके बाद '५२८–णिश्रिद्रु०' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) होकर 'अ चोरि अ त्' रूप और '५२९–णेरनिटि' से णि ('रि'–स्थ णिच् के इकार) का लोप होकर 'अ चो र् अ त्' रूप बनेगा। तब '५३०–णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से 'चोर्' की उपधा ओकार को ह्रस्व उकार होने पर 'अ चु र् अ त्' रूप एवं '५३१–चङि' से धातु का द्वित्व होकर 'अ चु र् चु र् अ त्' रूप बनता है। इसके बाद '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास संज्ञक पूर्व 'चुर्' के रेफ का लोप होकर 'अ चु चु र् अ त्' रूप बनेगा। यहाँ '५३२–सन्वल्लघुनि०' के द्वारा अपेक्षित सभी अवस्थाओं की पूर्ति होने के कारण सन्वद्भाव प्राप्त है। अतः '५३४–दीर्घो लघोः' से सन्वद्भाव के कारण अभ्यास के लघु–उकार के स्थान पर दीर्घ–ऊकार होकर 'अ चू चु र् अ त्' = 'अचूचुरत्' रूप सिद्ध हुआ।

३. अजीगणत्

यह 'गण' (गिनना) धातु का लुङ्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ '६६४–सत्यापपाश०' से 'गण' धातु से स्वार्थ में 'णिच्' (इ) होकर 'गण इ' और '४७०–अतो लोपः' से आर्धधातुक 'णिच्' (इ) परे होने से अदन्त अङ्ग 'गण' के अकार का लोप होकर 'गण् इ' का बनता है। अब '४५५–अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय णिच्–'इ' परे होने से उपधा अकार के स्थान में वृद्धि आकार हो रहा था, किन्तु '६९६–अचः परस्मिन्०' से अकार के लोप के स्थानवत् होने के कारण उपधा में अकार न होने से वृद्धि नहीं हुई।

---

१. देखिए सूत्र '५३१–चङि' से लेकर '५३४–दीर्घो लघोः' तक।

यहाँ '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'गण् इ' = 'गणि' की धातु संज्ञा होने पर लङ्-लकार में 'गणि लुङ्' रूप बनता है। तब '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होने पर 'अ गणि लुङ्' और '३८२-तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ गणि ति' रूप बनेगा। फिर '४२४–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होने पर 'अ गणि त्' रूप एवं '४३७–च्लि लुङि' से धातु के बाद 'च्लि' होकर 'अ गणि च्लि त्' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '५२८–णिश्रिद्रु०' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) होकर 'अ गणि अ त्' रूप और '५२९–णेरनिटि' से णि–णकारोत्तरवर्त्ती 'णिच्' के इकार का लोप होकर 'अ ग ण् अ त्' रूप बनेगा। तब '५३१–चङि' से धातु के अवयव प्रथम एकाच्–'गण्' का द्वित्व होकर 'अ गण् गण् अ त्' तथा '३९६–हलादिः शेषः' अभ्याससंज्ञक पूर्व 'गण्' के णकार का लोप होकर 'अ ग गण् अ त्' रूप बनता है। फिर '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के गकार के स्थान पर जकार होकर 'अ ज गण् अ त्' रूप बनेगा। ध्यान रहे कि '४७०–अतो लोपः' से अकार के लोप होने पर रूप संख्या-१ (अचकथत्) की भाँति सन्वद्भाव एवं दीर्घत्व का निषेध हो गया। तब ६९७–ई च गणः' से अभ्यास के अकार को विकल्प से ईकार होकर 'अजी गण् अत्' = 'अजीगणत्' रूप सिद्ध हुआ। ईकाराभाव पक्ष में 'अजगणत्' रूप बना।

४. कथयति

यह 'कथ' (कहना) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ '६९४–सत्यापपास०' से 'कथ' धातु से स्वार्थ में 'णिच् (इ) होकर 'कथ इ' रूप और ४७०–अतो लोपः' से आर्धधातुक 'णिच् (इ) पर होने से अदन्त अङ्ग 'कथ' के अकार का लोप होकर 'कथ् इ' रूप बनेगा। अब '४५५–अत उपधायाः' से णित् प्रत्यय णिच्–इ परे होने से उपधा अकार के स्थान में वृद्धि आकार हो रहा था, किन्तु '६९६–अचः परस्मिन्०' से अकार के लोप के स्थानिवत् होने के कारण उपधा में अकार न होने से वृद्धि न हो सकी।[1]

अब 'कथ् इ' रूप बनने पर लट्–लकार में 'कथ् इ लट्' रूप बनता है। तब प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर परस्मैपद तिप् (ति) होकर 'कथ् इ ति' रूप एवं '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप् (अ) प्रत्यय होने पर 'कथ् इ अ ति' रूप बनेगा। अब '३८८-सार्वधातुकार्धधातुकयोः०' से सार्वधातुक प्रत्यय

१. विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखिये सूत्र '६९६–अचः परस्मिन्०' की हिन्दी व्याख्या।

'शप्' (अ) परे होने के कारण अजन्त अङ्ग के अन्त्य इक्–इकार को गुण-एकार होकर 'कथ् ए अ ति' रूप बनता है। यहाँ '२२–एचोऽयवायावः' से एकार के स्थान पर अय् आदेश होकर 'कथ् अय् अति' = 'कथयति' रूप सिद्ध होगा।

ण्यन्त-प्रक्रिया

१. अजिज्ञपत्

यह णिजन्त 'ज्ञप्' (ज्ञप—ज्ञान, ज्ञापन) धातु का लुङ्—लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ 'ज्ञप्' धातु से '७००–हेतुमति च' से प्रेरणार्थ 'णिच्' (इ) होकर 'ज्ञप् इ' रूप बनता है। तब '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'ज्ञप् इ' = 'ज्ञपि' की धातुसंज्ञा होने पर लुङ्-लकार में 'ज्ञपि लुङ्' रूप बनेगा। इसके बाद '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होकर 'अ ज्ञपि लुङ्' रूप और '३८२–तान्येक-वचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ ज्ञपि ति' रूप बनता है। फिर '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होकर 'अ ज्ञपि च्लि त्' रूप एवं '४३७–च्लि लुङि' से धातु के बाद 'च्लि' होने पर 'अ ज्ञपि च्लि त्' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में '५२८–णिश्रिद्रु०' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) होकर 'अ ज्ञपि अ त्' रूप और '५२९–णेरनिटि' से 'णि'–'णिच्' के इकार का लोप होकर 'अ ज्ञप् अ त्' रूप बनता है। फिर '५३१—चङि' से धातु का द्वित्व होकर 'अ ज्ञप् ज्ञप् अ त्' रूप और '३९६ हलादिः शेषः' से पूर्ववर्ती 'ज्ञप्' के ञकार एवं पकार का लोप होकर 'अ ज ज्ञप् अ त्' रूप बनेगा। तब '४५५–अत उपधायाः' से णित्-'णिच्' (लुप्त इकार) प्रत्यय परे होने से उपधा के अकार (पकार—पूर्ववर्ती) के स्थान में वृद्धि-आकार होकर 'अ ज ज्ञाप् अ त्' रूप एवं '७०४—मितां ह्रस्वः' से उपधा को ह्रस्व होकर पुनः 'अ ज ज्ञप् अ त्' रूप बनता है। यहाँ '५३२—सन्वल्लघुनि०' से सन्वद्भाव प्राप्त होने पर '५३३—सन्यतः' से अभ्यास के अकार को इकार होकर 'अ जि ज्ञप् अ त्' = 'अजिज्ञपत्' रूप सिद्ध होगा।

२. अतिष्ठिपत्

यहाँ णिजन्त 'स्था' (ष्ठा[१]—ठहरना) धातु का लुङ्—लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ 'ष्ठा' (स्था) धातु से '७००—हेतुमति च' से प्रेरणार्थ 'णिच्' (इ) होकर 'स्था इ' रूप एवं '७०२–अर्तिह्रीव्ली०' से 'णि' (इ)

---

१. सूत्र संख्या '२५५–धात्वादेः षः सः' से षकार के स्थान पर सकार और जब षकार ही न रहा जिसके कारण मूर्धन्य ठकार हुआ था, ठकार के स्थान पर थकार हो गया।

परे होने से आकारान्त धातु स्था को 'पुक्' (प्) आगम होकर 'स्था प् इ' रूप बनता है।[1] अब '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से णिजन्त 'स्था प् इ' = 'स्थापि' की धातु संज्ञा होने पर लुङ्–लकार में 'स्थापि लुङ्' रूप बनेगा। इसके बाद '४२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होने पर 'अ स्थापि लुङ्' रूप और '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ स्थापि ति' रूप बनता है। तब '४२४–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'अ स्थापित्' रूप और '४३७–च्लि लुङि' से धातु के बाद 'च्लि' होकर 'अस्थापि च्लि त्' रूप बनेगा। इसके बाद '५२८–णिश्रिद्रु०' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) आदेश होकर 'अस्थापि अ त्' रूप बनता है। इस स्थिति में 'णिच्यच आदेशो न स्यात्, द्वित्वे कार्ये' से उपधा–आकार के स्थान पर इकार होने के पूर्व द्वित्व आदि होगा।[2] तब '५३१–चङि' से धातु का द्वित्व होकर 'अ स्था स्था पि अ त' रूप एवं '६४८—शपूर्वाः खयः' से सकार का लोप होने पर 'अथा स्थापि अत्' रूप बनेगा। इसके बाद '३९७–ह्रस्वः' से अभ्यास के अच्–अकार के स्थान पर ह्रस्व–अकार होकर 'अ थ स्था पि अ त्' रूप एवं '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यासपरक थकार के स्थान में तकार होकर 'अ त स्थापित अत्' रूप बनता है। फिर '५३०-णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से 'चङ्' (अ) परे होने से उपधा–'आ' के स्थान पर ह्रस्व–'अ' होकर 'अ त स्थपि अत्' रूप और '५२९–णेरनिटि' से णिच् के इकार का लोप होकर 'अ त स्थ प् अ त्' रूप बनेगा। तत्पश्चात् '५३२–सन्वल्लघुनि०' से सन्वद्भाव प्राप्त होने के कारण '५३३–सन्यतः' से अभ्यास के अकार के स्थान पर इकार होकर 'अ ति स्थ प् अ त्' रूप बनता है। फिर '१५०–आदेश प्रत्यययोः' से आदेश–सकार के स्थान पर षकार होकर 'अ ति ष्थ प् अ प्' रूप[3] एवं '६४–ष्टुना ष्टुः' से थकार ठकार होकर 'अ ति ष्ठ प् अ त्' रूप बनेगा। तब '७०३–तिष्ठतेरित्' से चङ् परक णि–'अ'[4] परे होने से 'ष्ठप्' (स्था) धातु का उपधा–अकार के स्थान पर इकार होकर 'अतिष्ठिप् अत्' = 'अतिष्ठिपत्' रूप सिद्ध हुआ।

---

१. 'पुक्' कित् है इसलिए '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा के बल से धातु के बाद आता है।

२. यहाँ '७०३–तिष्ठतेरित्' से इकार की प्राप्ति हो रही थी।

३. 'स्थ' में सकार आदेश है। मूल धातु 'ष्ठा' थी और '२५५–धात्वादेः षः सः' से षकार के स्थान पर सकार आदेश हुआ था।

४. यद्यपि यहाँ 'चङ्' का अकार ही शेष रह गया है और 'णि' (णिच्) के इकार का लोप हो गया है तो भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के बल से अकार को 'चङ्परक णि' माना गया है।

३. अबीभवत्

यह णिजन्त 'भू' धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। यहाँ भू धातु से '७००–हेतुमति च' से प्रेरणार्थ में 'णिच्' (इ) होकर 'भू इ' रूप बनता है। अब 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' से निषेध हो जाने के कारण पहले वृद्धि नहीं होती।[1] तब '५६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'भू इ' की धातु संज्ञा होने पर लुङ्-लकार में 'भू इ लुङ्' रूप बनता है। अब '५२३–लुङ्लङ्०' से 'अट्' (अ) आगम होने पर 'अ भू इ लुङ्' रूप और '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'अ भू इ ति' रूप बनेगा। फिर '४२४–इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होने पर 'अ भू इ त्' रूप एवं '४३७–च्लि लुङि' से धातु के पश्चात् 'च्लि' होकर 'अ भू इ च्लि त' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '५२८–णिश्रिद्रु०' से 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) होकर 'अ भू इ अ त्' रूप और '५२९–णेरनिटि' से णि 'णिच्' के इकार का लोप होकर 'अ भू अ त्' रूप बनेगा। तब '५३१–चङि' से धातु का द्वित्व होकर अ भू भू अ त्' रूप और '३९७–ह्रस्वः' से अभ्याससंज्ञक प्रथम 'भू' के अच्–'अकार' के स्थान पर ह्रस्व–उकार होकर 'अ भु भू अत्' रूप बनता है। फिर '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास 'भु' के भकार के स्थान पर बकार होकर 'अ बु भू अ त्' रूप और '१८२–अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय–'णिच्' (इ) परे रहते 'भू' के ऊकार को वृद्धि–औकार होकर 'अ बु भौ अ त्' रूप बनेगा।[2] इसके बाद '२२–एचोऽयवायावः' से औकार के स्थान पर 'आव्' आदेश होकर 'अ बु भ् आव् अ त्' रूप और '५३०–णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से 'चङ्' (अ) परे होने से उपधा–आकार के स्थान पर ह्रस्व–आकार होकर 'अ बु भ् अ व् अ त्' रूप बनता है। फिर '५३२–सन्वल्लघुनि०' से सन्वद्भाव प्राप्त होने के कारण '७०१–ओः पुयण्ज्यपरे' से उकार के स्थान पर इकार होकर 'अ बि भ् अ व् अ त्' रूप बनेगा। यहाँ '५३४–दीर्घो लघोः' से इकार के स्थान पर दीर्घ–ईकार होकर 'अ बी भ् अ व् अ त्' = 'अबीभवत्' रूप सिद्ध होता है।

सन्नन्त-प्रक्रिया

१. चिकीर्षति

यह सन्नन्त 'कृ' धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। पहले 'कृ' धातु से '७०५–धातोः कर्मणः' से इच्छार्थ में 'सन्' (स) प्रत्यय

१. यहाँ '१८२–अचो ञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त थी।

२. यद्यपि णिच् (इ) का लोप हो गया है तो भी '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से तद्धेतुक कार्य होगा।

होकर 'कृ स' रूप बनता है। यहाँ '४०४–आर्धधातुकं शेषः' से 'स' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'स' के वलादि आर्धधातुक प्रत्यय होने के कारण उसे ('स' को) 'इट्' (इ) आगम हो रहा था, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से इडागम का निषेध हो गया। तब '७०८–अज्झनगमां सनि' से धातु के ऋकार के स्थान पर ॠकार होकर 'कॄ स' रूप बनता है। यहाँ '७०९–इको झल्' से ॠकारान्त धातु से पर झलादि 'सन्' प्रत्यय–'स' होने से 'स' की 'कित्' संज्ञा हुई। इस स्थिति में '४३३–क्क्ङिति च' से ॠकार को गुण होने का निषेध हो गया।[1] फिर '६६०–ॠत इद् धातोः' से ॠकार के स्थान पर इकार की प्राप्ति हुई। तब '२९–उरण् रपरः' से इकार रपर ('इर्') होकर 'क् इर् स' = 'किर्स' रूप बनता है। यहाँ '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'किर् किर् स' रूप एवं '३९६–हलादिः शेषः' से पूर्व 'किर्' के रेफ का लोप होकर 'कि किर् स' रूप बनेगा। अब '४५४–कुहोश्चुः' से पूर्व ककार के स्थान पर चकार होकर 'चि किर् स' रूप एवं '६१२–हलि च' से हल्-सकार परे होने के कारण रेफान्त धातु 'किर्' के इक्–इकार के स्थान पर दीर्घ–ईकार होकर 'चिकीर् स' रूप बनता है। फिर '१५०–आदेशप्रत्ययोः' से सकार के स्थान पर षकार होकर 'चिकीर्ष' = 'चिकीर्ष' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से चिकीर्ष की धातु संज्ञा होने पर धातु से लट्–लकार होकर 'चिकीर्ष लट्' रूप बनता है। यहाँ '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'चिकीर्ष ति' रूप एव '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) होकर 'चिकीर्ष अ ति' रूप बनेगा। तब '२७४–अतो गुणे' से अकार से पर गुण–अकार होने से दोनों के स्थान में पर रूप–अकार होकर 'चिकीर्षति' रूप सिद्ध हुआ।

२. जिघत्सति

यह सन्नन्त 'अद्' (खाना) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। पहले 'अद्' धातु से '७०५–धातोः कर्मणः०' से इच्छार्थ में 'सन्' (स) प्रत्यय होकर 'अद् स' रूप बनता है। फिर '५५८–लुङ्सनोर्घस्लृ' से 'अद्' के स्थान पर 'घस्लृ' (घस्) आदेश होकर 'घस् स' रूप बनेगा। यहाँ '४०४–आर्धधातुकं शेषः' से 'स' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'स' के वलादि आर्धधातुक प्रत्यय होने के कारण इसे ('स' को) 'इट्' (इ) आगम हो रहा था, किन्तु '४७५–एकाच उपदेशे०' से आर्धधातुक 'स' को 'इट्' (इ) आगम होने का निषेध हो गया। तब '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'घस् घस् स' रूप और '३९६–हलादिः शेषः' से पूर्व 'घस्' के सकार का लोप होकर

१. '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ॠकार को गुण हो रहा था।

'घ घस् स' रूप बनेगा। इसके पश्चात '४५४–कुहोश्चुः' में पूर्व घकार के स्थान पर चवर्ग–झकार होकर 'झ घस् स' रूप और '३९९–अभ्यासे चर्च' से झकार के स्थान पर जकार होकर 'ज घस् स' रूप बनता है। फिर '५३३–सन्यतः' से अभ्याससंज्ञक 'ज' के अकार के स्थान पर इकार होकर 'जि घस् स' रूप एवं '७०७–सस्यार्धधातुके' से अकारोत्तरवर्ती सकार के स्थान पर तकार होकर 'जिघत् स' रूप बनेगा। यहाँ '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'जिघत् स' की धातु संज्ञा होने पर धातु के लट्–लकार होकर 'जि घत् स लट्' रूप बनता है। तब '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'जि घत् स ति' रूप एवं '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) होकर 'जि घत् स अ ति' रूप बनेगा। यहाँ '२७४–अतो गुणे' से अकार से पर गुण—अकार होने से दोनों के स्थान में पररूप अकार से 'जि घत् स् अ ति' = 'जिसत्सति' रूप सिद्ध होता है।

३. पिपठिषति

यह सन्नन्त 'पठ्' (पढ़ना) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। पहले 'पठ्' धातु से '७०५–धातोः कर्मणः०' से इच्छार्थ में 'सन्' (स) प्रत्यय होकर 'पठ् स' रूप बनता है। यहाँ '४०४–आर्धधातुकं शेषः' से 'स' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से उसे ('स' को) 'इट्' (इ) आगम होकर 'पठ् इ स' रूप बनेगा। फिर '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'पठ् पठ् इ स' रूप बनने पर '३९६–हलादिः शेषः' से पूर्व ठकार का लोप होकर 'प पठ् इ स' रूप बनता है। इसके बाद '५३३–सन्यतः' से अभ्यास-संज्ञक–पूर्व 'प' के अकार को इकार होकर 'पि पठ् इ स' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'पि पठ् इ स' की धातु संज्ञा होती है। तब लट्–लकार में धातु से 'लट्' होकर 'पि पठ इ स लट्' रूप और '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) प्रत्यय होकर 'पि पठ् इ स ति' रूप बनता है। तब '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) होकर 'पि पठ् इ स अ ति' रूप और '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान पर षकार होकर 'पिपठ् इष अ ति' रूप बनेगा। यहाँ '२७४–अतो गुणे' से अकार से पर गुण–अकार होने से दोनों के स्थान पर पररूप–अकार होकर 'पिपठ् इष् अ ति' = 'पिपठिषति' रूप सिद्ध होता है।

४. बुभूषति

यह सन्नन्त 'भू' धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। पहले 'भू' धातु से '७०५–धातोः कर्मणः०' से इच्छार्थ में 'सन्' (स) प्रत्यय

होकर 'भू स' रूप बनता है। यहाँ '४०४–आर्धधातुक शेषः' से 'स' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से वलादि होने के कारण उसे 'इट्' (इ) आगम हो रहा था, किन्तु '७१०–सनि ग्रहगुहोश्च' से उगन्त 'भू' धातु से पर 'सन्' ('स') को इट् आगम नहीं हुआ। इस स्थिति में '३८८-सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से उकार को गुण हो रहा था किन्तु '७०९–इको झल्' से 'स' की 'कित्' संज्ञा होने से '४३३–ग्क्ङिति च' से उसका भी निषेध हो गया। तब '७०६–सन्यङो' से धातु को द्वित्व होकर 'भू भू स' रूप एवं '३९७–ह्रस्वः' से पूर्व 'भू' के ऊकार के स्थान में उकार होकर 'भु भू स' रूप बनेगा। फिर '३९९–अभ्यासे चर्च' से पूर्व 'भु' के भकार के स्थान पर बकार होकर 'बु भू स' रूप एवं '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से सकार के स्थान पर षकार होकर 'बु भू ष' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया रूप संख्या–३ ('पिपठिषति') के समान है।

यङन्त-प्रक्रिया

१. नरीनृत्यते

यह यङन्त 'नृत्' (नृती–नाचना) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'नृत्' धातु से '७११–धातोरेकाचो०' से 'यङ्' (य) प्रत्यय होकर 'नृत् य' रूप एवं '७०६–सन्यङोः' से धातु को द्वित्व होकर 'नृत् नृत् य' रूप बनता है। फिर '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व 'नृत्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '४७३–उरत्' से अभ्याससंज्ञक पूर्व 'नृत्'–स्थ ऋकार के स्थान पर अकार की प्राप्ति होती है। प्रकृत अकार '२९–उरण् रपरः' से रपर–'अर्' होकर ऋकार के स्थान पर आने से रूप बनेगा—'न् अर् त् नृत् य'। पुन. '३१६–हलादिः शेषः' से अभ्यास के रेफ और तकार का लोप होकर 'न् अ नृत् य' = 'न नृत् य' रूप बनता है। इसके पश्चात् '७१६–रीग् ऋदुपधस्य' से अभ्यास–'न' को 'रीक्' (री) आगम होकर 'नरी नृत् य' = 'नरीनृत्य' रूप बनने पर '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'नरीनृत्य' की धातु संज्ञा हुई। आगे की प्रक्रिया रूप-संख्या–२ ('बोभूयते') के समान होकर 'नरीनृत्यते' रूप सिद्ध होता है।

२. बोभूयते

यह यङन्त 'भू' धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'भू' धातु से '७११–धातोरेकाचो०' से 'यङ्' (य) प्रत्यय होकर 'भू य' रूप बनता है। फिर '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'भू भू य' रूप एवं '३९७–ह्रस्वः' से अभ्याससंज्ञक पूर्व 'भू' के ऊकार के स्थान पर उकार होकर 'भु भू य' रूप बनता है।[1] इसके पश्चात् '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास–'भु' के

१. सूत्र संख्या '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व 'भू' की अभ्यास संज्ञा हुई है।

भकार के स्थान पर वकार होकर 'वु भू य' रूप एवं '७१२–गुणो यङ् लुकोः' से अभ्यास के उकार के स्थान पर गुण–ओकार होकर 'वो भू य' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'वो भू य' की धातु संज्ञा होती है। तब 'वो भू य्' धातु के ङित्–यङन्त होने के कारण '३७८–अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद प्रत्यय होगा। प्रकृत स्थल में धातु से लट्–लकार में 'वो भू य लट्' रूप होने के पश्चात् '६७२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन आत्मनेपद की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'त' प्रत्यय होकर 'वो भू य त' रूप बनता है। पुनः '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) प्रत्यय होकर 'वो भू य अ त' रूप एवं '२७४–अतो गुणे' से यकारोत्तरवर्ती अकार से पर गुण–अकार होने से दोनों के स्थान में पररूप–अकार होकर 'वो भू य त' रूप बनेगा। यहाँ '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित्–लकार के स्थान में आये हुये आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की टि–अकार के स्थान में एकार होकर 'वोभूयते' रूप सिद्ध हुआ।

३. वरीवृत्ताश्चक्रे

यह यङन्त 'वृत्' (वृतु–होना) धातु का लिट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'वृत्' धातु से '७११–धातोरेकाचो०' से 'यङ्' (य) प्रत्यय होकर 'वृत् य' रूप एवं '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'वृत् वृत् य' रूप बनता है। फिर '३९५–पूर्वोऽभ्यासः' से पूर्व 'वृत्' की अभ्यास संज्ञा होने पर '४७३–उरत्' से अभ्यास संज्ञक पूर्व 'वृत्'–स्थ ऋकार के स्थान पर अकार की प्राप्ति होती है। अब '२९–उरण् रपरः' से अकार के रपर–'अर्' होने पर रूप बनता है— 'व् अ र् त् वृ त् य'। पुनः '३९६–हलादिः शेषः' से 'व् अ र् त्' के रेफ एवं तकार के लोप होने पर 'व् अ वृ त् य' = 'व वृत् य' रूप बनेगा। यहाँ '७१६–रीगृ ऋदुपधस्य' से अभ्यास 'व' को 'रीक्' (री) आगम होने पर 'वरीवृत् य' = 'वरीवृत्य' रूप बनने पर '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से उसकी धातु संज्ञा हुई। अब धातु से लिट् होने पर 'वरीवृत्य लिट्' एवं 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इस वार्तिक[1] के अनुसार अनेकाच् धातु 'वरीवृत्य' से आमागम होने पर 'वरीवृत्य आम् लिट्' रूप बनेगा। फिर '७१५–यस्य हलः' से यकार का लोप होकर 'वरीवृत् आम् लिट्' = 'वरीवृताम् लिट्' रूप और '४७१–आमः' से आम् से पर 'लिट्' का लुक् (लोप) होकर 'वरीवृताम्' रूप बनेगा। अब '४७२–कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से 'आम्' प्रत्यय के पश्चात् 'कृ' के अनुप्रयोग से 'वरीवृताम् कृ लिट्' रूप और '३८२–तान्येकवचन०' से लिट् के स्थान पर आत्मनेपद 'त' प्रत्यय होकर 'वरीवृताम् कृ त' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '५१३–लिटस्तझयोरे०' से 'त' के स्थान में 'एश्' (ए) होकर 'वरीवृताम् कृ ए' रूप एवं '३९४–

१. देखिये सूत्र-संख्या '४६९–आयादय०' की वृत्ति।

लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'कृ' धातु का द्वित्व होकर 'वरीवृत्ताम् कृ कृ ए' रूप बनेगा। यहाँ '४७३–उरत्' से अभ्याससंज्ञक पूर्व 'कृ' के ऋकार के स्थान पर अकार प्राप्त है। यहाँ '२९–उरण् रपरः' से अकार के रपर–'अर्' होने पर रूप बनेगा–'वरीवृताम् क् अ र् कृ ए'। अब '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्याससंज्ञक—'क् अ र्' के रेफ के लोप होने पर 'वरीवृताम् क् अ कृ ए' रूप एवं '४५४–कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार के स्थान पर चकार होकर 'वरीवृताम् च् अ कृ ए' रूप बनता है। तब '१५–इको यणचि' से ऋकार के स्थान पर रकार होकर 'वरीवृताम् च् अ क् र् ए' = 'वरीवृताम् चक्रे' रूप और '७८–नश्चापदान्तस्य०' से मकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'वरीवृतांचक्रे' रूप बनेगा। फिर '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार के स्थान में चकार का सवर्ण अनुनासिक वर्ण ञकार होकर 'वरीवृताञ्चक्रे' रूप सिद्ध होगा।

४. वाव्रज्यते

यह यङन्त 'व्रज्' (गत्यर्थक) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'व्रज्' धातु से '७१३–नित्यं कौटिल्ये गतौ' से 'यङ्' (य) प्रत्यय होकर 'व्रज् य' रूप एवं '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'व्रज् व्रज् य' रूप बनता है। फिर '४९६-हलादिः शेषः' से पूर्व 'व्रज्' के रेफ एवं जकार का लोप होकर 'व व्रज् य' रूप और '७१४–दीर्घोऽकितः' से अकित् अभ्यास–'व' के अकार के स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'वा व्रज् य' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'वा व्रज् य' = 'वाव्रज्य' की धातु संज्ञा हुई। शेष प्रक्रिया रूप संख्या–२ ('वोभूयते') के समान होकर 'वाव्रज्यते' रूप सिद्ध होगा।

यङ्लुगन्त-प्रक्रिया

१. अबोभूवीत् (अबोभोत्)

यह यङ्-लुगन्त 'भू' धातु का लुङ्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। पहले 'भू' धातु से '७११–धातोरेकाचो०' से 'यङ्' (य) प्रत्यय होकर 'भूय' रूप और फिर '७१८–यङोऽचि च' से 'यङ्' (य) का लोप होकर 'भू' रूप बनता है। यद्यपि 'भू'–इस रूप में 'भू' धातु से 'यङ्' (य) प्रत्यय का लोप हुआ है, तो भी '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से प्रत्ययाश्रित कार्य होंगे। इसलिए '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'भू भू' रूप एवं '३९७-ह्रस्वः' से अभ्यास संज्ञक पूर्व 'भू' के अच्-ऊकार के स्थान पर ह्रस्व उकार होकर 'भु भू' रूप बनता है। इसके बाद '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास-संज्ञक 'भु' के भकार के स्थान पर बकार होकर 'बुभू' रूप बनेगा। फिर '७१२–गुणो यङ्लुकोः' से अभ्यास 'बु' के उकार के स्थान पर गुण-ओकार होकर 'बोभू' रूप बनता है। यहाँ '४६८-सनाद्यन्ता धातवः' से 'बोभू' की धातु-

संज्ञा होकर 'लुङ्' लकार में 'बोभू लुङ्' रूप बनेगा। फिर '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लुङ्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'बोभू ति' रूप एवं '४३७–च्लि लुङि' द्वारा लुङ्–'ति' पर होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'बोभू च्लि ति' रूप बनता है। इसके बाद '४३८–च्लेः सिच्' से च्लि के स्थान पर 'सिच्' (स्) होने पर 'बो भू स् ति' रूप और '४२४–इतश्च' से 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'बो भू स् त्' रूप बनेगा। फिर '४३९–गातिस्था०' से 'भू' धातु से पर 'सिच्'–सकार का लोप होकर 'बोभूत्' एवं '७१९–यङो वा' से तकार को विकल्प से 'ईट्' (ई) आगम होकर 'बोभू ई त्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'भू' के ऊकार को गुण हो रहा था, किन्तु '३९३–भुवो वुग्०' से गुण का बाध होकर 'भू' को 'वुक्' (व्) आगम हुआ। इस स्थिति में रूप बनता है—'बो भू व् ई त्' = 'बोभूवीत्'। तब '४२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग को अट् (अ) आगम होकर 'अबोभूवीत्' रूप सिद्ध हुआ।

जब '७१९–यङो वा' से विकल्प होने के कारण तकार को 'ईट्' का आगम नहीं होता, तब 'बोभूत्' रूप रहता है। यहाँ '३९३-भुवो वुग्' का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि 'भू' के पश्चात् अच् नहीं मिलता। इस स्थिति में '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'भू' के ऊकार के स्थान पर गुण–ओकार होकर 'बोभोत्' रूप बनने पर पूर्ववत् 'अट्' (अ) का आगम होकर 'अबोभोत्' रूप सिद्ध हुआ।

२. अबोभोत्

देखिये रूप संख्या–१।

३. बोभवाञ्चकार

यह यङ्–लुगन्त 'भू' धातु का लिट्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। रूप संख्या-१ की प्रक्रिया के समान 'बोभू' रूप सिद्ध होकर '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'बोभू' की धातु संज्ञा होने पर लिट्–लकार में 'बोभू लिट्' रूप बनेगा। फिर 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः'–इस वार्तिक[1] के अनुसार अनेकाच् धातु 'बोभू' से 'आम्' आगम होने पर 'बोभू आम् लिट्' रूप बनता है। अब '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से आर्धधातुक प्रत्यय 'आम्' परे होने पर इगन्त अङ्ग के अन्त्य अच्–ऊकार के स्थान में गुण–ओकार होकर 'बो भो आम् लिट्' एवं '२२–एचोऽयवायावः' से भकारोत्तरवर्ती ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश होकर 'बोभ् अव् आम् लिट्' = 'बोभवाम् लिट्' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '४७१–आमः' से 'आम्' से पर 'लिट्' का लुक् (लोप) होकर 'बोभवाम्' रूप और '४७२–कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से 'आम्' प्रत्यय के पश्चात् 'कृ' के अनुप्रयोग से

१. देखिए सूत्र संख्या '४६९–आयादयः०' की वृत्ति।

'बोभवाम् कृ लिट्' रूप बनता है। अब '३८२–तान्येकवचन०' से लिट् के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' (ति) होकर 'बोभवाम् कृ ति' रूप और '३९२–परस्मैपदानां०' से 'तिप्' (ति) के स्थान में 'णल्' (अ) होने पर 'बोभवाम् कृ अ' रूप बनेगा। इसके बाद '३९४–लिटि धातोरनभ्यासस्य' से 'कृ' धातु का द्वित्व होकर 'बोभवाम् कृ कृ अ' रूप और '४७३–उरत्' से अभ्याससंज्ञक पूर्व 'कृ' के ऋकार के स्थान में अकार (रपर) होकर 'बोभवाम् क् अर् कृ अ' रूप बनता है।[1] इस स्थिति में '३९६–हलादि: शेष:' से अभ्यास संज्ञक 'क् अर्' के रेफ का लोप होकर 'बोभवाम् क् अ कृ अ' रूप एव '४५४–कुहोश्चु:' से अभ्यास के ककार के स्थान में चकार होकर 'बोभवाम् च् अ कृ अ' रूप बनेगा। फिर '१८२–अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय–'णल्' (अ) परे होने से ऋकार के स्थान में वृद्धि-आकार की प्राप्त होती है। आकार '२९-उरण् रपर:' से रपर हो जाता है। इस स्थिति में रूप बनता है—'बोभवाम् च् अ क् आर् अ'। इसके बाद '७८–नश्चापदान्तस्य०' से मकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'बोभवां च् अ क् आर् अ' रूप बनने पर '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार के स्थान में चकार का सवर्ण अनुनासिक ञकार होकर 'बोभवाञ् च् अ क् आर् अ' = 'बोभवाञ्चकार' रूप सिद्ध होता है।

४. बोभवीति

यह यङ्लुगन्त 'भू' धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। रूप संख्या-१ की प्रक्रिया के समान 'बो भू' रूप सिद्ध होकर '४६८–सनाद्यन्ता धातव:' से 'बो भू' की धातु संज्ञा होने पर लट्-लकार में 'बो भू लट्' रूप बनेगा। फिर '३८२–तान्येकवचन०' से लट् के स्थान में परस्मैपदप्रत्यय 'तिप्' (ति) होकर 'बो भू ति' रूप बनने पर '३८७-कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) प्रत्यय होकर 'बो भू अ ति' रूप बनता है। इसके बाद '५५२–अदिप्रभृतिभ्य: शप्' से अदादि–यङ्लुगन्त धातु 'बो भू' से पर शप् (अ) का लोप होकर 'बो भू ति' रूप बनेगा।[2] अब '७१९–यङो वा' से 'ति' को विकल्प से 'ईट्' (ई) आगम होकर 'बो भू ई ति' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से सार्वधातुक तिङ् 'तिप्' परे होने से इगन्त अङ्ग 'बो भू' के ऊकार के स्थान में गुण–ओकार होकर 'बो भो ई ति' रूप बनेगा।[3] तब '२२–एचोऽयवायाव:' से भकारोत्तरवर्ती ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश होकर 'बो भ् अ व् ई ति' = 'बोभवीति' रूप सिद्ध होता है।

---

१. अकार '२९–उरण् रपर:' से रपर होता है।

२. अदादिगण में 'चर्करीतञ्च' पाठ आया है। 'चर्करीत' का अर्थ 'यङ्लुगन्त' होता है। इस प्रकार यङ्लुगन्त धातु अदादि गण की हुई।

३. यद्यपि 'बो भू ई ति' रूप में 'भू' धातु से सार्वधातुक तिङ् (तिप्) परे होने

नामधातु-प्रकरण

१. इदामति[1]

यह क्विवन्त 'इदम्' नामधातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। पहले 'इदम्' प्रातिपदिक से 'सर्वप्रातिपादिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' से आचार अर्थ में विकल्प से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'इदम् क्विप्' = 'इदम्' रूप बनता है।[2] अब '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षम्' के बल से क्विवन्त 'इदम्' की '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा हुई। तब लट्–लकार में धातु से 'लट्' होकर 'इदम् लट्' रूप बनने पर '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'इदम् ति' रूप बनता है। इसके पश्चात् '२८७–कर्तरि शप्' द्वारा धातु से 'शप् (अ) होकर 'इदम् अ ति' रूप एवं '७२७–अनुनासिकस्य०' से अनुनासिकान्त–मकारान्त 'इदम्' की उपधा–दकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में दीर्घ आकार होकर 'इदाम् अति' = 'इदामति' रूप सिद्ध हुआ।

२. पुत्रीयति[3]

यह क्यजन्त नामधातु 'पुत्रीय' का लट्-लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। "आत्मनः 'पुत्रम्' इच्छति" वाक्य ही 'पुत्रीयति' पद का विग्रह है। यहाँ पुत्र–जो इच्छा का विषय है–अपना होना चाहिये। 'अपना' एवं 'इच्छा' भाव को व्यक्त

के कारण '४४०–भूसुवोस्तिङि' से गुण का निषेध प्राप्त था किन्तु सूत्र 'दाधर्ति बोभूतु तेतिक्ते०' (अष्टाध्यायी–७।४।६५—यह सूत्र लघुसिद्धान्तकौमुदी में नहीं प्राप्त है अत एव सूत्र संख्या नही दी गई है) से उक्त सूत्र के गुण-निषेध का बाध हो गया। 'दाधर्ति०' सूत्र छन्द के प्रसंग में 'भू' को यङ् लुक् में गुण निषेध का निपातन (नियम-विरुद्ध शब्दरूप) करता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि भाषा में यङ्लुक्–प्रसंग में प्रकृत गुण-निषेध नहीं होता है।

१. 'इदमति' पद का विग्रह है—'इदमिवाचरति' अर्थात् 'इसके समान आचरण करता है।'

२. 'क्विप्' प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो जाता है। '१२६–लशक्वतद्धिते' से ककार का, '१–हलन्त्यम्' से पकार का, '२८–उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इकार का इत् होकर और '३०३–वेरपृक्तस्य' से वकार का लोप होता है।

३. 'पुत्रीयति' पद का अर्थ है—'आत्मनः पुत्रमिच्छति' अर्थात् अपने पुत्र को चाहता है।

करने वाला प्रत्यय 'क्यच्' होता है, अत एव '७२०–सुप आत्मनः क्यच्' से 'पुत्र अम्' सुवन्त से 'क्यच्' (य) प्रत्यय होकर 'पुत्र अम् य' रूप वनता है। अव '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'पुत्र अम् य' की धातु संज्ञा हुई। इसके बाद '७२१–सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' से धातु–'पुत्र अम् य' के अवयव 'सुप्'–'अम्' का लोप होकर 'पुत्र य' रूप वनेगा। तव '७२५–क्यचि च' से 'क्यच्' प्रत्यय परे होने के कारण अकार के स्थान पर ईकार होकर 'पुत्री य' रूप होकर 'लट्' लकार में 'पुत्रीय लट्' रूप बनता है। इसके वाद रूप संख्या–१ की भाँति 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) एवं 'शप्' (अ) होकर 'पुत्रीय अ ति' रूप वनेगा। यहाँ फिर '२७४–अतो गुणे' से दोनों अकारों के स्थान पर पररूप–'अ' होकर 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है।

३. समिधिता (समिध्यिता)

यह क्यजन्त नाम-धातु–'समिध्य' का लुट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। 'समिधिता' पद का विग्रह है–'आत्मनः समिधम् इच्छति'। उक्त विग्रह में 'समिध् अम्' सुवन्त है। यहाँ '७२०–सुप आत्मनः क्यच्' से इच्छार्थ में 'समिध् अम्' सुवन्त से 'क्यच्' (य) प्रत्यय होकर 'समिध् अम् य' रूप वनता है। फिर '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'समिध् अम् य' की धातु संज्ञा होने पर '७२१–सुपो धातुप्रतिपदिकयोः' से धातु–'समिध् अम् य' के अवयव सुप्–अम् का लोप होकर 'समिध् य' = 'समिध्य' रूप वनेगा। तव 'लुट्'–लकार में 'समिध्य लुट्' रूप और '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष-एकवचन परस्मैपद में 'लुट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) प्रत्यय होकर 'समिध्य ति' रूप वनता है। इसके वाद '४०३–स्यतासी०' द्वारा धातु से 'तासि' (तास्) प्राप्ति होकर 'समिध्य तास् ति' रूप एवं '४०५–लुटः प्रथमस्य०' से 'तिप्' (ति) के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होने पर 'समिध्य तास् आ' रूप वनेगा। फिर '२४२–टेः' से डित्–'डा' (आ) परे होने के कारण टि–'आस्' का लोप होकर 'समिध्य त् आ' रूप और '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक प्रत्यय 'तासि' (तास्) को इट् (इ) आगम होकर 'समिध्य इ त् आ' रूप वनता है। ऐसी स्थिति में '७२४–क्यस्य विभाषा' से हल्–धकार से पर क्यच्–'य' का विकल्प से लोप प्राप्त होता है। यहाँ '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से 'य' के अन्त्य-अल्–अकार का लोप प्राप्त हो रहा था, किन्तु इसे वाध कर '७२–आदेः परस्य' से 'य' के आदि अल्–'य्' का लोप हुआ। तव रूप वनता है—'समिध् अ इ त् आ।' वाद में '४७०–अतो लोपः' से अकार का लोप होकर 'समिध् इत् आ' = 'समिधिता' रूप सिद्ध हुआ।

'७२४–क्यस्य विभापा' से 'क्यच्' का लोप वैकल्पिक है अत एव लोपाभाव-प[illegible] 'समिध्यिता' रूप वनता है।

४. घटयति

यह णिजन्त नामधातु 'घटि' का लट्–लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का परस्मैपद-परक रूप है। 'घटयति' पद का विग्रह है–'घटं करोति' (अर्थात् घड़ा बनाता है।) यहाँ 'घट अम्'–इस सुवन्त से 'बनाने' अर्थ में 'तत्करोति तदाचष्टे' वार्तिक[1] से 'णिच्' (इ) प्रत्यय होकर रूप बनता है–'घट अम् इ'। इसके पश्चात् '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'घट अम् इ' की धातु संज्ञा होने पर '७२१–सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुप् 'अम्' का लोप होकर 'घट इ' रूप बनेगा। यहाँ '७२९--शब्दवैर०' सूत्र पर प्राप्त णिच् के वार्तिक 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुमिष्ठवच्च' से णिच् के इष्ठवत् होने से 'घट इ' की 'भ' संज्ञा हुई। तब '२३६–यस्येति च' से टकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'घट् इ' = 'घटि' रूप बनता है। लट्–लकार में धातु–'घटि' से 'लट्' होकर 'घटि लट्' रूप एवं '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद होने के कारण 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) आदेश होकर 'घटि ति' रूप बनेगा। यहाँ '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) होकर 'घटि अति' रूप और '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इगन्त अङ्ग–'घटि' के अन्त्य अल्–इकार को गुण–'ए' होकर 'घटे अति' रूप बनता है। तत्पश्चात् '२२–एचोऽयवायावः' से 'ए' के स्थान पर 'अय्' होकर 'घट् अय् अति' = 'घटयति' रूप सिद्ध होगा।

आत्मनेपद-प्रकरण

१. एदिधिषते

यह सन्नन्त 'एधिष्' (बढ़ने की इच्छा) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एक-वचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'एध्' धातु से '७०७–धातोः कर्मण०' से इच्छार्थ में 'सन्' (स) प्रत्यय होकर 'एध् स' रूप बनता है। यहाँ '४०४–आर्ध-धातुकं शेषः' से 'स' की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०४–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इसे ('स' को) 'इट्' (इ) आगम होकर 'ए ध् इ स' = 'एधि स' रूप बनेगा। फिर '७०६–सन्यङोः' से धातु के 'द्वितीय एकाच्'–'धि' का द्वित्व होकर 'एधि धि स' रूप एवं '३९९–अभ्यासे चर्च' से अभ्यास संज्ञक पूर्व 'धि' के धकार के स्थान में दकार होकर 'एदिधि स' रूप बनता है। तत्पश्चात् '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' के स्थान पर 'ष्' होकर 'एदिधिष' की धातु संज्ञा होती है। धातु से लट्–लकार में 'एदिधिष लट्' रूप बनने पर '७४२–पूर्ववत्सनः' से 'सन्' प्रत्यय से पूर्व आत्मनेपद 'एध्' धातु होने से सन्नन्त धातु 'एदिधिष' से आत्मनेपद प्रत्यय आयेगा। तब '३८२–तान्येक-

---

१. देखिए '७२९–शब्दवैर०' की वृत्ति।

वचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन आत्मनेपद की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'त' प्रत्यय होकर 'एदिधिष त' रूप और '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) होकर 'एदिधिष अ त' रूप बनता है। इसके बाद '२७४–अतो गुणे' से षकारोत्तरवर्ती अकार से पर गुण–अकार होने से दोनों के स्थान में पररूप अकार होकर 'एदिधिष त' बनेगा। यहाँ '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित्–लट्-लकार के स्थान में आये हुए आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की टि–अकार के स्थान में एकार होकर 'एदिधिषते' रूप सिद्ध होता है।

२. निविविक्षते

यह सन्नन्त 'नि'–पूर्वक 'विविक्ष' (प्रवेश करने की इच्छा) धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'नि' पूर्वक 'विश्' धातु से 'सन्' (स) प्रत्यय होने पर 'निविश् स' रूप बनता है। यहाँ '७४२-हलन्ताच्च' से इकारोत्तर हल् 'श्' से पर 'स' (सन्) की 'कित्' संज्ञा हो जाती है। अत एव '४५१–पुगन्तलघूपधस्य च' से होने वाले गुण का निषेध '४३३-ग्क्ङिति च' से हो गया। तब '७०६–सन्यङोः' से धातु का द्वित्व होकर 'निविश् विश् स' रूप एवं '३९६–हलादिः शेषः' से अभ्यास-संज्ञक पूर्व–'विश्' के अनादि हल् 'श्' का लोप होकर 'नि वि वि श् स' रूप बनता है। इसके बाद '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' से शकार के स्थान पर षकार होकर 'निविविष् स' रूप एवं '५४८–षढोः कः सि' से 'स्' परे होने के कारण 'ष्' के स्थान पर 'क्' होकर 'निविविक् स' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति में '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से 'क्' ककार से पर प्रत्ययावयव–सकार को षकार होकर 'निवि-विक् ष' = 'निविविक्ष' रूप बनता है। अब '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'निविविक्ष' की धातु संज्ञा होती है। यहाँ '७४२–पूर्ववत्सनः से आत्मनेपद प्रत्यय ही आयेगा। शेष प्रक्रिया रूप संख्या-१ ('एदिधिषते') के समान होकर 'निविविक्षते' रूप सिद्ध होता है।

३. निविशते

यह 'नि'–उपसर्गपूर्वक 'विश्' (प्रवेश करना) धातु का लट्–लकार में प्रथम-पुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। मूल रूप है—'नि विश् लट्'। यहाँ '७३३–नेर्विशः' से 'नि' उपसर्गपूर्वक 'विश्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय का विधान होने से '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'त' प्रत्यय होकर 'निविश् त' रूप बनता है। इसके बाद '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) प्रत्यय होकर निविश् अ त' रूप एवं '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित्–लट् लकार के स्थान में आये हुये आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की टि-अकार के स्थान में एकार होकर 'निविश् अ ते' = 'निविशते' रूप सिद्ध होगा।

परस्मैपद-प्रकरण

१. परिमृषति

यह 'परि' उपसर्ग–पूर्वक 'मृष्' धातु का लट्–लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन का परस्मैपदपरक रूप है। सूत्र '७४८–परेर्मृषः' द्वारा 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'मृष्' धातु से परस्मैपद प्रत्यय का विधान किया गया है। अत एव 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'मृष्' धातु से लट्–लकार होने पर रूप बनेगा—'परिमृष लट्'। पुनः '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन परस्मैपद की विवक्षा में 'लट्' के स्थान पर 'तिप्' (ति) प्रत्यय होकर 'परिमृष् ति' रूप और '३८७–कर्तरि शप्' से धातु से 'शप्' (अ) होकर 'परिमृष् अ ति' = 'परिमृषति' रूप सिद्ध हुआ।

भावकर्म-प्रक्रिया

१. अन्वतप्त

यह 'अनु' पूर्वक 'तप्' धातु का कर्मवाच्य मे लुङ्–लकार के प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'अनु' पूर्वक 'तप्' धातु से कर्म अर्थ में लुङ्–लकार होने पर 'अनु तप् लुङ्' रूप बनता है फिर '७१५–भावकर्मणोः' से लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय का विधान होने पर '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'अनु तप् त' रूप होता है। अब '४२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग 'तप्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अनु अ तप् त' रूप एवं '१५-इको यणचि' से उकार के स्थान पर वकार होकर 'अ न् व् अ त प् त' रूप बनेगा। ऐसी स्थिति होने पर '४३७–च्लि लुङि' से लुङ्–'त' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अन् व् अ तप् च्लि त' रूप बनता है। अब यहाँ '७५४–भूचिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' आदेश हो रहा था, किन्तु '७५६–तपोऽनुतापे च' से उसका निषेध हो गया। तब '४३८–च्लेः सिच्' से 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) होकर 'अन् व् अ तप् स् त' रूप बनता है। एतदनन्तर '४७८–झलो झलि' से झल्–'प्' से पर 'स्' का (झल्–'स्' पर होने से) लोप होकर 'अन् व् अ तप् त' = 'अन्वतप्त' रूप सिद्ध हुआ।

२. अभञ्जि

देखिये पद संख्या–३ की रूप-सिद्धि।

३. अभाजि (अभञ्जि)

ये 'भञ्ज्' (तोड़ना) धातु के कर्मवाच्य में लुङ्–लकार के प्रथमपुरुष–एकवचन के वैकल्पिक रूप है। पहले 'भञ्ज्' धातु से कर्म अर्थ में लुङ्-लकार होने पर 'भञ्ज्

लुङ्' रूप बनता है। यहाँ '७५१–भावकर्मणोः' से 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय का विधान होता है, अत एव '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'भञ्ज् त' रूप बनेगा। तब '४२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग–'भञ्ज्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अभञ्ज् त' रूप एवं '४३७–च्लि लुङि' से लुङ्–'त' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अभञ्ज् च्लि त' रूप बनता है। इसके पश्चात् '७५४–चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) आदेश होकर 'अभञ्ज् इ त' रूप एवं '७५८–भञ्जेश्च चिणि' से 'चिण्' (इ) परे होने से 'भञ्ज्' धातु के नकार (न्) का विकल्प से लोप होकर 'अ भ ज् इ त' रूप बनेगा। तब फिर '४५५–अत उपधायाः' णित्–'चिण्' (इ) प्रत्यय परे होने से उपधा (भज्–स्थ) अकार को वृद्धि–'आ' होकर 'अभाज् इ ति' रूप एवं '६४१–चिणो लुक्' से 'चिण्' (इ) से पर 'त' का लोप होकर 'अभाज् इ' = 'अभाजि' रूप सिद्ध होता है।

'७५८-भञ्जेश्च चिणि' द्वारा नकार का लोप वैकल्पिक है। अत एव लोपाभाव-पक्ष में उपधा में अकार न होने से उपधावृद्धि न हो सकेगी। इस प्रकार 'अभञ्जि' रूप बनेगा।

३. अभावि

यह 'भू' धातु का भाववाच्य में लुङ्–लकार के प्रथमपुरुप–एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। पहले 'भू' धातु से भाव अर्थ में लुङ्–लकार होने पर 'भू लुङ्' रूप बनता है। फिर '७५१–भावकर्मणोः' से 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपद-प्रत्यय (प्रथम पुरुप–एकवचन) 'त' होकर 'भू त' रूप एवं '६२३–लुङ्लङ्०' से अङ्ग–'भू' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अभू त' रूप बनेगा। यहाँ '४३७–च्लि लुङि' से लुङ्–'त' परे होने से धातु 'च्लि' होकर 'अभू च्लि त' रूप एवं '७५४–चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) होकर 'अ भू इ त' रूप बनता है। इसके बाद '१८२–अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय—'चिण्' (इ) परे होने से उकार के स्थान पर वृद्धि—औकार होकर 'अ भ् औ इ ति' रूप एवं '२२–एचोऽयवायावः' से 'औ' के स्थान पर 'आव्' होकर 'अ भ् आ व् इत' रूप बनेगा। तदनन्तर '६४१–चिणो लुक्' से 'चिण्' से पर 'त' का लोप होकर 'अ भ् आ व् इ' = 'अभावि' रूप सिद्ध होगा।

५. अलम्भि (अलाभि)

ये 'लभ्' धातु के कर्मवाच्य में 'लुङ्–लकार' के प्रथमपुरुष–एकवचन के वैकल्पिक रूप हैं। पहले 'लभ्' धातु से कर्म अर्थ में 'लुङ्' लकार होने पर 'लभ् लुङ्' रूप बनता है। यहाँ '७५१–भावकर्मणोः' से 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय का विधान होता है, अत एव '३८२–तान्येकवचन०' से प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'लभ् त' रूप बनता है। फिर '४२३–लुङ्लङ्०'

से अङ्ग 'लभ्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'अलभ त' रूप एवं '४३७–च्लि लुङि' से लुङ्–'त' परे होने के कारण धातु से 'च्लि' होकर 'अलभ् च्लि' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '७५६–चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) आदेश होकर 'अ ल भ् इ त' रूप एवं '६४१–चिणो लुक्' से 'चिण्' (इ) से पर 'त' का लोप होकर 'अ ल भ् इ' रूप बनता है। यहाँ '७५९–विभाषा चिण्णमुलोः' से 'लभ्' को विकल्प से 'नुम्' (न्) का आगम होता है। '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' के बल से नुमागम भकार के पूर्व होकर 'अ ल न् भ् इ' रूप एवं '७८–नश्चापदान्तस्य झलि' से नकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'अ लं भ् इ' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '७८–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार के स्थान पर 'भ्' का सवर्ण अनुनासिक 'म्' होकर 'अलम् भ् इ' = 'अलम्भि' रूप सिद्ध होता है।

'७५९–विभाषा चिण्णमुलोः' से 'लभ्' को विकल्प से नुम् (न) का आगम हुआ है। नुमागम न होने पर 'अ ल भ् इ' रूप बनने '४५५–अत उपधायाः' से णित्–'चिण्' (इ) प्रत्यय परे होने से उपधा ('लभ्'–स्थ) अकार को वृद्धि 'आ' होने पर 'अ ला भ् इ' = अलाभि' रूप सिद्ध होगा।

६. अलाभि

देखिए पद संख्या—५ की रूप सिद्धि।

७. इज्यते

यह 'यज्' धातु का कर्मवाच्य में लट्–लकार के प्रथमपुरुष–एकवचन का रूप है। पहले 'यज्' धातु से लट्–लकार होने पर 'यज् लट्' रूप बनता है। फिर '७५१—भावकर्मणोः' से 'लट्' के स्थान पर आत्मनेपद एकवचन–प्रथमपुरुष का प्रत्यय 'त' होकर 'यज् त' रूप बनेगा। यहाँ कर्मवाची सार्वधातुक 'त' परे होने के कारण धातु से '७५२–सार्वधातुके यक्' द्वारा 'यक्' (य) प्रत्यय हो 'यज् य त' रूप एवं '५४७–वचिस्वपि०' से 'यज्' के यकार के स्थान पर सम्प्रसारण 'इ' होकर 'इ अ ज् य न' रूप बनता है। इस स्थिति में '३५८–सम्प्रसारणाच्च' से इकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप इकार होकर 'इ ज् य त' रूप बनने पर '५०८–टित आत्मनेपदानां०' से टित् लकार लट्–स्थानीय आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की 'टि'–अकार को एकार हो 'इज् य त् ए' = 'इज्यते' रूप सिद्ध होगा।

८. भाविता

यह 'भू' धातु का भाववाच्य में लुट्–लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मनेपद-परक रूप है। पहले 'भू' धातु से भाव अर्थ में लुट् लकार होने पर 'भू लुट्' रूप बनता है। फिर '७५१–भावकर्मणोः' से आत्मनेपद प्रत्यय प्राप्त होने पर प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लुट्' के स्थान पर 'त' होकर 'भू त' रूप बनता है। इसके

पश्चात् '४०३–स्यतासी०' से 'तासि' (तास्) की प्राप्ति होने पर 'भू तास् त' रूप एवं '४०५–लुटः प्रथमस्य०' से 'त' के स्थान पर 'डा' (आ) आदेश होकर 'भू तास् आ' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः'[1] से 'तास्' को टि–'आस्' का लोप होकर 'भू त् आ' रूप एवं '७५३–स्यसिच्सीयुट्०' से 'तास्' (त्) को 'इट्' (इ) आगम होकर 'भू इ त् आ' रूप बनता है। अब '१८२–अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय[2]–'तासि' (इत्) परे होने से 'भू' उकार के स्थान पर वृद्धि–औकार होकर 'भ् औ इ त् आ' रूप एवं '२२–एचोऽयवायावः' से 'औ' के स्थान पर 'आव्' होकर 'भ् आव् इ त् आ' – 'भाविता' रूप सिद्ध होगा।

९. भाविषीष्ट

यह 'भू' धातु का भाववाच्य में आशीर्लिङ्–लकार के प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले 'भू' धातु से भाव अर्थ में आशीर्लिङ्–लकार होने पर 'भू लिङ्' रूप बनता है। फिर '७५१–भावकर्मणोः' से आत्मनेपदप्रत्यय प्राप्त होने पर प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' के स्थान पर 'त' होकर 'भू त' रूप एवं '५२०–लिङः सीयुट्' से 'लिङ्' के स्थान पर आये हुए आत्मनेपद प्रत्यय 'त' को 'सीयुट्' (सीय्) आगम होने पर 'भू सीय् त' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '५२३–सुट्तिथोः' से तकार को 'सुट्' (स्) आगम होकर 'भू सीय् स् त' रूप बनेगा। अब '४२९–लोपो व्योर्वलि' से 'वल्'—'स्' परे होने से कारण 'य्' का लोप होकर 'भू सीस् त' रूप बनने के पश्चात् '७५३–स्यसिच्सीयुट्०' द्वारा चिण्वद् व्यवहार्य प्रत्यय[3] 'सीयुट्' (सी) को 'इट्' (इ) आगम होकर 'भू इ सी स् त' रूप बनता है। तदनन्तर '१८२–अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय–'सीयुट्' (सी) परे होने से 'भू' के ऊकार के स्थान पर वृद्धि 'औ' होकर 'भ् औ इ सी स् त' रूप एवं '२२–एचोऽय-वायावः' से 'औ' के स्थान पर 'आव्' होकर 'भू आव् इ सी स् त' रूप बनेगा। तब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' से दोनों सकारों के स्थान पर षकारों के हो जाने पर 'भ् आ व् इ षी ष् त' रूप एवं '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार के स्थान पर टकार होकर 'भ् आव् इ षी ष् ट = 'भाविषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

१०. भूयते

यह 'भू' धातु का भाववाच्य में लट्-लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का आत्मने-पदपरक रूप है। 'भू' धातु से '३७३–लः कर्मणि च भावे०' से भावरूप अर्थ में

१. देखिये '४०५–लुटः प्रथमस्य०' की वृत्ति।

२. '७५३–स्यसिच्सीयुट्०' से यहाँ तासि प्रत्यय चिण्वद् होता है।

३. प्रकृत सूत्र से सीयुट् प्रत्यय 'चिण्वत्' व्यवहार में लाया जायगा। चिण् का णकार इत् है, अत एव 'सीयुट्' णित् हुआ।

लकार की प्राप्ति होती है। यहाँ वर्तमान काल में '३७४–वर्तमाने लट्' से 'लट्' लकार की ही प्राप्ति होगी, तब रूप बनेगा–'भू लट्'। इसके पश्चात् '७५१–भावकर्मणोः' से 'लट्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय प्राप्त होने पर प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'त' होकर 'भू त्' रूप बनेगा। तब '७५२–सार्वधातुके यक्' से सार्वधातुक प्रत्यय 'त' परे होने के कारण धातु से 'यक्' (य) होकर 'भू य त' रूप बनता है।[1] फिर '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित् लकार–लट् के स्थान में आये आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की टि–'अ' के स्थान में 'ए' होकर 'भूयते' रूप सिद्ध होगा।[2]

कर्मकर्तृ-प्रक्रिया

१. अपाचि

यह 'पच्' धातु का लुङ्–लकार में कर्मकर्तृदशा में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। पहले कर्ता अर्थ में 'पच्' धातु से लुङ्–लकार में 'पच् लुङ्' रूप बनता है। यहाँ '७६०–कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' से कर्मकर्ता कर्मवत् हो जाता है, अत एव '७५१–भावकर्मणोः' से 'लुङ्' के स्थान पर आत्मनेपदप्रत्यय होता है। इसी आधार पर '३८२–तान्येकवचन०' से लुङ् के स्थान पर प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदप्रत्यय 'त' होकर 'पच् त' रूप बनता है। ऐसी स्थिति में '७५२–सार्वधातुके यक्' से सार्वधातुकप्रत्यय 'त' परे होने से धातु से 'यक्' की प्राप्ति हो रही थी, किन्तु '४३७–च्लि लुङि' से उसका बाध होकर धातु से 'च्लि' होने पर 'पच् च्लि त' रूप बनेगा। इसके पश्चात् '७५४–चिण् भावकर्मणोः' से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) होकर 'पच् इ त' रूप एवं '४५५–अत उपधायाः' से णित्–'चिण्' (इ) प्रत्यय परे होने से उपधा–चकारपूर्वभावी अकार–को वृद्धि–'आ' होकर 'पाच् इ त' रूप बनता है। फिर '६४१–चिणो लुक्' से 'चिण्' (इ) से पर 'त' का लोप होकर 'पाच् इ' रूप एवं '४२३–लुङ् लङ्०' से अङ्ग–'पाच' को अट् (अ) आगम होकर 'अपाच् इ' = 'अपाचि' रूप सिद्ध होगा।

२. पच्यते फलम्

यहाँ 'पच्यते' पद 'पच्' धातु का लट्–लकार में कर्मकर्तृदशा में प्रथमपुरुष–एकवचन का आत्मनेपदपरक रूप है। यहाँ 'पच्' धातु अकर्मक होगी, क्योंकि 'फल'

१. देखिये '३८६–तिङ्शित्सार्वधातुकम्'।

२. यद्यपि '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'भू' के ऊकार को गुण प्राप्त था किन्तु चूँकि 'यक्' प्रत्यय् 'कित्' है, अत एव '४३३–क्ङिति च' से गुण का बाध हो गया।

जो स्वभावत: कर्म है कर्ता–रूप में आता है। 'काल फल को पकाता है' वाक्य में काल कर्ता है और फल कर्म। किन्तु यहाँ काल आदि कोई भी क्रिया के कर्ता–रूप में विवक्षित नहीं है। फल के अनायास पकने को द्योतित करने के लिये मानो 'फल स्वयं ही पक रहा है' कहा जाता है। इस प्रकार जिसे कर्म होना चाहिये वही कर्ता भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में सकर्मक धातु भी अकर्मक हो जाती है, क्योंकि कर्ता तो कर्म के रूप में आ जाता है फिर कर्म कैसे मिलेगा जिसके आधार पर धातु सकर्मक हो सके।

इस प्रकार के पहले कर्ता अर्थ में धातु से लट् लकार में 'पच् लट्' रूप बनता है। यहाँ '७६०–कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रिय:' से कर्मकर्ता कर्मवत् हो जाता है, अत एव '७५१–भावकर्मणो:०' से लट् के स्थान पर आत्मनेपद प्रत्यय होगा। इसी आधार पर '६८२–तान्येकवचन०' से 'लट्' के स्थान पर प्रथमपुरुष–एकवचन आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'पच् त' रूप बनता है। फिर '७५२–सार्वधातुके यक्' से सार्वधातुक प्रत्यय 'त' परे होने के कारण धातु से 'यक्' (य) होकर 'पच् य त' रूप एवं '५०८–टित आत्मनेपदानां टेरे' से टित् लकार–'लट्' के स्थान में आये हुये आत्मनेपद प्रत्यय 'त' की टि–'अ' के स्थान में 'ए' होकर 'पच् य ते' = 'पच्यते' रूप सिद्ध होगा।

लकारार्थ-प्रकरण

१. कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि

यहाँ 'गच्छामि' पद का अर्थ 'अभी अभी जाऊँगा, बस चला' आदि होगा, 'जाता हूँ' नहीं। सूत्र '७६४–वर्तमान–सामीप्ये वर्तमानवद् वा' से वर्तमान काल के प्रत्ययों का समीप भूतकाल एवं भविष्य काल के लिये प्रयोग होने का विधान है। इसलिये 'कदा गमिष्यसि ? (कब जाओगे)' के उत्तर में 'एष गच्छामि (बस जा रहा हूँ अर्थात् अभी-अभी चला जाऊँगा)' होता है। अर्थात् लृट् के स्थान पर लट् लकार होता है। वैकल्पिक होने के कारण जब 'लृट' का लट्-लकार नहीं होगा, तब प्रकृत में लृट् ही रहेगा। तब वाक्य का स्वरूप इस प्रकार होगा–'कदा गमिष्यसि ? एष गमिष्यामि।'

२. यजति स्म युधिष्ठिरः

इस वाक्य का हिन्दी में अर्थ है–'युधिष्ठिर ने यज्ञ किया' और संस्कृत में 'इयाज युधिष्ठिर:'। 'इयाज' 'यज' धातु के लिट्-लकार (प्रथमपुरुष–एकवचन) का रूप है, और 'यजति' का अर्थ है 'यज्ञ करता है।' किन्तु '७६३–लट् स्मे' द्वारा 'स्म' के योग में 'लिट्' अर्थ में 'लट्' लकार होगा तब 'यजति स्म' का अर्थ हुआ 'यज्ञ किया'। इस प्रकार 'यजति स्म युधिष्ठिर:' का अर्थ 'युधिष्ठिर ने यज्ञ किया' हुआ।

३. स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः

इस वाक्य का हिन्दी अनुवाद है 'कृष्ण ! तुम्हें याद आता है, हम लोग गोकुल में

रहते थे'। सामान्य नियम के अनुसार 'हम रहते थे' के लिये 'अवसाम' अर्थात् लङ्-लकार के रूप का प्रयोग किया जाता है, परन्तु '७६१—अभिज्ञावचने लृट्' के अनुसार स्मरणार्थक उपपद 'स्मरसि' के प्रयोग होने के कारण 'लङ्' के स्थान पर 'लृट्' 'वत्स्यामः' का प्रयोग हुआ। यहाँ 'वत्स्यामः' का अर्थ 'हम रहते थे' ही होगा, न कि 'रहेंगे'। इस प्रकार 'कृष्ण ! तुम्हें याद आता है, हम लोग गोकुल में रहते थे' अर्थ के वाचक संस्कृत वाक्य के रूप 'स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः'—की सिद्धि हुई।

कृदन्त-प्रकरण[1]

१. अपामार्गः

(एक पौधा-विशेष)—यहाँ 'अपमृज्यते अनेन' (जिस से शुद्धि होती है)—इस विग्रह में पहले '८७५—हलश्च' द्वारा 'अप'—उपसर्गपूर्वक 'मृज्' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' (अ) प्रत्यय होकर 'अप मृज् अ' रूप बनता है। फिर '७८२—मृजेर्वृद्धिः' से 'मृज्' के ऋकार के स्थान पर वृद्धि—'आर्' होकर 'अप म् आर् ज् अ' रूप बनने पर '७८१—चजोः कु०' से घित् प्रत्यय 'घञ् (अ) परे होने कारण जकार के स्थान पर गकार आदेश होकर 'अप म् आर् ग् अ' रूप बनेगा। तब 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६. ३. १२२) सूत्र से उपसर्ग—'अप्' के अन्त्य अकार को दीर्घ आकार हो 'अप् आ म् आर् ग् अ' = 'अपामार्ग' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त—पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान।

२. अवावा

(चोर) यहाँ 'ओणति' (हटाता है) अर्थ में 'ओण्' (ओणृ) धातु से पहले '७९९—अन्येभ्योऽपि०' द्वारा कर्ता में 'वनिप्' (वन्) प्रत्यय होकर 'ओण् वन्' रूप बनता है। फिर '८०४—विड्वनो०' से अनुनासिक णकार को आकार होकर 'ओ आ वन्' रूप बनने पर '२२—एचो०' से 'ओ' के स्थान पर अवादेश होकर 'अव् आ वन्' = 'अवावन्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया हलन्त—पुंल्लिङ्ग प्रातिपदिक 'राजन्' के प्रथमा-एकवचन 'राजा' के समान है।

३. आदृत्यः

(आदरणीय) यहाँ 'आदर्त्तुं योग्यः' (आदर करने के योग्य) अर्थ में 'आङ्' (आ) उपसर्ग पूर्वक 'दृ' (दृङ्) धातु से '७७६—एति०' द्वारा 'क्यप्' (य) प्रत्यय हो 'आ दृ य' रूप बनने पर पित् 'क्यप्' (य) परे होने के कारण '७७७—ह्रस्वस्य०' से 'दृ' को 'तुक्' (त्) आगम होता है। कित् होने से '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा द्वारा यह उसका

[1] इस प्रकरण के अन्तर्गत कृत्य-प्रक्रिया, पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त के रूपों को एक ही साथ दे दिया गया है।

अन्तावयव होगा, और इस प्रकार रूप वनेगा–'आ दृ त् य' = 'आदृत्य'। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

४. उखास्रत्

(हाँडी से गिरा हुआ)—यहाँ 'उखायाः स्रंसते' (हाँडी से गिरता है)—इस विग्रह में पञ्चम्यन्त 'उखा'-उपपद पूर्वक 'स्रंस्' धातु से '८०२-क्विप् च' द्वारा कर्ता अर्थ में 'क्विप्' (व्) प्रत्यय होकर 'उखा ङसि स्रंस् व्' रूप वनता है। तव '३०३–वेरपृक्तस्य' से अपृक्त वकार का लोप हो 'उखा ङसि स्रंस्' रूप वनने पर '१९०–प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से कित् प्रत्यय 'क्विप्' परे होने के कारण '३३४–अनिदितां०' से 'स्रंस्' की उपधा के नकार का लोप होकर 'उखा ङसि स्रस्' रूप वनेगा। इस स्थिति में '९५४–उपपदमतिङ्' से 'स्रस्' का उपपद 'उखा ङसि' से समास होता है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण पद '११७–कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञक वन जाता है। प्रातिपदिक होने के कारण '७२१–सुपो०' से यहाँ अवयवरूप सुप्–'ङसि' का लोप होकर 'उखा स्रस्' = 'उखास्रस्' रूप वनेगा। तव प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'उखास्रस् स्' रूप वनने पर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त 'स्' का लोप होकर 'उखास्रस्' रूप वनता है। यहाँ '२६२–वसुस्रंसु०' से अन्त्य सकार के स्थान पर दकार हो 'उखास्रद्' रूप वनने पर '१४६–वाऽवसाने' द्वारा दकार को विकल्प से तकार होकर 'उखास्रत्' रूप सिद्ध होगा।

५. उच्छूनः

(सूजा हुआ) यहाँ 'उद्' उपसर्ग पूर्वक 'श्वि' (टुओश्वि[1]) धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय प्राप्त होने पर '७७०–तयोरेव०' की सहायता से कर्म में 'क्त' (त) का विधान होकर, 'उद् श्वि त' रूप वनता है। पुनः '८२२-ओदितश्च' से निष्ठा–'क्त' (त) के तकार को नकार होकर 'उद् श्वि न् अ' रूप वनेगा। तव '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '६४७–वचिस्वपि०' की दृष्टि में नकारादेश असिद्ध होने के कारण कित् प्रत्यय 'क्त' (त) परे होने से धातु 'श्वि' के वकार के स्थान पर सम्प्रसारण उकार हो 'उद् श् उ इ न् अ' रूप वनने पर '२५८–सम्प्रसारणच्च' से 'उ' और 'इ' के स्थान पर पूर्वरूप–उकार एकादेश होकर 'उ द् श् उ न् अ' रूप वनता है। यहाँ '४०१–आर्धधातुकस्य०' से प्राप्त 'इट्' का 'श्वीदितो निष्ठायां' (७।२।१४) सूत्र द्वारा निषेध हो जाने पर '८१९–हलः' से सम्प्रसारण–'उ' को दीर्घ ऊकार होकर 'उद् श् ऊ न् अ' रूप वनेगा। फिर '७६–शश्छोऽटि' से शकार को छकार से 'उद् छ

---

१. धातु 'टुओश्वि' मे '४६२–आदिर्ञि०' से 'टु' और '२८–उपदेशेऽज०' से 'ओ' की इत्संज्ञा होकर उनका लोप हो जाने से केवल 'श्वि' ही शेष रह जाता है।

ऊ न् अ' रूप बनने पर '६२–स्तोः०' से दकार के स्थान पर जकार होकर 'उ ज् छ् ऊ न् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में खर्–छकार परे होने से '७४–खरि च' से जकार को चकार हो 'उ च् छ् ऊ न् अ' = 'उच्छून' रूप बनने पर '११७–कृत्तद्धित०' से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होगी। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

६. उप्त्रिमम्

(बोया हुआ)–यहाँ 'वप्' (डुवप्[1] बोना) धातु से भाव अर्थ में '८५७-ड्वितः०' से 'क्त्रि' (त्रि) प्रत्यय हो 'वप् त्रि' रूप बनने पर '५५७–वचिस्वपि०' से धातु 'वप्' के वकार के स्थान पर सम्प्रसारण–उकार होकर 'उ अ प् त्रि' रूप बनता है। तब '२५८–सम्प्रसारणाच्च' से 'उ' और 'अ'—दोनों के स्थान पर पूर्वरूप उकार हो 'उ प् त्रि' = 'उप्त्रि' रूप बनने पर '८५८–क्त्रेर्मम्०' से सिद्ध अर्थ में 'मम्' (म) प्रत्यय होकर 'उप्त्रि म' = 'उप्त्रिम' रूप बनेगा। शेश प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञान' के प्रथमा–एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

७. उष्णभोजी

(गर्म खानेवाला)—यहाँ 'उष्णं भोक्तुं शीलमस्यास्ति' (उष्ण भोजन करना इसका स्वभाव है)–इस विग्रह में द्वितीयान्त उपपद 'उष्ण अम्' रहने के कारण धातु 'भुज्' से '८०३–सुप्यजातौ०' द्वारा ताच्छील्य अर्थ में 'णिनि' (इन्) प्रत्यय हो, 'उष्ण अम् भुज् इन्' रूप बनता है। तब '४५१–पुगन्तलघूपधस्य च' से 'भुज्' धातु के इकार को गुण–ओकार होकर 'उष्ण अम् भ् ओ ज् इन्' रूप बनने पर चतुर्थ पद ('उखास्रत्') की भाँति उपपद–समास और सुप्–'अम्' का लोप हो 'उष्ण भ् ओ ज् इन्' = 'उष्णभोजिन्' रूप बनेगा। यहाँ प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'उष्णभोजिन् स्' रूप बनने पर '१७७-सर्वनामस्थाने०' से नकारान्त अङ्ग 'उष्णभोजिन्' को उपधा–इकार को दीर्घउकार हो 'उष्णभो ज् ई न् स्' = 'उष्णभोजीन् स्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त 'स्' का लोप होकर 'उष्ण-भोजीन्' रूप बनने पर '१८०–नलोपः०' से पदान्त नकार का लोप हो 'उष्णभोजी' रूप सिद्ध होगा।

८. एधितव्यम्

(बढ़ने योग्य) यहाँ 'एध्' धातु से भाव अर्थ में '७७१–तव्यत्तव्यानीयरः' सूत्र द्वारा 'तव्य' प्रत्यय हो 'एध् तव्य' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से वलादि

१. यहाँ '४६२–आदिर्ञि०' से 'डु' की इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है।

आर्धधातुक 'तव्य' को 'इट्' आगम हो[1] 'एध् इ तव्य' = 'एधितव्य' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–नपुंसक 'ज्ञान' के प्रथमा–एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

९. कालिम्मन्या

(अपने को काली समझने वाली स्त्री)–यहाँ 'आत्मानं कालीं मन्यते' (अपने को काली समझती है)—इस विग्रह में द्वितीयान्त सुबन्त 'कालीम्' (काली अम्) उपपद रहते '८०५–आत्ममाने०' द्वारा 'मन्' धातु से 'खश्' (अ) प्रत्यय हो 'काली अम् मन् अ' रूप बनता है। पुनः '३८६–तिङ्शित्०' से 'खश्' (अ) प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा होने के कारण उसके परे रहते धातु 'मन्' से '६२९–दिवादिभ्यः०' द्वारा 'श्यन्' (य) प्रत्यय होकर 'काली अम् मन् य अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२७४–अतो गुणे' से 'य'–स्थ अकार एवं तदनुवर्ती 'अ'–दोनों के स्थान पर पररूप–अकार हो 'काली अम् मन् य् अ' रूप बनने पर चतुर्थ पद ('उखास्रत्') की भाँति उपपद–समास और सुप्–'अम्' का लोप होकर 'काली मन् य्' रूप बनता है। तदनन्तर '८०६–खित्यन०' से खिदन्त उत्तरपद परे होने के कारण पूर्ववत् 'काली' के ईकार को ह्रस्व इकार होकर 'कालि मन् य् अ' = 'कालि मन्य' रूप बनने पर '७९७–अरुर्द्विष०' से पूर्वपद 'कालि' को 'मुम्' (म्) आगम हो 'कालिम् मन्य' रूप बनेगा। तब '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार होकर 'कालिं मन्य' रूप बनने पर '७९–अनुस्वारस्य' से पुनः अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण अनुनासिक मकार हो 'कालिम् मन्य' = 'कालिम्मन्य' रूप बनता है। यहाँ स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '१२४५–अजाद्य०' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'कालिम्मन्य आ' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से 'आ' एवं 'य'–स्थ अकार के स्थान पर दीर्घ–आकार होकर 'कालिम्मन् य् आ' = 'कालिम्मन्या' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'रमा' के समान है।

१०. कीर्णिः

(विक्षेप)—'कॄ' धातु से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '८६३–स्त्रियां०' से 'क्तिन्' (ति) प्रत्यय हो 'कॄ ति' रूप बनने पर '६६०–ॠत०' सूत्र से धातु 'कॄ' के ॠकार के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से 'इर्' आदेश होकर 'क् इर् ति' रूप बनता है। तदनन्तर '६१२–हलि च' से धातु की उपधा–इकार को दीर्घ ईकार हो 'क् ई र् ति' = 'कीर्ति' रूप बनने पर 'ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः' वार्तिक (८६३ वें सूत्रान्तर्गत) से 'क्तिन्' (ति) प्रत्यय के निष्ठावत् होने के कारण '८१६–रदाभ्यां०' द्वारा उसके तकार को नकार होकर 'कीर्नि' रूप बनेगा। तब '२६७–रषाभ्यां०' से

---

१. ध्यान रहे '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'इट्' 'तव्य' का आद्यवयव बनता है।

नकार को णकार होकर 'कीर्णि' रूप बनने पर प्रथमा-एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'कीर्णि स्' रूप बनता है। यहाँ '१०५-ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश हो 'कीर्णि र्' रूप बनने पर '९३-खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग होकर 'कीर्णिः' रूप सिद्ध होगा।

११. कुध्रः

(पर्वत) यहाँ 'कुं धरति' (पृथ्वी को धारण करता है)-इस विग्रह में द्वितीयान्त सुवन्त 'कुं' (कुअम्) उपपद पूर्वक 'धृ' धातु से 'मूलविभुजादिभ्यः कः' वार्तिक (७९१ वें सूत्रान्तर्गत) द्वारा 'क' (अ) प्रत्यय हो 'कु अम् धृ अ' रूप बनता है। तब चतुर्थ पद 'उखास्रत्' की भाँति उपपद-समास और सुप्-'अम्' का लोप होकर 'कु धृ अ' रूप बनने पर '१५-इको यणचि' से 'धृ' के ऋकार के स्थान पर रकार हो 'कु ध् र अ' = 'कुध्र' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

१२. कुम्भकारः

(कुम्हार)—यहाँ 'कुम्भं करोति' (घड़ा बनाता है)—इस विग्रह में द्वितीयान्त सुवन्त 'कुम्भं' (कुम्भ अम्) उपपद रहते 'कृ' धातु से '७९०-कर्मण्यण्' द्वारा 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'कुम्भ अम् कृ अ' रूप बनता है। पुनः '१८२-अचो ञ्णिति' से णित् प्रत्यय-'अण्' (अ) परे होने के कारण 'कृ' धातु के ऋकार के स्थान पर '२९-उरण् रपरः' की सहायता से वृद्धि 'आर्' हो 'कुम्भ अम् क् आर् अ' रूप बनने पर चतुर्थ पद ('उखास्रत्') के समान उपपद-समास और सुप्-'अम्' का लोप होकर 'कुम्भ क् आर् अ' = 'कुम्भकार' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

१३. क्षामः

(कृश)—यहाँ 'क्षै' धातु से भूतार्थ में '८१५-निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय हो 'क्षै त' रूप बनने पर '४९३-आदेच०' से 'क्षै' के अन्त्य एकार के स्थान पर आकार 'क्ष् आ त' रूप बनता है। तब '८२३-क्षायो मः' से 'क्षै' (क्ष् आ) धातु से पर निष्ठा के तकार के स्थान पर मकार होकर 'क्ष् आ म् अ' = 'क्षाम' रूप बनने पर विभक्ति कार्य हो अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान 'क्षामः' रूप सिद्ध होगा।

१४. खनित्रम्

(कुदाल)—'खनत्यनेन' (इसके द्वारा खोदता है)—इस विग्रह में 'खन्' धातु करण अर्थ में '८४६-र्अतिलू०' द्वारा 'इत्र' प्रत्यय हो 'खन् इत्र' = 'खनित्र' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञान' के प्रथमा-एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

१५. गृहम्

(घर)—यहाँ 'गृह्णाति धान्यादिकम्' (धान्य आदि ग्रहण करता है)—इस विग्रह में 'ग्रह्' धातु से कर्ता अर्थ में '७९८–गेहे कः' द्वारा 'क' (अ) प्रत्यय हो ग्रह् अ' रूप बनता है। तब कित् प्रत्यय 'क' (अ) परे होने के कारण '६३४–ग्रहिज्या०' से 'ग्रह्' धातु के रकार के स्थान पर संप्रसारण ऋकार होकर 'ग् ऋ अ ह् अ' रूप बनने पर '२५८–संप्रसारणाच्च' से 'ऋ' और 'अ' दोनों के स्थान पर पूर्व-रूप ऋकार आदेश हो 'ग् ऋ ह् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४५१–पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध अङ्ग 'ग् ऋ ह्' के ऋकार को गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु कित् प्रत्यय 'क' (अ) परे होने के कारण '४३३–क्ङिति च' द्वारा उसका निषेध हो जाता है तब परस्पर संयोग से 'गृह' रूप बनने पर अजन्त-नपुंसक 'ज्ञान' के प्रथमा–एकवचन 'ज्ञानम्' के समान 'गृहम्' रूप सिद्ध होगा।

१६. गोदः

(गाय देने वाला)—यहाँ 'गां ददाति' (गाय देता है)–इस विग्रह में द्वितीया-न्त सुवन्त 'गां' (गो अम्) उपपद रहते '७९१–आतोऽनुपसर्गे कः' द्वारा आकारान्त धातु 'दा' से 'क' (अ) प्रत्यय हो 'गो अम् दा अ' रूप बनता है। तदनन्तर चतुर्थ पद ('उखास्रत्') के समान उपपद-समास एवं सुप्–'अम्' का लोप होकर 'गो दा अ' रूप बनने पर कित् प्रत्यय 'क' (अ) परे होने के कारण '४८९–अतो लोप०' से 'दा' धातु के अकार का लोप हो 'गो द् अ' = 'गोद' रूप बनेगा। शेप प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

१७. ग्राही

(ग्रहण करने वाला)—यहाँ 'ग्रह्' धातु से कर्ता अर्थ में '७८६–नन्दि-ग्रहि०' द्वारा 'णिनि' (इन्) प्रत्यय हो 'ग्रह् इन्' रूप बनने पर णित् प्रत्यय 'णिनि' (इन्) परे होने के कारण '४५५–अत उपधायाः' से 'ग्रह्' की उपधा अकार को वृद्धि आकार होकर 'ग् र् आ ह् इन्' = 'ग्राहिन्' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया सातवें पद 'उष्णभोजी' के समान है।

१८. ग्लेयम्

(ग्लानि होनी चाहिए)—यहाँ 'ग्लै' धातु से भाव अर्थ में '७७३–अचो यत्' द्वारा 'यत्' (य) प्रत्यय हो 'ग्लै य' रूप बनने पर '४२२–आदे च०' से धातु 'ग्लै' के ऐकार को आकार होकर 'ग्ल् आ य' रूप बनता है। तब 'यत्' (य) परे होने के कारण '७७४–ईद्यति' द्वारा आकार को ईकार होकर 'ग्ल् ई य' रूप बनने पर '३८८–

सार्वधातुक०' द्वारा ईकार को गुण एकार हो 'ग्ल् ए य' = 'ग्लेय' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञान' के प्रथमा—एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

१९. चक्राणः

(करने वाला)—यहाँ 'कृ' धातु से लिट्-लकार में 'कृ लिट्' रूप बनने पर '८२८—लिटः कानज्वा' से 'लिट्' के स्थान पर 'कानच्' (आन) होकर 'कृ आन' रूप बनता है। तब '३९४—लिटि धातोः०' से धातु 'कृ' को द्वित्व हो 'कृ कृ आन' रूप बनने पर अभ्यास—पूर्ववत् 'कृ' के ऋकार के स्थान पर '४७३—उरत्' द्वारा 'अर्' होकर 'क् अर् कृ आन' रूप बनेगा। पुनः '३९८—हलादिः०' से अभ्यास के रकार का लोप होकर 'क् अ कृ आन' रूप बनने पर '४५५—कुहोश्चुः' से अभ्यासस्य ककार के स्थान पर चकार हो 'च् अ कृ आन' रूप बनता है। यहाँ '१५—इको यणचि' से ककारोत्तरवर्ती ऋकार को रकार हो 'च् अ क् र् आन' रूप बनने पर '१३७—रषाभ्यां नो०' से नकार के स्थान पर णकार होकर 'च् अ क् र् आण् अ' = 'चक्राण' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२०. चयः

(चयन)—यहाँ 'चि' धातु से भाव अर्थ में '८५५—एरच्' द्वारा 'अच्' (अ) प्रत्यय हो 'चि अ' रूप बनने पर आर्धधातुक 'अच्' (अ) प्रत्यय परे होने के कारण '३८८—सार्वधातुक०' द्वारा 'चि' के इकार को गुण—एकार होकर 'च् ए अ' रूप बनता है। तदनन्तर '२२—एचोऽयवायावः' से एकार के स्थान पर 'अय्' होकर 'च् अय् अ' = 'चय' रूप बनने पर विभक्ति कार्य हो अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान 'चयः' रूप सिद्ध होगा।

२१. चिकीर्षा

(करने की इच्छा)—यहाँ पहले 'कृ' धातु से इच्छा अर्थ में '७०५—धातोः कर्मणः०' से 'सन्' (स) प्रत्यय हो 'कृ स' रूप बनने पर 'सन्' (स) प्रत्यय के आर्धधातुक होने के कारण '४०१—आर्धधातुक०' से उसे 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु '७०९—इको झल्' से प्रकृत स्थल में 'सन्' की कित् संज्ञा हो जाने पर '४३३—ग्क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तब '७०८—अज्झनगमां०' से अजन्त धातु 'कृ' के ऋकार को दीर्घ ॠकार होकर 'कॄ स' रूप बनने पर '६६०—ॠत इद्धातोः' से ॠकार के स्थान पर '२९—उरण् रपरः' की सहायता से 'इर्' आदेश हो 'क् इर् स' रूप बनेगा। पुनः '७०६—सन्यङोः' से द्वित्व होकर 'क् इ र् क् इ र् स' बनने पर '३१८—हलादिः०' से अभ्यास (पूर्ववर्ती 'क् इ र्') के रकार का लोप होकर 'क् इ क् इर् स' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५४—कुहोश्चुः' से अभ्यास के ककार को चकार होकर 'च् इ क् इर् स' = 'चिकिर् स' रूप बनने पर '६१२—हलि च'

से धातु की उपधा—ककारोत्तरवर्ती इकार को दीर्घ—ईकार हो 'चि क् ई र् स' रूप बनेगा। यहाँ '९५०–आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्ययावयव सकार को मूर्धन्य षकार हो 'चि क् ई र् ष् अ' = 'चिकीर्ष' रूप बनने पर '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा होने के कारण '८६७–अ प्रत्ययात्' द्वारा स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय हो 'चिकीर्ष अ' रूप बनता है। तदनन्तर '४७०–अतो लोपः' से षकारोत्तरवर्ती आकार का लोप हो 'चिकीर्ष् अ' = 'चिकीर्ष' रूप बनने पर स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '१२४५–अजाद्य०' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष आ' रूप बनेगा। यहाँ '४२–अकः सवर्णे०' से षकारोत्तरवर्ती अकार एवं आकार—दोनों के स्थान पर दीर्घ–आकार होकर 'चिकीर्ष् आ' = 'चिकीर्षा' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'रमा' के समान है।

२२. चिकीर्षुः

(किसी काम को करने की इच्छा रखने वाला)–यहाँ पूर्व पद (२१–'चिकीर्षा') की भाँति 'कृ' धातु से 'सन्' प्रत्यय आदि होकर चिकीर्ष रूप बनने पर कर्ता अर्थ में '८४०–सनाशंस०' द्वारा 'उ' प्रत्यय हो 'चिकीर्ष उ' रूप बनता है। तदनन्तर '४६०–अतो लोपः' से षकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'चिकीर्ष् उ' = चिकीर्षु' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'हरिः' के समान विभक्ति कार्य हो 'चिकीर्षुः' रूप सिद्ध होगा।

२३. चेयम्

(चुनने योग्य)—यहाँ 'चि' (चिञ्–चुनना) धातु से भाव अर्थ में '७७३–अचो यत्' द्वारा 'यत्' (य) प्रत्यय हो 'चि य' रूप बनने पर आर्धधातुक 'यत्' (य) प्रत्यय परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुका०' से 'चि' के इकार को गुण—एकार होकर 'च् ए य' = 'चेय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञान' के प्रथमा–एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

२४. जनमेजयः

(राजा परीक्षित का पुत्र)—यहाँ 'जनमेजयति' (लोगों को कंपाता है)—इस विग्रह में द्वितीयान्त सुबन्त 'जनम्' (जन अम्) पूर्वक ण्यन्त धातु 'एजि'[1] से '७९६–एजेः खश्' द्वारा 'खश्' (अ) प्रत्यय होकर 'जन अम् एजि अ' रूप बनता है। तब '३८६–तिङ्शित्०' से शित् प्रत्यय 'खश्' (अ) की सार्वधातुक संज्ञा होने के कारण '२८७–कर्तरि शप्' से उसके परे रहते धातु से 'शप्' (अ) प्रत्यय होकर 'जन अम् एजि अ अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुका०' से 'एजि' के इकार के स्थान पर गुण–एकार हो 'जन अम् एज् ए अ अ' रूप बनेगा। फिर '२२–एचो०' से एकार को 'अय्'

---

१. यहाँ 'एज्' धातु से प्रेरणा अर्थ में '७००–हेतुमति च' द्वारा 'णिच्' (इ) प्रत्यय हो 'एज् इ' = 'एजि' रूप बनता है।

हो 'जन अम् एज् अय् अ अ' रूप वनने पर चतुर्थपद ('उखास्रत्') की भाँति उपपद-समास और सुप् 'अम्' का लोप होकर 'जन एज् अय् अ अ' रूप वनता है। इस स्थिति में '२७४–अतो गुणे' से दोनों प्रत्ययावयव अकारों के स्थान पर पररूप–अकार एकादेश हो कर 'जन एज् अय् अ' = जन एजय' रूप वनने पर खिदन्त 'एजय' परे रहते '७९७–अरुर्द्वि०' द्वारा अजन्त अङ्ग 'जन' को 'मुम्' (म्) आगम होगा। '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह 'मुम्' (म्) आगम 'जन' के अन्त्य अच्–अकार के वाद होता है और इस प्रकार रूप वनता है—'जन म् एजय' = 'जनमेजय'। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२५. जनार्दनः

(लोगों को मारने वाला)—यहाँ 'जनमर्दयति' (लोगों को मारता या दुःख पहुँचाता है)–इस विग्रह में द्वितीयान्त सुवन्त 'जनम्' (जन अम्) पूर्वक 'अर्द्' धातु से '७८६–नन्दिग्रहि०' द्वारा 'ल्यु' (यु) प्रत्यय हो 'जन अम् अर्द् यु' रूप वनने पर '७८५–युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान पर 'अन' होकर 'जन अम् अर्द् अन' रूप वनता है। तव चतुर्थ पद ('उखास्रत्') की भाँति उपपद–समास एवं सुप्–'अम्' का लोप होकर 'जन अर्द् अन' रूप वनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से 'जन' के नकारोत्तरवर्ती अकार और 'अद्' के पूर्ववर्ती अकार–दोनों के स्थान पर दीर्घ आकार हो 'जन् आ र्द् अन' = 'जनार्दन' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२६. जल्पाकः

(अधिक वोलने वाला)–यहाँ 'जल्प्' धातु से तच्छील अर्थ में '४३८–जल्प-भिक्ष० द्वारा 'पाकन्' प्रत्यय हो 'जल्प् षाकन्' रूप वनता है। तव 'षाकन्' के षकार का '८३९–षः प्रत्ययस्य' से तथा नकार की '१–हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से दोनों का लोप होकर 'जल्प् आक' = 'जल्पाक' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२७. जीनः

(वृद्ध)–यहाँ 'ज्या' (जीर्ण होना) धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'ज्या त' रूप वनने पर कित् प्रत्यय 'क्त' (त) परे होने के कारण '६३४–ग्रहिज्या०' से 'ज्या' के यकार को सम्प्रसारण इकार हो 'ज् इ आ त' रूप वनता है। तदनन्तर '२५८–सम्प्रसारणाच्च' से इकार और परवर्ती आकार–दोनों के स्थान पर पूर्वरूप–इकार एकादेश हो 'ज् इ त' रूप वनने पर '८१९–हलः' से जकारोत्तरवर्ती इकार को दीर्घ ईकार होकर 'ज् ई त' रूप वनेगा। पुनः '८१८–ल्वादिभ्यः' से 'क्त' (त) के तकार के स्थान पर नकार होकर 'ज् ई न् अ' = 'जीन'

रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'जीनः' रूप सिद्ध होता है।

२८. दत्तः

(दिया हुआ)—यहाँ 'दा' धातु से भूत अर्थ में '८१५—निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'दा त' रूप बनने पर '८२७—दो दद्घोः' से 'दा' को 'दद्' हो 'दद् त' रूप बनता है। तदन्तर '७४—खरि च' से 'दद्' के अन्त्य दकार को तकार होकर 'दत् त' = 'दत्त' रूप बनने पर अजन्त—पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'दत्तः' रूप सिद्ध होगा।

२९. दर्शकः

(देखने वाला)—यहाँ 'कृष्णं दर्शको याति' (कृष्ण को देखने वाला जाता है)—इस प्रयोग में भविष्यत् अर्थ में 'दृश्' धातु से '८४९—तुमुन्ण्वुलौ०' द्वारा 'ण्वुल्' (वु) प्रत्यय हो 'दृश् वु' रूप बनने पर '७८५—युवोरनाकौ' से 'वु' के स्थान पर 'अक' आदेश होकर 'दृश् अक' रूप बनता है। फिर '४५१—पुगन्त०' से 'दृश्' की उपधा ऋकार को '२९—उरण् रपरः' की सहायता से गुण—'अर्' हो 'द् अर् श् अक' = 'दर्शक' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त—पुल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

३०. दुष्करः

(कठिन) यहाँ 'दुस्' पूर्वक 'कृ' धातु से दुःखार्थ में '८७६—ईषददुस्सुषु०' द्वारा 'खल्' (अ) प्रत्यय होकर 'दुस् कृ अ' रूप बनने पर आर्धधातुक प्रत्यय 'खल्' (अ) परे होने के कारण '३८८—सार्वधातुका०' से 'कृ' धातु के ऋकार के स्थान पर '२९—उरण् रपरः' की सहायता से गुण—'अर्' हो 'दुस् क् अर् अ' रूप बनता है। तब '१०५—ससजुषो रुः' से रकार के स्थान पर विसर्ग (विसर्जनीय) होकर 'दुः क् अर् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य' (८।३।४१) से विसर्ग को षकार होकर 'दु ष् क् अर् अ' = 'दुष्कर' रूप बनने पर अजन्त—पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति—कार्य हो 'दुष्करः' रूप सिद्ध होगा।

३१. देयम्

(दान देने योग्य) यहाँ 'दा' धातु से भाव अर्थ में '७७३—अचो यत्' द्वारा 'यत्' (य) प्रत्यय हो 'दा य' रूप बनने पर '७७४—ईद्यति' से 'दा' के आकार को ईकार होकर 'द् ई य' = 'दीय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया २३ वें पद ('चेयम्') के समान।

३२. देवित्वा (द्यूत्वा)

यहाँ 'दिव्' (दिवु—जुआ खेलना, आदि) धातु से पूर्वकाल अर्थ में '८७९—समान-

कर्तृकयोः०' द्वारा 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय होकर 'दिव् त्वा' रूप वनने पर '८८२-उदितो वा' से उदित् धातु 'दिव्' के पश्चात् आने वाले 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय को विकल्प से 'इट्' (इ) आगम होकर 'दिव् इ त्वा'[1] रूप वनता है। तदनन्तर '८८०-न क्त्वा सेट्' द्वारा '४३३-ग्क्ङिति च' से प्राप्त गुणावृद्धि-निपेध का वाध हो जाने के कारण '४५१-पुगन्त०' से 'दिव्' की उपधा इकार को गुण--एकार होकर 'द् ए व् इ त्वा' = 'देवित्वा' रूप सिद्ध होता है।

स्मरण रहे कि 'इट्' आगम विकल्प से होता है, अतः उसके अभावपक्ष में 'दिव् त्वा' रूप वनने पर '८४३--च्छ्वोः०' से 'दिव्' के वकार स्थान पर 'ऊट्' (ऊ) होकर 'दि ऊ त्वा' रूप वनता है। तव '१५--इको यणचि' से दकारोत्तरवर्ती इकार को यकार हो 'द् य् ऊ त्वा' = 'द्यूत्वा' रूप सिद्ध होगा।[2]

३३. द्युतित्वा (द्योतित्वा)

यहाँ 'द्युत्' (चमकना) धातु से पूर्वकालिक अर्थ में '८७९--सामानकर्तृकयोः०' द्वारा 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय हो 'द्यु त् त्वा' रूप वनने पर '४०१--आर्धधातुकस्य०' से वलादि आर्धधातुक 'क्त्वा' (त्वा) को 'इट्' आगम होकर 'द्यु त् इ त्वा' रूप वनता है। इस स्थिति में '८८१-रलो व्युपधात्०' द्वारा '८८०--न क्त्वा सेट्' से प्राप्त कित्व-निषेध का वाध होकर 'क्त्वा' के विकल्प से कित् हो जाने के कारण '४५१--पुगन्त०' से प्राप्त गुणादेश को भी '४३३--ग्क्ङिति च' द्वारा निषेध हो जाता है, और इस प्रकार 'द्यु त् इत्वा' = 'द्यु तित्वा' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में '४५१--पुगन्त०' द्वारा 'द्यु त्' की उपधा-उकार को गुण--ओकार होकर 'द्य् ओ त् इ त्वा' = 'द्योतित्वा' रूप सिद्ध होगा।[3]

३४. द्यूत्वा

देखिये ३२ वें पद की रूप-सिद्धि।

३५. द्योतित्वा

देखिये ३३ वें पद की रूप-सिद्धि।

३६. द्रष्टुम्

(देखने के लिए)—यहाँ 'कृष्णं दुष्टुं याति' (कृष्ण को देखने के लिए जाता है)–इस प्रकार के प्रयोग में 'दृश्' धातु से भविष्यत् अर्थ में '८४९-तुमुन्ण्वुलौ०' द्वारा

---

१. ध्यान रहे '८५--आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'इट्' क्त्वा का आद्यवयव वनता है।

२. ३. यहाँ 'देवित्वा' 'द्यु तित्वा' आदि की '३७०--क्त्वातोसुन्०' द्वारा अव्ययसंज्ञा होने के कारण प्रथमा--एकवचन में प्राप्त सुप्--'सु' का '३७२--अव्ययात्०' से लोप हो जाता है।

'तुमुन्' (तुम्) प्रत्यय होकर 'दृश् तुम्' रूप बनने पर '६४४–सृजिदृशोः०' से 'दृश्' धातु को 'अम्' (अ) आगम होता है। '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह आगम 'दृश्' के ऋकार के पश्चात् होगा, और इस प्रकार रूप बनेगा–'दृ अ ष् तुम्'। तब '१५–इको यणचि' से दकारोत्तरवर्ती ऋकार के स्थान पर रकार हो 'द् र् अ श् तुम्' रूप बनने पर २०७–व्रश्च-भ्रस्ज०' से शकार को षकार होकर 'द् र् अ ष् तुम्' रूप बनता है। तदनन्तर '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार होकर 'द् र् अ ष् ट् उम्' = 'द्रष्टुम्' रूप सिद्ध होगा।[1]

३७. द्राणः

(बुरी तरह से भागा हुआ)—यहाँ 'द्रा' (भागना) धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय हो 'द्रा त' रूप बनने पर '८१–संयोगादेरातो०' से निष्ठा– 'क्त' (त) के तकार के स्थान पर नकार होकर 'द्रा न' रूप बनता है। तब '१३८–अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार होकर 'द्रा ण् अ' = 'द्राण' रूप बनने पर अजन्त–पुंलिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'द्राणः' रूप सिद्ध होगा।

३८. धूः

(धुरा)—यहाँ 'धुर्व्' धातु से तच्छील कर्ता अर्थ में '८४१–भ्राजभास०' द्वारा 'क्विप्' (व्) प्रत्यय होकर 'धुर्व् व्' रूप बनने पर '३०३-वेरपृक्तस्य' से अपृक्त वकार का लोप हो 'धुर्व्' रूप बनता है। तत्पश्चात् '८४२–राल्लोपः' से 'धुर्व' के वकार का लोप होकर 'धुर्' रूप बनने पर '११७–कृत्तद्धित०' से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होगी। इस स्थिति में प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'धुर् स्' रूप बनने पर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' द्वारा 'सु' (स्) का लोप होकर 'धुर्' रूप बनता है। तब '३५१–र्वोरुपधाया०' से उपधा–धकारोत्तरवर्ती उकार को दीर्घ ऊकार हो 'ध् ऊ र्' = 'धूर्' रूप बनने पर '९३–खरवसानयो०' से पदान्त को विसर्ग होकर 'धूः' रूप सिद्ध होगा।'

३९. नन्दनः

(आनन्द देने वाला)—यहाँ 'नन्द्' (टुनदि[2]–प्रसन्न होना) धातु से प्रेरणा अर्थ

---

१. '३६९–कृन्मेजन्तः' से 'द्रष्टुम्' की अव्यय-संज्ञा होने से पूर्ववत् सुप्–लोप हो जाता है।

२. 'टुनदि' में 'टु' की '४६२–आदिर्ञि०' से और इकार की '२८–उपदेशऽज०' से इत्संज्ञा होने के कारण उनका लोप हो 'नद्' शेष रह जाता है। यहाँ '४६३–इदितो नुम्' से 'नद्' के नकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् 'नुम्' (न्) होकर 'न न् द्' रूप बनने पर '७८–नश्चापदान्तस्य०' से नकार को अनुस्वार तथा '७९–अनुस्वारस्य०' से पुनः नकार हो 'न न् द्' रूप बनता है।

में '७००–हेतुमति च' द्वारा 'णिच्' (इ) प्रत्यय हो 'नन्द् इ' रूप बनने पर '४६८–सनाद्यन्ता०' से उसकी धातु संज्ञा होने के कारण '७८६–नन्दिग्रहि०' द्वारा कर्ता अर्थ में 'ल्यु' (यु) प्रत्यय होकर 'नन्द् इ यु' रूप बनता है। तदनन्तर '७८५–युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान पर 'अन' होकर 'नन्द् इ अन' रूप बनने पर '५२९–णेरनिटि' से 'णि'–'णिच्' (इ) का लोप हो 'नन्द् अन' = 'नन्दन' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

४०. निकायः

(निवास)—यहाँ 'नि'–पूर्वक 'चि' (चिञ्–चयन करना) धातु से निवास अर्थ में '८५४–निवासचिति०' द्वारा 'घञ्' (अ) प्रत्यय और धातु के चकार के स्थान में ककार होकर 'नि क् इ अ' रूप बनने पर '३८८–सार्वधातुकार्ध०' से इकार को गुण–एकार हो 'नि क् ए अ' रूप बनता है। तब '२२–एचो०' से एकार के स्थान पर 'अय्' हो 'नि क् अय् अ' = 'निकय् अ' रूप बनने पर ञित् 'घञ्' (अ) परे होने के कारण '४५५–अत उपधायाः' से उपधा–ककारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि आकार होकर 'नि क् आ य् अ' = 'निकाय' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

४१. पक्त्रिमम्

(पका हुआ)—यहाँ ड्वित् धातु 'पच्' (डुपचष्[1] पकाना) से भाव अर्थ में '८५७–ड्वितः क्त्रि' से 'क्त्रि' (त्रि) प्रत्यय हो 'पच् त्रि' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से 'पच्' के चकार को ककार होकर 'पक् त्रि' = 'पक्त्रि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६ वें पद के समान है।

४२. पण्डितम्मन्यः

(अपने को पण्डित माननेवाला)—यहाँ 'पण्डितमात्मानं मन्यते' (अपने को पण्डित मानता है)—इस विग्रह में द्वितीयान्त सुबन्त 'पण्डितम्' (पण्डित अम्) उपपद रहते 'मन्' धातु से ९ वें पद की भाँति 'खश्' प्रत्यय, 'श्यन्', पररूप, उपपद–समास, सुप्–लोप और 'मुम्' (म्) आगम होकर 'पण्डितम् मन्य' = 'पण्डितम्मन्य' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य हो 'पण्डितम्मन्यः' रूप सिद्ध होगा।

४३. पर्णध्वत्

(पत्ते से गिरा हुआ)—यहाँ 'पर्णात् ध्वंसते' (पत्ते से गिरता है)—इस विग्रह में पञ्चम्यन्त 'पर्णात्' (पर्ण ङसि) उपपद रहते 'ध्वंस्' धातु से कर्ता अर्थ में

---

१. यहाँ '४६२–आदिर्ञि०' से 'डु' इत्संज्ञक है। पकार की '१–हलन्त्यम्' से और चकारोत्तरवर्ती अकार की '२८–उपदेशेऽज०' से इत् संज्ञा हो जाती है।

'८०२–क्विप् च' द्वारा 'क्विप्' (व्) प्रत्यय होकर 'पर्ण ङसि ध्वंस' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया चतुर्थ पद के समान है।

४४. पवित्रम्

(पवित्र, कुशनिर्मित)—यहाँ 'पू' (पूङ्–शुद्ध करना) धातु से संज्ञा अर्थ में '८४७–पुवः०' द्वारा 'इत्र' प्रत्यय हो 'पू इत्र' रूप बनने पर आर्धधातुक प्रत्यय 'इत्र' परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुक०' से 'पू' के ऊकार को गुण–ओकार होकर 'प् ओ इत्र' रूप बनता है। तब '२२–एचो०' से ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'प् अव् इत्र' = 'पवित्र' रूप बनने पर अजन्त–नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञान' के प्रथमा–एकवचन 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति–कार्य हो 'पवित्रम्' रूप सिद्ध होगा।

४५. पाकः

(पाक)—यहाँ 'पच्' (डुपचष्–पकाना) धातु से भाव अर्थ में '५८१–भावे' द्वारा 'घञ्' (अ) प्रत्यय होकर 'पच् अ' रूप बनने पर ञित् प्रत्यय 'घञ्' (अ) परे होने के कारण '४५५–अत उपधायाः' से 'पच्' की उपधा–अकार को वृद्धि आकार हो 'प् आ च् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '७८१–चजोः कु०' से चकार के स्थान पर ककार हो 'प् आ क्' = 'पाक' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'पाकः' रूप सिद्ध होगा।

४६. पायं पायम्

(पी पी कर)—यहाँ 'पा' धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में '८८५–आभीक्ष्ण्ये०' द्वारा 'णमुल्' (अम्) प्रत्यय हो 'पा अम्' रूप बनने पर णित् प्रत्यय 'णमुल्' (अम्) परे होने के कारण '७५७–आतो युक्०' से 'पा' धातु के 'युक्' (य्) आगम होकर 'पा य् अम्'[1] = 'पायम्' रूप बनता है। तदनन्तर '८८६–नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व हो 'पायम् पायम्' रूप बनने पर '७८–नश्चापदान्तस्य०' से प्रथम 'पायम्' के मकार को अनुस्वार होकर 'पायं पायम्' रूप बनेगा। यहाँ '११७–कृत्तद्धित०' से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में सुप्–'सु' (स्) होकर 'पायं पायम् स्' रूप बनता है। इस स्थिति में '३६६–कृन्मेजन्तः से 'पायं पायम्' की अव्यय संज्ञा होने के कारण '३७२–अव्ययात्०' द्वारा सुप्—'सु' (स्) का लोप हो 'पायं पायम्' रूप सिद्ध होता है।

४७. प्रकृत्य

(प्रारम्भ करके)–यहाँ 'कृ' धातु से पूर्वकालिक अर्थ में '८७९–समानकर्तृकयोः०' द्वारा 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय होकर 'कृ त्वा' = 'कृत्वा' रूप बनने पर 'प्र' उपसर्ग के साथ '९४९–कुगतिप्रादयः' से समास हो प्रकृत्वा रूप बनता है। तब '८८४–समासेऽ-

नञ्०' से 'क्त्वा' (त्वा) के स्थान पर 'ल्यप्' (य) हो 'प्र कृ य' रूप बनने पर '७७७–ह्रस्वस्य पिति०' द्वारा 'प्रकृ' को 'तुक्' (त्) आगम होकर 'प्रकृत् य'[1] = 'प्रकृत्य' रूप बनेगा। यहाँ '३७०–क्त्वातोसुन्०' से 'प्रकृत्य' की अव्यय संज्ञा होने के कारण पूर्वपद (४५) की भाँति सुप्–लोप हो 'प्रकृत्य' रूप सिद्ध होता है।

४८. प्राट्

(प्रश्न करने वाला)—यहाँ 'क्विव्वचिप्रच्छि०' वार्तिक (८४२ वें सूत्र के अन्तर्गत) से 'प्रच्छ' धातु से 'क्विप्' (व्) प्रत्यय, दीर्घादेश और सम्प्रसारणाभाव हो 'प्र् आ च्छ् व्' रूप बनने पर '३०३–वेरपृक्तस्य' द्वारा अपृक्त 'व्' का लोप होकर 'प्र आ च्छ्' रूप बनता है। तत्पश्चात् '८४३–च्छ्वोः शूड्०' से 'च्छ्' के स्थान पर 'श्' होकर 'प्र आ श्' = 'प्राश्' रूप बनने पर प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'प्राश् स्' रूप बनेगा। पुनः '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से सकार का लोप हो 'प्राश्' रूप बनने पर '३०७–व्रश्चभ्रस्ज०' द्वारा शकार को षकार होकर 'प्राष्' रूप बनता है। इस स्थिति में '६७–झलां जशोऽन्ते' से षकार के स्थान पर डकार होकर 'प्राड्' रूप बनने पर '१४६–वाऽवसाने' द्वारा विकल्प से डकार को टकार हो 'प्राट्' रूप सिद्ध होता है।

४९. भावितः

(भावित)—यहाँ पहले 'भू' धातु से प्रेरणा अर्थ में '७००–हेतुमति च' द्वारा 'णिच्' (इ) प्रत्यय होकर 'भू इ' रूप बनने पर णित् प्रत्यय 'णिच्' (इ) परे होने के कारण '१८२–अचो ञ्णिति' से 'भू' के ऊकार को वृद्धि औकार हो 'भ् औ इ' रूप बनता है। फिर '२२–एचो०' से 'औ' के स्थान पर 'आव्' हो 'भ् आव् इ' = 'भावि' रूप बनने पर '४६८–सनाद्यन्ता०' से उसकी धातु संज्ञा होती है। परिणामतः भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'भावि त' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य०' से आर्धधातुक प्रत्यय 'क्त' (त) को 'इट्' (इ) आगम हो 'भावि इत'[2] रूप बनेगा। यहाँ '८२४–निष्ठायां सेटि' से 'णि'—वकारोत्तरवर्ती इकार का लोप होकर 'भ व् इ त' = 'भावित' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'भावितः' रूप सिद्ध होता है।

५०. भिन्न

(भिन्न)—यहाँ 'भिद्' (फाड़ना) धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय हो 'भिद् त' रूप बनने पर '८१६–रदाभ्यां०' से दकार तथा तकार—दोनों के स्थान पर नकार होकर 'भिन् न् अ' = 'भिन्न' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग रामः के समान है।

---

१. '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् आगम अङ्ग का अन्तावयव बनता है।
२. ८५–से इट् (इ) 'क्त' का आद्यवयव होता है।

५१. भुग्नः

(टेढ़ा)—यहाँ 'भुज्' (भुजो[1]–टेढ़ा करना) धातु में भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय प्राप्त होने पर '७७०–तयोरेव कृत्य०' की सहायता से कर्म में 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'भु ज् त' रूप बनता है। तब '८२०–ओदितश्च' से ओदित् धातु 'भुज्' से पर निष्ठा के तकार को नकार होकर 'भुज् न् अ' रूप बनने पर '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से नकारादेश असिद्ध होने के कारण '३०६–चोः कुः' द्वारा जकार के स्थान पर गकार हो 'भु ग् न् अ' = 'भुग्न' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

५२. महीध्रः

(पर्वत)—इसका विग्रह है—'महीं धरति' (पृथ्वी को धारण करता है)। शेष प्रक्रिया ११ वें पद के समान है।

५३. मार्ग्यः

(शोधनीय)—यहाँ 'मृज्' धातु से भाव अर्थ में '७७९–मृजेर्विभाषा' द्वारा प्राप्त वैकल्पिक 'क्यप्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में '७८७–ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' (य) होकर 'मृज् य' रूप बनता है। आर्धधातुक प्रत्यय 'ण्यत् (य) परे होने के कारण '४५१–पुगन्तलघूपधस्य०' से गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु '७८२–मृजेर्वृद्धिः' से उसका बाध होकर 'मृज्' के ऋकार के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से 'आर्' हो 'म् आर् ज् य' रूप बनता है। इस स्थिति में '७८१–चजोः कु०' से जकार को गकार हो 'म् आर् ग् य' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति कार्य होकर 'मार्ग्यः' रूप सिद्ध होगा।

'क्यप्'—पक्ष में '७७६–मृजेर्विभाषा' से 'क्यप्' (य) प्रत्यय होकर 'मृ ज् य' = 'मृज्य' रूप बनने पर पूर्ववत् विभक्ति कार्य हो 'मृज्यः' रूप सिद्ध होता है।

५४. मूलविभुजः

(रथ)–यहाँ 'मूलानि विभुजति' (जड़ों को तोड़ता है)–इस विग्रह में द्वितीयान्त सुबन्त 'मूलानि' (मूल शस्) उपपद रहते 'वि'–उपसर्ग पूर्वक 'भुज्' धातु से मूल-विभुजादिभ्यः कः' वार्तिक (७९१ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा 'क' (अ) प्रत्यय होकर 'मूल शस् विभुज् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में कित् प्रत्यय 'क' (अ) परे होने के कारण '४५१–पुगन्त०' से प्राप्त गुणादेश का निषेध हो जाने पर चतुर्थ पद ('उखास्रत्') की भाँति उपपद—समास और सुप्–'शस्' का लोप होकर 'मूल विभुज् अ' = 'मूलविभुज' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

---

१. २८–उपदेशेऽज०' से 'भुजो' का ओकार इत्संज्ञक है।

५५. मृज्यः

(साफ करने योग्य)—देखिये ५२ वें पद की रूप सिद्धि का उत्तरांश । स्मरण रहे कि यहाँ 'क्यप्' (य) प्रत्यय के कित् होने के कारण '४५१–पुगन्त०' से प्राप्त गुणादेश का '४३३–ग्क्ङति०' द्वारा निषेध हो जाता है ।

५६. यशस्करी

(यश का हेतु, विद्या आदि)—यहाँ 'यशः करोति' (यश करती है)—इस विग्रह में द्वितीयान्त सुबन्त 'यशः' (यशस् अम्) उपपद रहते 'कृ' धातु से हेतु अर्थ में '७९४–कृञो हेतु०' द्वारा 'ट' (अ) प्रत्यय हो 'यशस् अम् कृ अ' रूप बनता है । तदनन्तर आर्धधातुक प्रत्यय 'ट' (अ) परे होने के कारण '२८८–सार्वधातुक०' से 'कृ' धातु के ऋकार के स्थान पर '१९–उरण् रपरः' की सहायता से 'अर्' होकर 'यशस् अम् क् अर् अ' रूप बनेगा । इस स्थिति में चतुर्थ पद ('उखास्रत्') की भाँति उपपद-समास और सुप्–'अम्' का लोप होकर 'यशस् क् अर् अ' = 'यशस् कर' रूप बनने पर '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर 'रु' (र्) और '९३–खरवसानयोः०' से पुनः रकार को विसर्ग हो 'यशः कर' रूप बनता है । तब '९८–कुप्वोः०' से विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय प्राप्त होता है, किन्तु '७९५–अतः कृकमि०' से उसका बाध हो विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होकर 'यश स् कर' = 'यशस्कर' रूप बनता है । यहाँ '११७–कृत्तद्धित०' से 'यशस्कर' की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर स्त्रीत्व-विवक्षा में '१२४७–टिड्ढाण०' द्वारा 'ङीप्' (ई) होकर 'यशस्कर ई' रूप बनेगा । तत्पश्चात् '१५६–यचि भम्' से 'यशस्कर' की भ संज्ञा होने के कारण '२३६–यस्येति च' द्वारा उसके रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'यशस्कर् ई' = 'यशस्करी' रूप बनता है । इस स्थिति में प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'यशस्करी स्' रूप बनने पर '१६९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से ङचन्त 'यशस्करी' से पर 'स्' के सकार का लोप हो 'यशस्करी' रूप सिद्ध होगा ।

५७. रागः

(रङ्ग)–यहाँ 'रज्यतेऽनेन' (जिस से रंगा जाता है)—इस विग्रह में 'रञ्ज्' धातु से करण अर्थ में '८५२–अकर्तरि च०' द्वारा 'घञ्' (अ) प्रत्यय होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनने पर '८५३–घञि च०' से रञ्ज्' के नकार (ञकार) का लोप होकर 'रज् अ' रूप बनता है । तत्पश्चात् ञित् प्रत्यय 'घञ्' (अ) परे होने के कारण '४५५–अत उपधायाः' से 'रज्' की उपधा–रकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि आकार हो 'र् आज् अ' रूप बनने पर '७८१–चजोः कु०' से जकार के स्थान पर गकार 'र् आ ग् अ' = 'राग' रूप बनेगा । शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है ।

५८. रेट्

(हिंसक)—यहाँ 'रिष्' (मारना) धातु से '७९९–अन्येभ्योऽपि०' द्वारा 'विच्' (व्) प्रत्यय हो 'रिष् व्' रूप बनने पर '१०३–वेरपृक्तस्य' से अपृक्त वकार का लोप होकर 'रिष्' रूप बनता है। तब '१९०–प्रत्ययलोपे०' परिभाषा से आर्धधातुक प्रत्यय 'विच्' परे रहते '७५१–पुगन्त०' धातु की उपधा–रकारोत्तरवर्ती इकार को गुण-एकार हो 'र् ए ष्' = 'रेष्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '११७–कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'रेष् स्' रूप बनने पर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो:०' से सकार का लोप हो रेष्' रूप बनता है। तव '६७–झलां जशो०' से षकार के स्थान पर डकार हो 'रेड्' रूप बनने पर '१४६–वाऽवसाने' द्वारा विकल्प से डकार को टकार होकर 'रेट्' रूप सिद्ध होगा।

५९. रोट्

(हिंसक)—यहाँ भी पूर्वपद (५८) के समान 'रुष्' धातु से 'विच्' प्रत्यय आदि होकर 'रोट्' रूप सिद्ध होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ धातु की उपधा में उकार होने के कारण गुण–ओकार होगा।

६०. लव:

(कटाई)—यहाँ 'लू' (लूञ्–काटना) धातु से भाव अर्थ में '८५६–ऋदोरप्' द्वारा 'अप्' (अ) प्रत्यय हो 'लू अ' रूप बनने पर २० वें पद की भाँति गुण–ओकार एवं अव् आदेश आदि होकर 'लव:' रूप सिद्ध होता है।

६१. लवण:

(काटने वाला, नमक)—यहाँ 'लू' धातु से कर्ता अर्थ में '८८६–नन्दिग्रहि०' द्वारा 'ल्यु' (यु) प्रत्यय होकर 'लू यु' रूप बनने पर '७८५–युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान पर 'अन' हो 'लू अन' रूप बनता है। तदनन्तर आर्धधातुक प्रत्यय 'अन' परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुक०' से धातु 'लू' के ऊकार को गुण—ओकार हो 'ल् ओ अन' रूप बनने पर '२२–एचो०' से 'ओ' के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'ल् अव् अन' = 'लवन' रूप बनेगा। इस स्थिति में नन्द्यादिगण में पठित होने के कारण 'लवन' के नकार को निपातन से णकार होकर 'लवण' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'राम:' के समान विभक्ति-कार्य हो 'लवण:' रूप सिद्ध होता है।

६२. लवित्रम्

(काटने का साधन, चाकू आदि)—यहाँ 'लुनात्यनेन' (इससे काटता है)—इस विग्रह में 'लू' धातु से करण अर्थ में '८४६–अर्तिलू०' द्वारा 'इत्र' प्रत्यय हो 'लू इत्र' रूप बनता है। पुन: आर्धधातुक 'इत्र' परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुक०'

से धातु 'लू' के ऊकार के स्थान पर गुण–ओकार होकर 'ल् ओ इत्र' रूप बनने पर '२२–एचो०' से 'ओ' को 'अव्' हो 'ल् अव् इत्र' = 'लवित्र' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञान' के प्रथमा–एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

६३. लूनः

(कटा हुआ)—यहाँ 'लू' धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'लू त' रूप बनने पर '८१८–ल्वादिभ्यः' से 'क्त' (त) के तकार के स्थान पर नकार हो 'लू न् अ' = 'लून' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

६४. वशंवदः

(आज्ञाकारी)—यहाँ 'वशे वदति' (वश में बोलता है)—इस विग्रह में सप्तम्यन्त सुबन्त 'वशे' (वश ङि) उपपद रहते 'वद' धातु से '७९८–प्रियवशे०' द्वारा 'खच्' (अ) प्रत्यय हो 'वश ङि वद् अ' रूप बनने पर चतुर्थ पद (उखास्रत्) के समान उपपद–समास तथा सुप्–'ङि' का लोप होकर 'वश वद् अ' रूप बनता है। तब '७९२–अरुर्द्विष०' से खिदन्त 'वद् अ' परे होने के कारण 'वश' को मुम् (म्) आगम[1] होकर 'वश म् वद् अ' रूप बनने पर '७७–मोऽनुस्वारः' द्वारा मकार को अनुस्वार हो 'वशंवद् अ' = 'वशंवद' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

६५. वाहभ्रट्

(घोड़े पर से गिरा हुआ)—यहाँ 'वाहाद् भ्रंशते' (घोड़े पर से गिरता है)—इस विग्रह में पञ्चम्यन्त सुबन्त 'वाहात्' (वाह ङसि) उपपद रहते 'भ्रंश्' धातु से चतुर्थ पद की भाँति 'क्विप्' प्रत्यय, नकार–लोप, उपपद–समास एवं सुप्–लोप आदि होकर 'वाहभ्रश्' रूप बनने पर ४८ वें पद के समान शकार के स्थान पर षकार आदि हो 'वाहभ्रट्' रूप सिद्ध होता है।

६६. विघ्नः

(विघ्न)—यहाँ 'वि'–पूर्वक 'हन्' (मारना) धातु से भाव अर्थ में 'घञर्थे कविधानम्' वार्तिक (८५६ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा क (अ) प्रत्यय हो 'विहन् अ' रूप बनने पर '५०५–गमहन०' से 'हन्' की उपधा–अकार का लोप होकर 'विह् न् अ' रूप बनता है। तदनन्तर '२८७–हो हन्ते०' से हकार के स्थान पर घकार होकर

---

१. ध्यान रहे '२४०–मिदचो०' परिभाषा से 'मुम्' (म्) आगम 'वश' के अन्त्य अच्–शकारोत्तरवर्ती अकार के बाद आता है।

वि घ् न् अ' = 'विघ्न' रूप वनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'विघ्नः' रूप सिद्ध होगा ।

६७. विजावा

(अनेक रूपों में होने वाला)—यहाँ 'वि'–पूर्वक 'जन्' धातु से द्वितीय पद की भाँति 'वनिप्' प्रत्यय और अनुनासिक नकार को अकार होकर 'वि ज अ वन्' रूप वनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से जकारोत्तरवर्ती अकार तथा परवर्ती 'अ'–दोनों के स्थान पर दीर्घ आकार आदेश हो 'विज् आ वन्' = 'विजावन्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है ।

६८. विदन्

देखिये ६९ वें पद की रूप-सिद्धि ।

६९. विद्वान् (विदन्)

यहाँ 'वेत्ति' (जानता है)—इस विग्रह में 'विद् लट्' रूप वनने पर '८३१–लटः शतृः०' से 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' (अत्) हो 'विद् अत्' रूप वनता है। तब '८३३–विदेः शतु०' से 'शतृ' (अत्) को विकल्प से 'वसु' (वस्) होकर 'विद् वस्' = 'विद्वस्' रूप वनने पर प्रथमा–एकवचन मे 'सु' (स्) हो 'विद्वस् स्' रूप वनेगा । इस स्थिति में '२८९–उगिदचां०' सें 'विद्वस्' के अन्त्य अच्–वकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् 'नुम्' (न्) आगम हो 'विद्वन् स् स्' रूप वनने पर '३४२–सान्तमहतः०' द्वारा नकार की उपधा–वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'विद् व् आ न् स् स्' = 'विद्वान्स् स्' रूप वनता है। पुनः '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो.०' से 'सु' के सकार का लोप होकर 'विद्वान्स्' रूप वनने पर '२०–संयोगान्तस्य०' से अन्त्य सकार का लोप हो 'विद्वान्' रूप सिद्ध होता है ।

'वसु'–आदेश के अभावपक्ष में 'विद् अ त्' स्थिति होने पर सार्वधातुक प्रत्यय 'शतृ' (अत्) परे होने के कारण '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' (अ) प्रत्यय हो 'विद् अ अत्' रूप वनता है। पुनः 'विद्' धातु के अदादिगण में होने से उससे पर 'शप् (अ) का '५५२–अदिप्रभृतिभ्यः०' से लोप होकर 'विद् अत् = 'विदत्' रूप वनने पर पूर्ववत् नुम्–आगम, सु–लोप और संयोगान्त तकार का लोप हो 'विदन्' रूप सिद्ध होगा ।

७०. वृत्यः

(वर्तने योग्य)—यहाँ 'वरितुं योग्यः' (वरण करने योग्य)—इस अर्थ में 'वृत्' (वृत्–वरण करना) धातु से तृतीय पद की भाँति 'क्यप्' आदि होकर 'वृत्य' रूप सिद्ध होता है ।

७१. शप्यम्

(शाप देने योग्य)—यहाँ 'शप्तुं योग्यम्' (शाप देने योग्य)—इस अर्थ में 'शप्' धातु से '७७५–पोरदुपधात्' द्वारा 'यत्' (य) प्रत्यय हो 'शप् य' = 'शप्य' रूप बनने पर अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'शप्यम्' रूप सिद्ध होगा।

७२. शमित्वा (शान्त्वा)

यहाँ 'शम्' (शमु–शान्त करना) धातु से पूर्वकालिक अर्थ में '८७९–समानकर्तृकयोः०' द्वारा 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय होकर 'शम् त्वा' रूप बनने पर '८८२–उदितो वा' से 'क्त्वा' (त्वा) को विकल्परूपेण 'इट्' (इ) आगम हो 'शम् इ त्वा' = 'शमित्वा' रूप बनता है।

'इट्' के अभावपक्ष में 'शम् त्वा' स्थिति होने पर '७२७–अनुनासिकस्य०' द्वारा 'शम्' की उपधा–शकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार हो 'श् आ म् त्वा' बनता है। तब '७८–नश्चापदान्तस्य–' से मकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'श् आं त्वा' रूप बनने पर '७९–अनुस्वारस्य०' से अनुस्वार को परसवर्ण अनुनासिक नकार हो 'श् आन् त्वा' = शान्त्वा' रूप सिद्ध होगा।

ध्यान रहे दोनों ही स्थलों पर '३७०–क्त्वातोसुन्०' द्वारा अव्ययसंज्ञा होने के कारण प्रथमा–एकवचन में प्राप्त सुप्–'सु' का '३७२–अव्ययाद्०' द्वारा लोप हो जाता है।

७३. शयित्वा

(सो कर)—कहाँ 'शी' (शीङ्–सोना) धातु से '८७९–समानकर्तृकयोः०' द्वारा 'कत्वा' (त्वा) प्रत्यय हो 'शी त्वा' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्येड्०' से वलादि आर्धधातुक 'कत्वा' (त्वा) को 'इट्' आगम होकर 'शी इ त्वा' रूप बनता है। तब कित् प्रत्यय परे होने के कारण '४३३–ग्क्ङिति च' से प्राप्त गुण–निषेध का '८८०–न क्त्वा सेट्' द्वारा निषेध हो जाने पर '३८८–सार्वधातुका०' से 'शी' के ईकार के स्थान पर गुण–एकार हो 'श् ए इत्वा' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२२–एचो०' से एकार को 'अय्' होकर 'श् अय् इ त्वा' = 'शयित्वा' रूप सिद्ध होता है। पूर्ववत् अव्यय होने से यहाँ भी सुप्–लोप हो जाता है।

७४. शान्त्वा

देखिये ७२ वें पद की रूप-सिद्धि।

७५. शिष्यः

(शिक्षा देने योग्य)—यहाँ 'शासितुं योग्यः'—इस अर्थ में 'शास्' (शासु–

शिक्षा देना) धातु से '७७६–एतिस्तु०' द्वारा 'क्यप् (य) प्रत्यय होकर 'शास् य' रूप बनने पर हलादि कित् प्रत्यय 'क्यप्' (य) परे होने के कारण '७७६–शास इदङ्०' से 'शास्' की उपधा–आकार को ह्रस्व इकार हो 'श् इ स् य' रूप बनता है। तदनन्तर '५५४–शासिवसि०' से सकार के स्थान पर षकार हो 'श इ ष् य' = 'शिष्य' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'शिष्यः' रूप सिद्ध होगा।

७६. शुष्कः

(सूखा हुआ)—यहाँ 'शुष्' धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय हो 'शुष् त' रूप बनने पर '८२१–शुषः कः' से तकार के स्थान पर ककार होकर 'शुष् क् अ' = 'शुष्क' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

७७. सन् द्विजः

(श्रेष्ठ ब्राह्मण)—यहाँ 'अस्' (होना) धातु से 'लट्' हो 'अस् लट्' रूप बनने पर प्रथमान्त 'द्विजः' के साथ समानाधिकरण होने पर भी '८३१–लटः शतृ०' द्वारा 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' (अत्) होकर 'अस् अत्' रूप बनता है। तब सार्वधातुक प्रत्यय 'शतृ' (अत्) परे होने के कारण '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप् प्रत्यय होकर 'अस् अ अत्' रूप बनने पर 'अस्' के अदादिगण में होने से '५५२– अदि-प्रभृतिभ्यः०' द्वारा पुनः 'शप्' (अ) का लोप होकर 'अस् अत्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '५००–सार्वधातुक०' परिभाषा से 'शतृ' (अत्) प्रत्यय के ङिद्वत् होने से उसके परे रहते '५७४–श्नसोरल्लोपः' द्वारा 'अस्' के अकार का लोप होकर 'स् अत्' = 'सत्' रूप बनने पर ६९ वें पद के समान नुम्–आगम, सु–लोप और संयोगान्त तकार का लोप होकर 'सन्' रूप सिद्ध होता है।

७८. सरसिजम् (सरोजम्)

यहाँ 'सरसि जातम्' (तालाब में उत्पन्न हुआ)–इस विग्रह में सप्तम्यन्त 'सरसि' (सरस् ङि) उपपद रहते '८११–सप्तम्यां०' द्वारा 'जन्' धातु से 'ड' (अ) प्रत्यय होकर 'सरसि (सरस् ङि) जन् अ' रूप बनने पर '२९६–भस्य टेर्लोपः' से टि–'अन्' का लोप होकर 'सरसि ज् अ' रूप बनता है। तब चतुर्थ पद की भाँति उपपद–समास हो सुप्–'ङि' का लोप प्राप्त होने पर '८१२–तत्पुरुषे कृति०' द्वारा विकल्प से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में 'सरसि ज् अ' = 'सरसिज' रूप बनने पर अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति–कार्य हो 'सरसिजम्' रूप सिद्ध होगा।

सुप्–लोप पक्ष में 'ङि' का लोप होकर 'सरस् ज् अ' रूप बनने पर '१०५-ससजुषो

रु:' से पदान्त सकार[1] के स्थान पर 'रु' (र्) हो 'सरर् ज् अ' रूप बनता है। तदनन्तर '१०७–हशि च' से 'रु' (र्) को उकार हो 'सर उ ज् अ' रूप बनने पर '२७–आद् गुण:' से रकारोत्तरवर्ती अकार तथा तदनुवर्ती 'उ'–दोनों के स्थान पर गुण-ओकार होकर 'सर् ओ ज् अ' = 'सरोज' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

७९. सरोजम्

देखिये पूर्वपद (७८) की रूप–सिद्धि।

८०. सुगण्

(अच्छा गिनने वाला)—यहाँ 'सु'–पूर्वक 'गण्' धातु से '७९६–अन्येभ्योऽपि०' द्वारा 'विच्' (व्) प्रत्यय होकर 'सुगण् व्' रूप बनने पर '३०३–वेरपृक्तस्य' से अपृक्त वकार का लोप हो 'सुगण्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१९०–प्रत्ययलोपे०' परिभाषा की सहायता से '११७–कृत्तद्धित०' द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'सुगण् स्' रूप बनेगा। तब '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से 'सु' के सकार का लोप हो 'सुगण्' रूप सिद्ध होता है।

८१. सुपानः

(सरलता से पिया जाने वाला)—यहाँ 'सु'–पूर्वक 'पा' (पीना) धातु से सुखार्थ में '८७७–आतो युच्' द्वारा 'युच्' (यु) प्रत्यय हो 'सु पा यु' रूप बनने पर '७८५–युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान पर 'अन' होकर 'सु पा अन' रूप बनता है। तत्पश्चात् '४२–अक: सवर्णे०' से पकारोत्तरवर्ती आकार तथा 'अन' के प्रथम अकार–दोनों के स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'सु प् आ न' = 'सुपान' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'राम:' के समान विभक्ति–कार्य हो 'सुपान:' रूप सिद्ध होगा।

८२. सुशर्मा

(अच्छी तरह हिंसा करने वाला)—यहाँ 'सुष्ठु श्रृणाति' (अच्छी तरह मारता है)–इस विग्रह में 'सु'–पूर्वक 'शॄ' धातु से '७९९–अन्येभ्योऽपि०' द्वारा 'मनिन्' (मन्) प्रत्यय होकर 'सु शॄ मन्' रूप बनने पर आर्धधातुक 'मनिन्' (मन्) परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुक०' से धातु 'शॄ' के ऋकार के स्थान पर '२९–उरण् रपर:' की सहायता से गुण–'अर्' हो 'सु श् अर् मन्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४०१–आर्धधातुकस्य०' से बलादि आर्धधातुक 'मन्' को 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु '८००–नेड्वशि०' से उसके निषेध हो जाने पर परस्पर संयोग होकर 'सुशर्मन्' रूप

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ सुप्–'ङि' का लोप हो जाने पर भी '१९०–प्रत्ययलोपे०' परिभाषा से 'सरस्' पदसंज्ञक माना जाता है।

बनता है। तब '११७–कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'सुशर्मन् स्' रूप बनने पर '१७७–सर्वनामस्थाने०' द्वारा अङ्ग की उपधा–मकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार होकर 'सुशर्म् आ न् स्' = 'सुशर्मान् स्' रूप बनेगा। पुनः '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो:०' से 'सु' के सकार का लोप होकर 'सुशर्मान्' रूप बनने पर '१८०–न लोप:०' द्वारा अन्त्य नकार का लोप हो 'सुशर्मा' रूप सिद्ध होता है।

८३. सोमयाजी

(सोमयज्ञ करने वाला)—यहाँ 'सोमेन इष्टवान्' (सोम से यज्ञ किया)—इस विग्रह में करण 'सोमेन' (सोम टा) उपपद रहते '८०७–करणे यज:' द्वारा 'यज्' धातु से भूतार्थ में 'णिनि' (इन्) प्रत्यय हो 'सोम टा यज् इन्' रूप बनने पर '४५५–अत उपधाया:' से धातु 'यज्' के अकार को वृद्धि–आकार होकर 'सोम टा य् आ ज् इन्' = 'सोम टा याजिन्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ७ वें पद के समान है।

८४. स्थायी

(स्थिर रहने वाला)—यहाँ 'स्था'[1] धातु से कर्ता अर्थ में '७८९–नन्दिग्रहि०' द्वारा 'णिनि' (इन्) प्रत्यय[2] होकर 'स्था इन' रूप बनने पर णित् कृत् 'णिनि' (इन्) परे होने के कारण '७५७–आतो युक्०' से 'स्था' धातु को 'युक्' (य्) आगम[3] हो 'स्थाय् इन्' = 'स्थायिन्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ७ वें पद के समान है।

८५. स्नानीयम्

(उबटन)—यहाँ 'स्नात्यनेन' (इससे स्नान किया जाता है)—इस विग्रह में 'स्ना' (ष्णा) धातु से करण अर्थ में '७२–कृत्यल्युटो०' द्वारा कृत्य 'अनीयर्' (अनीय) होकर 'स्ना अनीय' रूप बनने पर '४२–अक: सवर्णे०' से सवर्ण दीर्घ होकर 'स्न् आ नीय' = 'स्नानीय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

८६. स्मारं स्मारम्

(याद कर कर के)—यहाँ 'स्मृ' धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में '८८५–आभीक्ष्ण्ये०' द्वारा 'णमुल्' (अम्) प्रत्यय होकर 'स्मृ अम्' रूप बनने पर '१८२–अचो ञ्णिति०'

---

१. मूल धातु है—'ष्ठा'। यहाँ '२५५–धात्वादे:०' से सकार होने पर तन्निमित्तक ठकार के स्थान पर थकार हो 'स्था' रूप बनता है।

२. ध्यान रहे 'स्था' (ष्ठा) धातु ग्रह्यादिगण के अन्तर्गत आती है।

३. '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् होने के कारण 'युक्' (य्) आगम 'स्था' का अन्तावयव बनता है।

से 'स्मृ' के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से वृद्धि–'आर्' हो 'स्म् आर् अम्' = 'स्मारम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ४६ वें पद के समान है।

८७. हितम्

(घोषित)—यहाँ 'धा' (धारण करना, पोषण करना) धातु से भूतार्थ में '८१५–निष्ठा' द्वारा 'क्त' (त) प्रत्यय हो 'धा त' रूप बनने पर '८२६–दधातेर्हिः' से 'धा' धातु के स्थान पर 'हि' आदेश होकर 'हि त' = 'हित' रुप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

८८. हित्वा

यह रूप दो प्रकार से बनता है :—

(क) 'धा' (धारण करना) धातु से पूर्वकाल अर्थ '८७९–समानकर्तृकयोः०' द्वारा 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय होकर 'धा त्वा' रूप बनने पर '८२६–दधाते०' से 'धा' को 'हि' होकर 'हि त्वा' = 'हित्वा' रूप बनता है।

(ख) 'ओहाक्' (हा–त्यागना) धातु से पूर्ववत् 'क्त्वा' (क्त्वा) प्रत्यय हो 'ओहाक् त्वा' रूप बनने पर '८८३–जहातेश्च०' से 'ओहाक्' के स्थान पर 'हि' होकर 'हि त्वा' = 'हित्वा' रूप बनता है।

स्मरण रहे कि दोनों ही स्थलों पर '३७०–क्त्वातोसुन्०' द्वारा अव्यय–संज्ञा होने के कारण प्रथमा–एकवचन में प्राप्त सुप्–'सु' का '३७२–अव्ययात्०' द्वारा लोप हो जाता है।

विभक्त्यर्थ-प्रकरण

१. कटे आस्ते

(चटाई पर है)—यहाँ '९०२–आधारोऽधिकरणम्' परिभाषा से 'कट' की अधिकरण संज्ञा होने के कारण '९०३–सप्तम्यधिकरणे च' द्वारा सप्तमी विभक्ति हो 'कटे' रूप बनता है।

२. गां दोग्धि पयः

(गाय से दूध दुहता है)—यहाँ '८९९–ध्रुवमपाये०' परिभाषा से प्राप्त अपादान कारक की अविवक्षा होने पर '८९२–अकथितं च' द्वारा 'गौ' कर्म संज्ञक हो जाता है। तब '८९१–कर्मणि द्वितीया' से उससे द्वितीया विभक्ति हो 'गां' रूप बनता है। आपादान की विवक्षा होने पर '९००–अपादाने०' से पञ्चमी विभक्ति होकर 'गोः' रूप बनेगा।

३. बलिं भिक्षते वसुधाम्

(बलि से पृथ्वी माँगता है)—यहाँ भी दूसरे पद के समान 'बलि' से द्वितीया विभक्ति हो 'बलिं' रूप बना है।

४. मातुः स्मरति

(माता को स्मरण करता है)—यहाँ '८९०–कर्तुरीप्सितं०' से प्राप्त कर्म की अविवक्षा होने पर '९०१–षष्ठी शेषे' द्वारा 'मातृ' से षष्ठी विभक्ति हो 'मातुः' रूप बना है।

५. विप्राय गां ददाति

(ब्राह्मण को गाय देता है)—यहाँ '८९६–कर्मणा यमभिप्रैति०' द्वारा 'विप्र' की सम्प्रदान संज्ञा होने के कारण '८९६–चतुर्थी०' के चतुर्थी विभक्ति होकर 'विप्राय' रूप बनता है।

६. हरये नमः

(हरि को नमस्कार)—यहाँ 'नमः' का संयोग होने के कारण '८९८–नमः स्वस्ति०' द्वारा 'हरि' का चतुर्थी विभक्ति हो 'हरये' रूप बना है।

७. हरिं भजति

(हरि को भजता है)—यहाँ '८९०–कर्तुरीप्सिततमम्०' द्वारा 'हरि' की कर्म संज्ञा होने पर '८९१–कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर 'हरिं' रूप बनता है।

८. हरिः सेव्यते

(हरि की सेवा करता है)—यहाँ कर्म के अभिहित (उक्त) होने के कारण '८९१–कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति न होने पर '८८८–प्रातिपदिकार्थ०' द्वारा प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होकर 'हरिः' रूप बनता है।

समास-प्रकरण

१. अतिमालः

(माला का अतिक्रमण करने वाला)—यहाँ 'अतिक्रान्तो मालाम्'–इस विग्रह में 'अति' का क्रान्त अर्थ में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' वार्तिक (सूत्र ९५० के अन्तर्गत) द्वारा द्वितीयान्त सुबन्त 'मालाम्' (माला अम्) के साथ समास होता है। तब समास-शास्त्र-सम्बन्धी प्रकृत वार्तिक में प्रथमान्त पद 'अत्यादयः' से बोध्य 'अति' शब्द की '९०९–प्रथमानिर्दिष्टं०' से उपसर्जन संज्ञा होने पर '९१०–उपसर्जनं पूर्वम्' द्वारा उसका पूर्व प्रयोग हो 'अति माला अम्' रूप बनता है। इस स्थिति में '७२१–सुपो धातु०' से सुप्—'अम्' का लोप होकर 'अतिमाला' रूप बनेगा। यहाँ '९५१–

एकविभक्ति०' से नियतविभक्तिक 'माला' की उपसर्जन संज्ञा होने पर '९५२–गोस्त्रियोः०' से तदन्त 'अतिमाला' के अन्त्य आकार के स्थान पर ह्रस्व अकार हो 'अतिमाल् अ' = 'अतिमाल' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है[1]।

२. अधिगोपम्

(ग्वालिन में)—यहाँ 'गोपि'—इस लौकिक और 'गोपा ङि अधि'–इस अलौकिक विग्रह में 'अधि' का सप्तमी विभक्ति अर्थ में '९०८–अव्ययं विभक्ति०' द्वारा सुबन्त 'गोपि' (गोपा ङि) के साथ समास होने पर पूर्ववत् 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा, पूर्व निपात तथा सुप्–'ङि' का लोप होकर 'अधि गोपा' = 'अधिगोपा' रूप बनता है। तब ९११–अव्ययीभावश्च' से समस्त पद की नपुंसकलिङ्ग संज्ञा होने पर '२४३–ह्रस्वो नपुंसके०' द्वारा अन्त्य आकार को ह्रस्व अकार हो 'अधिगोप् अ' = 'अधिगोप' रूप बनेगा। इस स्थिति में प्रथमा–एकवचन में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'अधिगोप स्' रूप बनने पर '३७२–अव्ययात्०' से 'सु' (स्) का लोप प्राप्त होता है, किन्तु '९१२–नाऽव्ययीभावाद्०' से उसका निषेध हो जाता है और 'सु' (स्) के स्थान पर 'अम्' होकर 'अधिगोप अम्' रूप बनता है। तदनन्तर '१३५०–अमि पूर्वः' से पूर्वरूप–अकार एकादेश हो 'अधिगोप् अ म्' = 'अधिगोपम्' रूप सिद्ध होगा।

३. अधिहरि

(हरि में)—यहाँ 'हरौ' (हरि ङि अधि)—इस विग्रह में दूसरे पद के समान 'अधि' का सुबन्त 'हरौ' (हरि ङि) के साथ समास हो 'अधिहरि स्' रूप बनने पर '३७१–अव्ययीभावश्च' से 'अधिहरि' की अव्यय–संज्ञा होने के कारण '३७२–अव्ययात्०' द्वारा उससे विहित 'सु' (स्) का लोप होकर 'अधिहरि' रूप सिद्ध होता है।

४. अध्यात्मम्

(आत्मा के विषय में)—इसका लौकिक विग्रह है—'आत्मनि' और अलौकिक—'आत्मन् ङि अधि'। यहाँ दूसरे पद की भाँति 'अधि' का सुबन्त 'आत्मनि' (आत्मन् ङि) से समास होकर 'अधि आत्मन्' रूप बनने पर '१५-इको यणचि' से धकारोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर यकार हो 'अध् य् आत्मन्' = 'अध्यात्मन्' रूप बनता है। तब '९१८–अनश्च' से 'टच्' (अ) प्रत्यय हो 'अध्यात्मन् अ' रूप बनने पर '९१९–नस्त-

---

१. ध्यान रहे '११७–कृत्तद्धितसमासाश्च' परिभाषा से समास सर्वत्र ही प्रातिपदिक संज्ञक होता है।

द्धिते' द्वारा भ–संज्ञक 'अध्यात्मन्' की टि–'अन्' का लोप होकर 'अध्यात्म् अ' = 'अध्यात्म' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः दूसरे पद के समान है।

५. अनश्वः

(घोड़े से भिन्न किन्तु घोड़े के समान)—यहाँ 'न अश्वः' (अश्व सु न)—इस विग्रह में 'नञ्' (न) का '९४६–नञ्' द्वारा प्रथमान्त सुवन्त 'अश्वः' (अश्व सु) के साथ समास होने पर प्रथम पद के समास 'न' की उपसर्जन संज्ञा, पूर्व–निपात एवं सुप्–'सु' का लोप हो 'न अश्व' रूप वनता है। तदनन्तर '९४७–नलोपो नञः' से नकार का लोप हो 'अ अश्व' रूप वनने पर '९४८–तस्मात्०' द्वारा 'अश्व' को 'नुट्' (न्) आगम[1] होकर 'अ न् अश्व' = 'अनश्व' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

६. अब्राह्मणः

(ब्राह्मण से भिन्न किन्तु ब्राह्मण के सदृश)–इसका लौकिक विग्रह है—'न ब्राह्मणः' और अलौकिक—'ब्राह्मण सु न'। यहाँ भी पाँचवें पद के समान समास और नकार लोप 'अ ब्राह्मण' = 'अब्राह्मण' रूप वनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' की भाँति विभक्ति-कार्य होकर 'अब्राह्मणः' रूप सिद्ध होता है।

७. अर्धपिप्पली

(आधी पीपल)—यहाँ 'अर्धं पिप्पल्याः' (अर्ध सु पिप्पली ङस्)—इस विग्रह में प्रथमान्त नपुंसक 'अर्धम्' (अर्ध सु) का '९३३-अर्धं नपुंसकम्' द्वारा षष्ठयन्त 'पिप्पल्याः' (पिप्पली ङस्) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'अर्धम्' को उपसर्जन संज्ञा, पूर्वनिपात तथा सुप्–'सु' एवं 'ङस्' का लोप हो 'अर्ध पिप्पली' = 'अर्धपिप्पली' रूप वनता है। इस स्थिति में 'पिप्पली' शव्द के नियतविभक्तिक[2] होने पर भी 'एकविभक्ताव-षष्ठयन्तवचनम्' द्वारा उपसर्जन का निषेध हो जाने पर '९५२–गोस्त्रियोः०' से प्राप्त ह्रस्वादेश नही होता। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

८. अर्धर्चः (अर्धर्चम्)

(आधी ऋचा)—इसका अलौकिक विग्रह है—'अर्धम् ऋचः' और अलौकिक–'अर्ध सु ऋच् ङस्'। यहाँ भी सातवें पद के समान 'अर्धम्' का 'ऋचः' के साथ समास होकर 'अर्ध ऋच्' रूप वनने पर '२७–आद् गुणः' से धकारोत्तरवर्ती अकार तथा ऋकार के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से गुण–'अर्' हो

१. ध्यान रहे कि टित् होने के कारण 'नुट्' (न) '८५–आद्यन्तौ०' परिभाषा से 'अश्व' का आद्यवयव वनता है।

२. यहाँ '९५१–एकविभक्ति०' से उपसर्जन-संज्ञा प्राप्त होती है।

'अर्ध अर् च्' = 'अर्धर्च्' रूप बनता है। तब '९९०–ऋक्–पूरब्धूः०' से 'अ' प्रत्यय हो 'अर्धर्च् अ' = 'अर्धर्च' रूप बनेगा। इस स्थिति में उत्तरपद 'ऋच्' के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण समस्त पद की स्त्रीलिङ्ग–संज्ञा प्राप्त होती है, किन्तु '९६३–अर्धर्चाः पुंसि च' से उसका बाध होकर पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का विधान हो जाता है। परिणामतः पुंल्लिङ्ग में अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान 'अर्धर्चः' और नपुंसकलिङ्ग में अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान 'अर्धर्चम्' रूप बनेगा।

९. अलंकुमारिः

(कुमारी के योग्य)—यहाँ 'अलं कुमार्यै' (कुमारी ङे अलम्)—इस विग्रह में 'अलम्' का कुमार्यै (कुमारी ङे) के साथ समास[1] होने पर प्रथमपद की भाँति 'अलम्' की उपसर्जन-संज्ञा, पूर्व-निपात, और सुप्–'ङे' का लोप हो 'अलम् कुमारी' रूप बनता है। इस स्थिति में '९६१–परवल्लिङ्गं०' से प्राप्त परवत्–लिङ्ग का 'द्विगुप्राप्तापन्न०' वार्तिक (सूत्र ९६१ के अन्तर्गत) द्वारा निषेध हो जाने पर उत्तरपद 'कुमारी' को '९५१–एकविभक्ति०' द्वारा उपसर्जन संज्ञा होने के कारण '९५२–गोस्त्रियो०' से उसके अन्त्य ईकार को ह्रस्व इकार होकर 'अलम् कुमार् इ' रूप बनेगा। तदनन्तर '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान पर अनुस्वार तथा '७९–अनुस्वारस्य०' से पुनः अनुस्वार को अनुनासिक परसवर्ण ङकार हो 'अलङ् कुमार् इ' = 'अलंकुमारि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'हरिः' के समान है।

१०. अश्वक्रीती

(घोड़ा देकर खरीदी हुई)—यहाँ 'अश्वेन क्रीता०' इस विग्रह में 'गतिकारकोपपदानाम्०' वार्तिक (सूत्र ९९४ के अन्तर्गत) की सहायता से '९२६–कर्तृकरणे०' द्वारा सुप् आने के पूर्व ही तृतीयान्त 'अश्वेन' (अश्व टा) का कृदन्त 'क्रीत' के साथ समास हो 'अश्व टा क्रीत' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति सुप्–'टा' का लोप होकर 'अश्व क्रीत' = 'अश्वक्रीत' रूप बनता है। तब स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '१२६०–क्रीतात्०' से 'ङीप् (ई) प्रत्यय होकर 'अश्वक्रीत ई' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' से भसंज्ञक 'अश्वक्रीत' के अन्त्य अकार का लोप हो 'अश्वक्रीत् ई' = 'अश्वक्रीती' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

११. अहोरात्र

(दिन और रात्रि)–इसका विग्रह है—'अहश्च रात्रिश्च' (अहन् सु रात्रि सु)। यहाँ चार्थ में '९८२–चार्थे द्वन्द्वः' द्वारा द्वन्द्व-समास होने पर प्रथमपद की भाँति सुप्-

---

१. समास 'द्विगुप्राप्तापन्न०' वार्तिक (सूत्र ९६१ के अन्तर्गत) के सामर्थ्य पर होता है।

लोप होकर 'अहन् रात्रि' रूप बनने पर '९५६–अहः सर्वैकदेश०' से 'अच्' प्रत्यय हो हो 'अहन् रात्रि अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '१६५–यचि भम् से 'रात्रि' की भ-संज्ञा होने के कारण '२३६–यस्येति च' द्वारा अन्त्य इकार का लोप होकर 'अहन् रात्र् अ' रूप बनेगा। तब '३६३–अहन्' से 'अहन्' शब्द[1] के नकार के स्थान पर 'रु' (र्) हो 'अह र् रात्र् अ' रूप बनने पर '१०७–हशि च' द्वारा रकार को उकार होकर 'अह उ रात्र् अ' रूप बनता है। पुनः '२७–आद् गुणः' से हकारोत्तरवर्ती अकार तथा उकार–दोनों के स्थान पर गुण–ओकार हो 'अह् ओ रात्र् अ' = 'अहोरात्र' रूप बनेगा। यहाँ 'जातिरप्राणिनाम्' (२।४।६) सूत्र से एकवद्भाव होने के कारण '९४३–स नपुंसकम्' से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त होता है, किन्तु '९५७–रात्राह्न०' से उसका बाध हो पुल्लिङ्ग होने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'अहो-रात्रः' रूप सिद्ध होता है।

१२. उपकृष्णम्

(कृष्ण के पास)—यहाँ 'कृष्णस्य समीपम्' (कृष्ण ङस् उप)–इस विग्रह में 'उप' का समीप अर्थ में '९०८–अव्ययं०' द्वारा 'कृष्णस्य' (कृष्ण ङस्) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति उपसर्जन-संज्ञा, पूर्व निपात और सुप्–'ङस्' का लोप हो 'उप कृष्ण' = 'उपकृष्ण' रूप बनता है। तब तृतीया विभक्ति एकवचन की विवक्षा में 'टा' प्रत्यय होकर 'उप कृष्ण टा' बनने पर '९१६–तृतीया०' से 'टा' को विकल्प से 'अम्' होकर 'उपकृष्ण अम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१३५–अमि पूर्वः' से पूर्वरूप–अकार एकादेश हो 'उपकृष्ण् अ म्' = 'उपकृष्णम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार सप्तमी–एकवचन में भी 'ङि' के स्थान पर 'अम्' होकर 'उप-कृष्णम्' रूप ही बनता है। पक्ष में इन दोनों ही अवस्थाओं में अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'राम' के समान क्रमशः 'उपकृष्णेन' एवं 'उपकृष्णे' रूप भी बनेंगे।

ध्यान रहे कि प्रथमा–एकवचन में भी द्वितीय पद ('अधिगोपम्') के समान 'सु' के स्थान पर 'अम्' हो 'उपकृष्णम्' रूप बनता है। इस प्रकार 'उपकृष्णम्' रूप तीन स्थितियों में बनेगा है।—

(क) प्रथमा एकवचन।
(ख) तृतीया विभक्ति।
(ग) सप्तमी विभक्ति।

१३. उपराजम्

(राजा के समीप)—इसका लौकिक विग्रह है 'राज्ञः समीपम्' और अलौकिक–

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ 'सु' विभक्ति का लोप हो जाने पर भी '१९०–प्रत्यय-लोपे०' परिभाषा से 'अहन्' पद-संज्ञक होता है।

'राजन् ङस् उप'। यहाँ भी ११ वें पद की भाँति 'उप' का सुवन्त 'राज्ञः' (राजन् ङस्) के साथ समास हो 'उप राजन्' रूप बनने पर '९१८–अनश्च' से 'टच्' (अ) प्रत्यय होकर 'उप राजन् अ' रूप बनता है। तब '९१९–नस्तद्धिते' से टि–'अन्' का लोप होकर 'उप राज् अ' = 'उपराज' रूप बनने पर द्वितीय पद के समान विभक्ति-कार्य हो 'उपराजम्' रूप सिद्ध होगा।

१४. उपशरदम्

(शरद् के समीप)—इसका विग्रह है—'शरदः समीपम्' (शरद् ङस् उप)। पूर्ववत् समास होकर 'उपशरद्' रूप बनने पर '९१७–अव्ययीभावे०' से 'टच्' (अ) प्रत्यय हो 'उपशरद् अ' = 'उपशरद' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है।

१५. उपसमित्

देखिये अगले पद (१६) की रूप-सिद्धि।

१६. उपसमिधम् (उपसमित्)

(समिधा के समीप)—इसका लौकिक विग्रह है—'समिधः समीपम्' और अलौकिक–'समिध् ङस् उप'। यहाँ भी ११ वें पद की भाँति समास होकर 'उप समिध्' रूप बनने पर '९२१–झयः' से विकल्पतः 'टच्' (अ) प्रत्यय हो 'उप समिध् अ' = 'उपसमिध' रूप बनता है। इस स्थिति में द्वितीय पद के समान प्रथमा–एकवचन में विभक्ति-कार्य होकर 'उपसमिधम्' रूप बनेगा।

'टच्'–प्रत्यय के अभाव में 'उपसमिध्' से 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'उपसमिध् स्' रूप बनने पर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप होकर 'उपसमिध्' रूप बनता है। तब '६७–झलां जशोऽन्ते' सूत्र से धकार के स्थान पर दकार होकर 'उपमिद्' रूप बनने पर '१४६–वाऽवसाने' द्वारा विकल्प से दकार के स्थान पर तकार होकर 'उपसमित्' रूप सिद्ध होगा।

१७. ऊरीकृत्य

(स्वीकार करके)—यहाँ 'ऊरी कृत्वा०' इस विग्रह में '९६०–ऊर्यादि०' द्वारा 'ऊरी' के गति-संज्ञक होने पर '९४९–कुगति०'[1] से परस्पर समास होकर 'ऊरीकृत्वा' रूप बनता है। तब '८८४–समासेऽनञ्०' से 'क्त्वा' (त्वा) के स्थान पर 'ल्यप्' (य) होकर 'ऊरी कृ य' रूप बनने पर पित् कृत् 'ल्यप्' (य) परे होने के कारण '७७७–ह्रस्वस्य पिति०' द्वारा ह्रस्वान्त अङ्ग 'ऊरीकृ' को 'तुक्' (त्)

१. यहाँ 'गतिकारकोपपदानाम्–' वार्तिक (सूत्र ९५४ के अन्तर्गत) से सुप् आने के पहले ही समास हो जाता है।

आगम[1] हो 'ऊरी कृ त् य' = 'उरीकृत्य' रूप बनेगा। इस स्थिति में प्रथमा-एकवचन में 'सु' (स्) होकर 'ऊरीकृत्य स्' रूप बनने पर '३७२–अव्ययादाप्०' से सुप्–'सु' (स्) का लोप होकर 'ऊरीकृत्य' रूप सिद्ध होता है।

१८. कच्छपी

(कछवी)—यहाँ 'कच्छेन पिबति' इस विग्रह में 'कच्छेन पा' रूप बनने पर 'सुपि स्थः' (३।२।४) सूत्र[2] से 'क' (अ) प्रत्यय हो 'कच्छेन पा अ' रूप बनता है। तदनन्तर कित् प्रत्यय 'क' (अ) परे होने के कारण '४८९–आतो लोप०' द्वारा 'पा' के आकार का लोप होकर 'कच्छेन प् अ' = 'कच्छेन प' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'गतिकारकोपपदानाम्०' वार्तिक (सूत्र ९५४ के अन्तर्गत) की सहायता से '९५४-उपपदमतिङ्' द्वारा तृतीयान्त उपपद 'कच्छेन' (कच्छ टा) का निर्विभक्तिक कृदन्त 'प' के साथ समास होकर 'कच्छ टा प' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति सुप्–'टा' का लोप हो 'कच्छ प' = 'कच्छप' रूप बनता है। पुनः '१२६५–जातेरस्त्री०' से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हो 'कच्छप ई' बनने पर १० वें पद के समान अकार–लोप आदि होकर 'कच्छपी' रूप सिद्ध होगा।

१९. कण्ठेकालः

(नीलकण्ठ–शिव)—इसका विग्रह है—'कण्ठे कालो यस्य'। यहाँ '९६५–अनेकम्०' से सुबन्त 'कालः' (काल सु) का 'कण्ठे' (कण्ठ ङि) के साथ समास होने पर '९६६–सप्तमी–विशेषणे०' सप्तम्यन्त 'कण्ठे' का पूर्व–प्रयोग हो 'कण्ठ ङि काल सु' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण '७२१–सुपो धातु०' से सुप्–'ङि' और 'सु' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु '९६७–हलदन्तात्०' से सप्तमी (ङि) के लोप का निषेध हो जाने पर केवल 'सु' का ही लोप होकर 'कण्ठ ङि काल' = 'कण्ठेकाल' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२०. कल्याणीपञ्चमाः

(जिनमें पाँचवीं कल्याणकारिणी है)–इसका लौकिक विग्रह है–'कल्याणी पञ्चमी यासां ताः' और अलौकिक 'पञ्चमी सु कल्याणी सु'। यहाँ भी पूर्ववत् बहुव्रीहि–समास और विशेषण–'कल्याणी' (कल्याणी सु) का पूर्व–प्रयोग होकर 'कल्याणी सु पञ्चमी सु' रूप बनने पर सुप्–लोप हो 'कल्याणी पञ्चमी' रूप बनता है। तब पूरणार्थ–

---

१. ८५–आद्यन्तौ०' परिभाषा से कित् 'तुक्' (त्) अङ्ग 'ऊरीकृ' का अन्तावयव बनता है।

२. सिद्धान्तकौमुदीकार के अनुसार सूत्र का अर्थ है—'सुपीति योगो विभज्यते। सुप्युपपदे आदन्तात्कः स्यात्।'

प्रत्ययान्त 'पञ्चमी'[1] शब्द परे होने के कारण पुंवद्भाव[2] का निषेध हो जाने पर '९६९–अप् पूरणी०' द्वारा 'अप्' (अ) प्रत्यय होकर 'कल्याणी पञ्चमी अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२३६–यस्येति च०' से मकारोत्तरवर्ती ईकार का लोप होकर 'कल्याणी पञ्चम् अ' = 'कल्याणीपञ्चम' रूप बनने पर स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '१२४५–अजाद्यत०' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'कल्याणीपञ्चम आ' रूप बनता है। यहाँ '४२–अकः सवर्णे०' से मकारोत्तरवर्ती अकार और आकार–दोनों के स्थान पर दीर्घ आकारादेश हो 'कल्याणीपञ्चम् आ' = 'कल्याणीपञ्चमा' रूप बनने पर अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'रमाः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'कल्याणीपञ्चमाः' रूप सिद्ध होगा।

२१. कुम्भकारः

(कुम्हार)—यहाँ पहले 'कुम्भं करोति'–इस अर्थ में द्वितीयान्त 'कुम्भम्' (कुम्भ अम्) उपपद रहते 'कृ' धातु से '७९०–कर्मण्यण्' द्वारा 'अण्' (अ) प्रत्यय हो 'कुम्भ अम् कृ अ' रूप बनने पर '१८२–अचो ञ्णिति' से ककारोत्तरवर्ती ऋकार के स्थान पर वृद्धि–'आर्' आदेश होकर 'कुम्भ अम् क् आर् अ' = 'कुम्भ अम् कार' रूप बनता है। तब १८ वें पद की भाँति परस्पर उपपद–समास और सुप्–'अम्' का लोप होकर 'कुम्भ कार' = 'कुम्भकार' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'कुम्भकारः' रूप सिद्ध होगा।

२२. कृष्णश्रितः

(कृष्ण के आश्रित)—यहाँ 'कृष्णं श्रितः' (कृष्ण अम् श्रित सु)—इस विग्रह में '९२४–द्वितीया०' द्वारा द्वितीयान्त सुबन्त 'कृष्णम्' (कृष्ण अम्) का 'श्रितः' (श्रित सु) के साथ समास होने पर प्रथम पद की भाँति समास–विधायक सूत्र के प्रथमान्त पद 'द्वितीया' द्वारा निर्दिष्ट 'कृष्णम्' की उपसर्जन-संज्ञा तथा पूर्व–प्रयोग और सुप्–'अम्' एवं 'सु' का लोप होकर 'कृष्ण श्रित' = 'कृष्णश्रित' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२३. गवाक्षः

(झरोखा)—यहाँ 'गवाम् अक्षि इव' (गायों की आँख जैसा)—इस विग्रह में षष्ठ्यन्त 'गवाम्' (गो आम्) का '९३१–षष्ठी' द्वारा सुबन्त 'अक्षिः' (अक्षि सु) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'गवाम्' की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग एवं

---

१. ध्यान रहे यहाँ 'पञ्चमी' में '११७१–तस्य पूरणे०' से पूरणार्थक 'डट्' प्रत्यय हुआ है।

२. '९६८–स्त्रियाः पुंवद्०' से प्राप्त पुंवद्भाव पूरणार्थ–प्रत्ययान्त शब्दों के परे होने पर नहीं होता।

सुप्–'आम्' तथा 'सु' का लोप हो 'गो अक्षि' रूप बनता है। तब '९९१–अक्ष्णोऽदर्शनात्०' से समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो 'गो अक्षि अ' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' से भ-संज्ञक अङ्ग 'गो अक्षि' के अन्त्य इकार का लोप होकर 'गो अक्ष् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४७–अवङ्०' से 'गो'[1] के ओकार स्थान पर 'अवङ्' (अव) आदेश होकर 'ग् अव अक्ष् अ' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' द्वारा वकारोत्तरवर्ती अकार तथा तदनुवर्ती 'अ'–दोनों के स्थान पर आकार हो 'ग् अव् आ क्ष् अ' = 'गवाक्ष' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२४. घनश्यामः

(मेघ के समान श्याम वर्ण)—इसका लौकिक विग्रह है—'घन इव श्यामः' और अलौकिक 'घन सु श्याम सु'। यहाँ '९४५–उपमानानि०' द्वारा उपमान 'घनः' (घन सु) का साधारणधर्मवाचक 'श्यामः' (श्याम सु) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'धनः' की उपसर्जन संज्ञा, पूर्व–प्रयोग, तथा सुप्–लोप होकर 'घन श्याम' = 'घनश्याम' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया अजन्तपुंल्लिग 'रामः' के समान।

२५. चित्रगुः

(चित्रित गायों वाला)—यहाँ 'चित्रा गावो यस्य' (चित्रा जस् गो जस्) इस विग्रह में २० वें पद की भाँति बहुव्रीहि–समास, विशेषण 'चित्राः' का पूर्व–प्रयोग एवं सुप्–लोप हो 'चित्रा गो' रूप बनने पर '९६८–स्त्रियाः पुंवद्०' से स्त्रीवाचक 'चित्रा' के पुंवद्भाव होने के कारण स्त्रीवाची प्रत्यय 'टाप्'[2] (आ) हट जाता है। तब रूप बनता है—'चित्र गो'। इस स्थिति में '९५१–एक विभक्ति०' से 'गो' की उपसर्जन संज्ञा होने पर '९५२–गोस्त्रियो०' द्वारा अन्त्य ओकार के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होकर 'चित्र ग् उ' = 'चित्रगु' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'हरिः' के समान है।

२६. द्वादश

(बारह)—इसका विग्रह है—'द्वौ च दश च'। यहाँ '९८२–चार्थे०' द्वारा सुबन्त 'द्वौ' (द्वि औ) का 'दश' (दशन् जस्) के साथ समास होकर 'द्वि औ दशन् जस्' रूप बनने पर प्रथम पद की भाँति सुप्–'औ' तथा 'जस्' का लोप होकर 'द्वि दशन्' रूप बनता है। तब '९६०–द्व्यष्टनः०' से 'द्वि' के इकार के स्थान पर आकार आदेश

---

१. '१९०–प्रत्ययलोपे०' परिभाषा से सुप्–'आम्' का लोप हो जाने पर भी 'गो' पद-संज्ञक माना जाता है।

२. ध्यान रहे यहाँ '११४५–अजाद्य०' द्वारा अकारान्त 'चित्र' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'चित्रा' रूप बना है।

होकर 'द्व् आ दशन्' = 'द्वादशन्' रूप बनेगा। इस स्थिति में प्रथमा-बहुवचन में 'द्वादशन् जस्' रूप बनने पर '२९७-ष्णान्ता षट्' द्वारा 'द्वादशन्' की षट्-संज्ञा होने के कारण '१८८-षड्भ्यो०' से 'जस्' का लोप होकर 'द्वादशन्' रूप बनता है। यहाँ '१८०-न लोपः०' से अन्त्य नकार का लोप हो 'द्वादश' रूप सिद्ध होगा।

२७. द्विमूर्धः

(दो सिर वाला)-यहाँ 'द्वौ मूर्धानौ यस्य' (द्वि औ मूर्धन् औ)-इस विग्रह में १९ वें पद की भाँति बहुव्रीहि-समास एवं सुप्-'औ' का लोप होकर 'द्वि मूर्धन्' रूप बनने पर '९७१-द्वित्रिभ्याम्०' द्वारा समासान्त 'ष' (अ) प्रत्यय होकर 'द्वि मूर्धन् अ' रूप बनता है। पुनः '९१९-नस्तद्धिते०' से टि-'अन्' का लोप होकर 'द्विमूर्ध् अ' = 'द्विमूर्ध' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'द्विमूर्धः' रूप सिद्ध होगा।

२८. नखनिर्भिन्नः

(नखों से कटा हुआ)—यहाँ 'नखैर्निर्भिन्नः'-इस विग्रह में 'कृद्ग्रहणे०' वार्तिक (सूत्र ९२६ के अन्तर्गत) की सहायता से '९२६-कर्तृकरणे०' द्वारा तृतीयान्त 'नखैः' (नख भिस्) का 'निर्भिन्नः' (निर्भिन्न सु) के साथ समास होने पर प्रथम पद की भाँति 'नखैः' की उपसर्जन-संज्ञा, पूर्व-प्रयोग और सुप्-'भिस्' एवं 'सु' का लोप हो 'नख निर्भिन्न' = 'नखनिर्भिन्न' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिग 'रामः' के समान है।

२९. निष्कौशाम्बिः

(कौशाम्बी नगरी से निकला हुआ)—यहाँ 'निष्क्रान्तः कौषाम्ब्याः' इस विग्रह में निष्क्रान्त अर्थ में 'निर्' का 'निरादयः०' वार्तिक (सूत्र ९५२ के अन्तर्गत) द्वारा पञ्चम्यन्त 'कौशाम्ब्याः' (कौशाम्बी ङसि) के साथ समास होकर 'निर् कौशाम्बी ङसि' रूप बनने पर सुप्-'ङसि' का लोप होकर 'निर् कौशाम्बी' रूप बनता है। इस स्थिति में '९५१-एकविभक्ति०' से 'कौशाम्बी' की उपसर्जन-संज्ञा होने पर '९५२-गोस्त्रियोः०' द्वारा उसके अन्त्य ईकार के स्थान पर ह्रस्व इकार होकर 'निर् कौशाम्ब् इ' रूप बनेगा। तब '९३-खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग हो 'निः कौशाम्ब् इ' रूप बनने पर 'इदुदुपधस्य०' (८।३।४१) सूत्र द्वारा इकारोपध विसर्ग के स्थान पर षकार होकर 'निष् कौशाम्ब् इ' = 'निष्कौशाम्बि' बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिग 'हरिः' के समान है।

३०. नीलोत्पलम्

(नील कमल)—इसका लौकिक विग्रह है—'नीलम् उत्पलम्' और अलौकिक-'नील सु उत्पल सु'। यहाँ '९४४-विशेषणं०' द्वारा परस्पर समास होने पर प्रथमपद

की भाँति 'नीलम्' (नील सु) की उपसर्जन-संज्ञा, पूर्व-प्रयोग तथा सुप्-लोप होकर 'नील उत्पल' रूप बनने पर '२७-आद् गुणः' से लकारोत्तरवर्ती अकार तथा उकार-दोनों के स्थान पर गुण-ओकार हो 'नील् ओत्पल' = नीलोत्पल' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञान' के प्रथमा-एकवचन 'ज्ञानम्' के समान है।

३१. पञ्चगङ्गम्

(पाँच गङ्गाओं का समाहार)—यहाँ 'पञ्चानां गङ्गानां समाहारः' (पञ्चन् आम् गङ्गा आम्)—इस विग्रह में 'समाहारे चायमिष्यते' वार्तिक (सूत्र ९१५ के अन्तर्गत) की सहायता से '९१५-नदीभिश्च०' द्वारा संख्यावाचक 'पञ्चानाम्' (पञ्चन् आम्) का 'गङ्गानाम्' (गङ्गा आम्) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति सुप्-'आम्' का लोप हो 'पञ्चन् गङ्गा' रूप बनता है। तब '१८०-नलोप०' से पञ्चन्' के अन्त्य नकार का लोप हो 'पञ्च गङ्गा' रूप बनने पर '९११-अव्ययीभावश्च' से नपुंसक-भाव होने के कारण '२४३-ह्रस्वो नपुंसके०' से अन्त्या आकार से स्थान पर ह्रस्व अकार होकर 'पञ्चागङ्ग् अ' = 'पञ्चगङ्ग' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया दूसरे पद के समान है।

३२. पञ्चगवधनः[1]

इसका विग्रह है—'पञ्च गावो धनं यस्य' (पञ्चन् जस् गो जस् धन सु)। यहाँ पहले 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोः-' वार्तिक (सूत्रांक ९३८ के अन्तर्गत) की सहायता से '९३६-तद्धितार्थोत्तरपद०' द्वारा संख्यावाचक 'पञ्च' (पञ्चन् जस्) का 'गावः' (गो जस्) के साथ समास होने पर पूर्ववत् सुप्-लोप एवं नकार-लोप होकर 'पञ्च गो' रूप बनता है। इस स्थिति में '९३९-गोरतद्धि०' से 'टच्' (अ) प्रत्यय होकर 'पञ्चगो अ' रूप बनने पर '२२-एचो०' द्वारा ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश हो 'पञ्च ग् अव् अ' = 'पञ्चगव' रूप बनेगा। तब '९६५-अनेकमन्यपदार्थे०' से 'धनम्' (धन सु) के साथ बहुव्रीहि समास होकर 'पञ्चगवधन' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'पञ्चगवधनः' रूप सिद्ध होता है।

३३. पञ्चगवम्

(पाँच गायों का समुदाय)—यहाँ 'पञ्चानां गवां समाहारः' (पञ्चन् आम् गो आम्)—इस विग्रह में पूर्वपद (३२) की भाँति समास, न-लोप, टच्-प्रत्यय और 'अव्'-आदेश होकर 'पञ्चगव' रूप बनता है। तब '९४१-संख्यापूर्वो०' से द्विगु-संज्ञा होने के कारण '९४३-स नपुंसकम्' द्वारा नपुंसक-भाव प्राप्त होने पर अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति-कार्य हो 'पञ्चगवम् रूप सिद्ध होगा।

---

1. इसका अर्थ है—(वह व्यक्ति) जिसका धन पाँच गायें मात्र है।

३४. परमराजः

(श्रेष्ठ राजा)—इसका लौकिक विग्रह है—'परमश्चासौ राजा च' और अलौकिक—'परम सु राजन् सु'। यहाँ '९४४—विशेषणं०' से परस्पर समास होने पर प्रथम पद की भाँति 'परमः' (परम सु) की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्व—प्रयोग तथा सुप्—लोप होकर 'परम राजन्' रूप बनने पर '९५८—राजाहः०' द्वारा 'टच्' (अ) प्रत्यय हो 'परम राजन् अ' रूप बनता है। तदनन्तर '९१९—नस्तद्धिते०' से टि—'अन्' का लोप हो 'परम राज् अ' = 'परमराज' रूप बनने पर अजन्त—पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति—कार्य होकर 'परमराजः' रूप सिद्ध होगा।

३५. पितरौ

(माता-पिता)—यहाँ 'माता च पिता च' (मातृ सु पितृ सु)—इस विग्रह में ९८२—चार्थे द्वन्द्वः' से परस्पर द्वन्द्व—समास होने पर प्रथम पद की भाँति सुप्—लोप हो 'मातृ पितृ' रूप बनता है। इस स्थिति में '९८७—पिता माता' से विकल्पतः 'मातृ' का लोप होकर 'पितृ' रूप बनने पर प्रथमा-द्विवचन में 'औ' प्रत्यय हो 'पितृ औ' रूप बनेगा। तब '२०४—ऋतो ङि०' से तकारोत्तरवर्ती ऋकार के स्थान पर गुण—'अर्' होकर 'पित् अर् औ' = 'पितरौ' रूप सिद्ध होता है। पक्ष में 'मातापितरौ' रूप भी बनता है।

३६. पौर्वशालः

(पूर्व वाली शाला में होने वाला)—इसका विग्रह है—'पूर्वस्यां शालायां भवः' (पूर्वा ङि शाला ङि)। यहाँ तद्धितार्थ में '९३६—तद्धितार्थोत्तरपद०' से 'पूर्वस्याम्' (पूर्वा ङि) का 'शालायाम्' (शाला ङि) के साथ समास होने पर प्रथम पद की भाँति उपसर्जन संज्ञा, सुप्—लोप होकर 'पूर्वा शाला' रूप बनता है। तब 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वार्तिक (९३६ वें सूत्र के अन्तर्गत) से सर्वनाम 'पूर्वा' को पुंवद्भाव होने पर स्त्रीवाची प्रत्यय 'टाप्' (आ) हट जाता है, और इस प्रकार रूप बनता है—'पूर्व शाला'। इस स्थिति में ९३७—'दिक्पूर्वपदाद०' से 'ञ' (अ) प्रत्यय हो 'पूर्व शाला अ' रूप बनने पर '२३६—यस्येति च' द्वारा लकारोत्तवर्ती आकार का लोप होकर 'पूर्वशाल् अ' रूप बनेगा। यहाँ ञित् प्रत्यय 'अ' (अ) परे होने के कारण '९३८—तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच्—पकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर वृद्धि—औकार हो 'प् और्वशाल् अ' = 'पौर्वशाल' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त—पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

३७. प्रपर्णः

(जिससे पत्ते गिर चुके हों)—यहाँ 'प्रपतितानि'[1] पर्णानि यस्मात्' (प्रपतित जस्)

---

१. यहाँ 'प्रादयो गताद्यर्थे०' वार्तिक (९५० वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा का पतितानि' के साथ समास हो 'प्रपतितानि' रूप बना है।

पर्ण जस्)—इस विग्रह में 'प्र' पूर्वक 'पतितानि' का 'प्रादिभ्यो धातुजस्य०' वार्तिक (९६७ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा 'पर्णानि' के साथ समास हो 'प्रपतित जस् पर्ण जस्' रूप बनने पर 'प्रपतित जस्' के उत्तरपद 'पतित जस्' का लोप होकर 'प्र पर्ण जस्' रूप बनता है। तब प्रथमपद की भाँति सुप्–'जस्' का लोप होकर 'प्र पर्ण' = 'प्रपर्ण' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य हो 'प्रपर्णः' रूप सिद्ध होगा।

३८. प्राचार्यः

(प्रधान आचार्य)—इसका लौकिक विग्रह है—'प्रगत आचार्यः' और अलौकिक-'प्र आचार्य सु'। यहाँ गत अर्थ में 'प्र' का 'प्रादयो गताद्यर्थे०' वार्तिक (९५० वें सूत्र के अन्तर्गत) की सहायता से '९४९–कुगतिप्रादयः' द्वारा प्रथमान्त सुबन्त 'आचार्यः' (आचार्य सु) के साथ समास होने पर प्रथम पद की भाँति 'प्र' की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग तथा सुप्–'सु' का लोप हो 'प्र आचार्य' रूप बनता है। तब '४२–अकः सवर्णे०' से रकारोत्तरवर्ती अकार तथा आकार के स्थान पर दीर्घ आकारादेश हो 'प्र् आचार्य' = 'प्राचार्य' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'प्राचार्यः' रूप सिद्ध होगा।

३९. प्राप्तजीविकः

(जिसे जीविका मिल गई हो)—यहाँ 'प्राप्तो जीविकाम्' (प्राप्त सु जीविका अम्)–इस विग्रह में '९६२–प्राप्तापन्ने०' द्वारा परस्पर समास होने पर प्रथम पद की भाँति 'प्राप्तः' की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग और सुप्–लोप होकर 'प्राप्त जीविका' रूप बनता है। तदनन्तर '९५१–एकविभक्ति०' से 'जीविका' का उपसर्जन–संज्ञा होने के कारण '९५२–गोस्त्रियोः०' से अन्त्य आकार को ह्रस्व अकारादेश हो 'प्राप्त जीविक् अ' = 'प्राप्त जीविक' रूप बनेगा यहाँ '९६१–परवल्लिङ्ग०' से पर-पद 'जीविका' के समान समस्त पद से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त होता है, किन्तु 'द्विगुप्राप्तापन्न०' वार्तिक (९६१ वें सूत्र के अन्तर्गत) से उसका निषेध हो जाता है। तब विशेष्य के अनुसार पुंल्लिङ्ग होने पर अजन्त 'रामः' के समान 'प्राप्तजीविकः' रूप सिद्ध होगा।

४०. भूतपूर्वः

(जो पहले हो चुका)—इसका विग्रह है–'पूर्वं भूतः' (पूर्व अम् भूत सु)। यहाँ '९०६–सह सुपा' से परस्पर समास होने पर प्रथम पद की भाँति सुप्–लोप हो 'पूर्व भूत' रूप बनता है। इस स्थिति में '९०९–प्रथमानिर्दिष्टम्०' से दोनों ही पदों की उपसर्जन संज्ञा होने के कारण '९१०–उपसर्जनं पूर्वम्' से दोनों का ही पूर्व–प्रयोग प्राप्त होने पर 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) के बल से 'भूत' का पूर्व–निपात हो 'भूत पूर्व' = 'भूतपूर्व' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया 'रामः' के समान है।

४१. महायशस्कः

(महान् यशस्वी)—यहाँ 'महद् यशो यस्य' (महत् सु यशस् सु)—इस विग्रह में '९६५–अनेकमन्यपदार्थे' से परस्पर समास होने पर २० वें पद की भाँति 'महद्' (महत् सु) की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग और सुप्–'सु' का लोप होकर 'महत् यशस्' रूप बनता है। तदनन्तर '९५९–आन्महतः०' से 'महत्' शब्द के अन्त्य तकार के स्थान पर आकार आदेश होकर 'मह् आ यशस्' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' द्वारा हकारोत्तरवर्ती अकार तथा 'आ'–दोनों को दीर्घ आकार एकादेश हो 'मह् आ यशस्' = 'महा यशस्' रूप बनेगा। पुनः '९८१–शेषाद्विभाषा' से 'कप् (क) प्रत्यय हो 'महायशस् क' रूप बनने पर '१०५–ससजुषो०' द्वारा सकार के स्थान पर 'रु' (र्) होकर 'महायशर् क' रूप बनता है। इस स्थिति में '९३–खरवसानयोः०' से रकार को विसर्ग होकर 'महायशः क' रूप बनने पर 'सोऽपददौ' (८।३।३८) सूत्र द्वारा विसर्ग को पुनः सकार हो 'महायश स् क' = 'महायशस्क' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया 'रामः' के समान है।

४२. महाराजः

(महाराज)—इसका लौकिक विग्रह है—'महान् च असौ राजा च' और अलौकिक–'महत् सु राजन् सु'। यहाँ ३४ वें पद की भाँति परस्पर समास आदि होकर 'महत् राजन्' रूप बनने पर '९५९–आन्महतः०' से 'महत्' के तकार को आकारादेश हो 'मह आ राजन्' रूप बनता है। तब '४२–अकः सवर्णे०' दीर्घ एकादेश हो 'मह् आ राजन्' = 'महाराजन्' रूप बनने पर पुनः पूर्ववत् 'टच्'–प्रत्यय और टि–लोप आदि होकर 'महाराजः' रूप सिद्ध होगा।

४३. यूपदारु

(यज्ञस्तम्भ के लिए लकड़ी)—यहाँ 'यूपाय दारु' (यूप ङे दारु सु)—इस विग्रह में '९२७–चतुर्थी तदर्थार्थ०' से परस्पर समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'यूपाय' (यूप ङे) की उपसर्जन-संज्ञा, पूर्व–प्रयोग तथा सुप्–लोप होकर 'यूप दारु' = 'यूपदारु' रूप बनता है। इस स्थिति में '९६१–परवल्लिङ्गं०' से समस्त पद की नपुंसक–संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन में '२४४–स्वमोर्नपुंसकात्' द्वारा 'सु' का लोप हो 'यूपदारु' रूप सिद्ध होगा।

४४. राजपुरुषः

(सरकारी आदमी)—इसका विग्रह है—'राज्ञः पुरुषः' (राजन् ङस् पुरुष सु) यहाँ '९३१–षष्ठी' द्वारा परस्पर समास होने पर प्रथम पद की भाँति षष्ठ्यन्त 'राज्ञः' (राजन् ङस्) की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग और सुप् लोप हो राजन् पुरुष'

रूप बनता है । तब '१८०–न लोपः०' से 'राजन्' के नकार का लोप हो 'राज पुरुष = 'राजपुरुष' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'राजपुरुषः' रूप सिद्ध होगा ।

४५. व्याघ्री

(बाघिन)—यहाँ 'व्याजिघ्रति' (विशेष–रूप से चारों ओर सूंघती है)—इस विग्रह में 'वि आङ्' (आ)–पूर्वक 'घ्रा' धातु से '७८८–आतश्चोपसर्गे' द्वारा 'क' (अ) प्रत्यय हो 'वि आ घ्रा अ' रूप बनने पर १८ वें पद के समान आकार–लोप और समास होकर 'वि आ घ्र' रूप बनता है । तब '१५–इको यणचि' से वकरोत्तरवर्ती इकार के स्थान पर यकार हो 'व् य् आ घ्र' = 'व्याघ्र' रूप बनने पर पुनः पूर्ववत् 'ङीष्' (ई) प्रत्यय आदि हो 'व्याघ्री' रूप होगा ।

५६. शाकपार्थिवः

(शाक पसन्द करने वाला राजा)—इसका लौकिक विग्रह है—'शाकप्रियश्चासौ पार्थिवश्च' और अलौकिक–'शाकप्रिय सु पार्थिव सु' । यहाँ '९४४–विशेषण०' से परस्पर समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'शाकप्रियः' की उसर्जन-संज्ञा, पूर्व–निपात एवं सुप्–लोप हो 'शाकप्रिय पार्थिव' रूप बनता है । तदनन्तर 'शाकपार्थिवादीनाम्०' वार्तिक (९४५ वें सूत्र के अन्तर्गत) से 'शाकप्रिय'[1] के उत्तर–पद 'प्रिय' का लोप हो 'शाक पार्थिव' = 'शाकपार्थिव' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'राम :'के समान विभक्ति–कार्य होकर 'शाकपार्थिवः' रूप सिद्ध होगा ।

४७. शिवकेशवौ

(शिव और केशव)—यहाँ 'शिवश्च केशवश्च' (शिव सु केशव सु) इस विग्रह में '९८२–चार्थे द्वन्द्वः' से परस्पर द्वन्द्व समास होने पर '९८६–अल्पाच्०' से 'शिवः' (शिव सु) का पूर्व-प्रयोग होकर 'शिव सु केशव सु' रूप बनता है । इस स्थिति में प्रथमपद की भाँति सुप् लोप होकर 'शिव केशव' = 'शिवकेशव' रूप बनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामौ' (प्रथमा–द्विवचन) के समान विभक्ति–कार्य हो 'शिवकेशवौ' रूप सिद्ध होगा ।

४८. सप्तर्षयः

(सात ऋषि)—इसका विग्रह है– 'सप्त च ते ऋषयः' (सप्तन् जस् ऋषि जस्)। यहाँ '९३५–दिक्संख्ये०' से परस्पर समास होने पर प्रथम पद को भाँति संख्यावाचक 'सप्त' (सप्तन् जस्) की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग तथा सुप्–लोप हो 'सप्तन् ऋषि' रूप बनता है । तदनन्तर '१८०–न लोपः०' से 'सप्तन्' के नकार का लोप हो 'सप्त

---

१. 'शाकप्रिय' में बहुव्रीहि–समास है—'शाकः प्रियः यस्य स शाकप्रियः' ।

ऋषि' रूप बनने पर '२७–आद् गुणः०' द्वारा तकारोत्तरवर्ती अकार और ऋकार–दोनों के स्थान पर गुण–'अर्' होकर 'सप्त् अर् षि' = 'सप्तर्षि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'हरयः' के समान है।

४९. सर्वरात्रः

(सारी रात)—यहाँ 'सर्वा चासौ रात्रिश्च' (सर्वा सु रात्रि सु)–इस विग्रह में '९४४–विशेषणं०' से परस्पर समास होने पर प्रथम पद की भाँति 'सर्वा' (सर्वा सु) की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–निपात, एवं सुप्–लोप होकर 'सर्वा रात्रि' रूप बनता है। इस स्थिति में '९६८–स्त्रियाः पुंवद्०' से 'सर्वा' में पुंवद्भाव होने पर स्त्रीवाचक प्रत्यय 'टाप्' (आ) हट जाता है। तब रूप बनता है—'सर्व रात्रि' = 'सर्वरात्रि'। यहाँ ११ वें पद की भाँति 'अच्' प्रत्यय, इकार–लोप और विभक्ति—कार्य हो 'सर्व-रात्रः' रूप सिद्ध होगा।

५०. सहरि

(हरि की समानता)—इसका लौकिक विग्रह है—'हरेः सादृश्यम्' और अलौकिक–'हरि ङस् सह'। यहाँ 'यथा' के अर्थ में वर्तमान अव्यय 'सह' का '९०८–अव्ययं०' द्वारा सुवन्त 'हरेः' (हरि ङस्) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'सह' की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग और सुप्–'ङस्' का लोप हो 'सह हरि' रूप बनता है। तब '९१४–अव्ययीभावे०' से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो 'स हरि' = 'सहरि' रूप बनने पर '९११–अव्ययीभावश्च०' से नपुंसकलिङ्ग होने के कारण प्रथमा–एकवचन में '३७२–अव्ययात्०' द्वारा 'सु' प्रत्यय का लोप होकर 'सहरि' रूप सिद्ध होगा।

५१. सुराजा

(अच्छा राजा)—यहाँ 'शोभनो राजा' (सु राजन् सु)–इस विग्रह में 'सु' का '९४९–कुगतिप्रादयः' द्वारा सुवन्त 'राजा' (राजन् सु) के साथ समास होने पर प्रथमपद की भाँति 'सु' की उपसर्जन–संज्ञा, पूर्व–प्रयोग और सुप्–'सु' का लोप होकर 'सु राजन्' रूप बनता है। इस स्थिति में '९८५–राजाहः०' द्वारा 'टच्' (अ) प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु प्रशंसार्थक 'सु' रहने के कारण '९९३–न पूजनात्' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। तब प्रथमा–एकवचन में 'सु' प्रत्यय होकर 'सु राजन् स्' रूप बनने पर '१७७–सर्वनामस्थाने०' से उपधा–जकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकारादेश हो 'सु रा ज् आ न् स्' रूप बनेगा। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप हो 'सु राज् आन्' रूप बनने पर '१८०–न लोपः०' द्वारा अन्त्य नकार का लोप होकर 'सु राज् आ' = 'सुराजा' रूप सिद्ध होता है।

५२. स्तोकान्मुक्तः

(थोड़े से मुक्त)—इसका विग्रह है—'स्तोकाद् मुक्तः' (स्तोक ङसि मुक्त सु)। यहाँ ९२९–स्तोकान्तिक०' से परस्पर समास होने पर प्रथम पद की भाँति 'स्तोकाद्' (स्तोक ङसि) की उपसर्जन–संज्ञा और पूर्व–प्रयोग हो 'स्तोक ङसि मुक्त सु' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण '७२१–सुपो धातु०' से सुप्–'ङसि' एवं 'सु' का लोप प्राप्त होता है। इस स्थिति में '९३०–पञ्चम्याः०' से 'ङसि'–लोप का निषेध हो जाने पर केवल 'सु' का लोप होकर 'स्तोक ङसि मुक्त' रूप बनता है। तब १४०–टा-ङसि०' से 'ङसि' के स्थान पर 'आत्' आदेश होकर 'स्तोक आत् मुक्त' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' द्वारा ककारोत्तरवर्ती अकार तथा आकार–दोनों को आकार एकादेश हो 'स्तोक् आ त् मुक्त' = 'स्तोकात् मुक्त' रूप बनेगा। यहाँ '६७–झलां जशोऽन्ते' से तकार के स्थान पर दकार हो 'स्तोकाद् मुक्त' 'रूप बनने पर '६८–यरोऽनुनासिके०' द्वारा विकल्प से दकार को नकार होकर 'स्तोकान् मुक्त' = 'स्तोकान्मुक्त' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया 'रामः' के समान है।

५३. हरिहरौ

(विष्णु और शिव)—यहाँ 'हरिश्च हरश्च' (हरि सु हर सु)–इस विग्रह में '९८२–चार्थे द्वन्द्वः' से परस्पर द्वन्द्व समास होने पर '९८४–द्वन्द्वे घि' द्वारा घि–संज्ञक 'हरिः' (हरि सु) का पूर्व–प्रयोग होकर 'हरि सु हर सु' बनता है। शेष प्रक्रिया ४७-वें पद के समान है।

तद्धित-प्रकरण

१. अतः

(इससे) —यहाँ पञ्चम्यन्त सर्वनाम 'एतस्मात्' (एतद् ङसि) से '११९५–पञ्चम्याः०' द्वारा 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय हो–'एतद् ङसि तस्' रूप बनने पर '७२१–सुपो धातु०' से सुप्–'ङसि' का लोप होकर 'एतद् तस्' रूप बनता है। तब '११९८–अन्०' से 'एतद्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होकर 'अन् तस्' रूप बनने पर '१४४–स्थानिवद्०' न्याय से 'अन्' की प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण '१०८–न लोपः०' द्वारा अन्त्य नकार का लोप हो 'अतस्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '११७–कृत्तद्धित०' से पुनः तद्धित–प्रत्ययान्त 'अतस्' की प्रातिपादिक संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'अतस् स्' रूप बनता है। तदनन्तर '३६८–तद्धितश्च०' से तसिल्–प्रत्ययान्त 'अतस्' की अव्ययसंज्ञा होने के कारण '३७२–अव्ययाद्०' द्वारा उससे विहित 'सु' (स्) का लोप होकर 'अतस्' रूप बनेगा। यहाँ

'१०५–ससजुषो०' से सकार को 'रु' (र्) होकर 'अतर्' रूप बनने पर '९३–खरवसानयोः०' द्वारा रकार के स्थान पर विसर्ग हो 'अतः' रूप सिद्ध होता है।

२. अन्यदा

(अन्य समय)—यहाँ 'अन्यस्मिन् काले'—इस अर्थ में सप्तम्यन्त कालवाचक 'अन्यस्मिन्' (अन्य ङि) से '१२०५–सर्वैकान्य०' द्वारा 'दा' प्रत्यय होकर 'अन्य ङि दा' रूप बनने पर पूर्ववत् सुप्—'ङि' का लोप[1] हो 'अन्य दा' = 'अन्यदा' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक-संज्ञा[2] हो प्रथमा एकवचन में 'सु' प्रत्यय आने पर पूर्ववत् उसका लोप होकर 'अन्यदा' रूप सिद्ध होगा।

३. अपूपमयं पर्व

(जिस पर्व के दिन मालपुए अधिक बनते हों) इसका विग्रह है—'प्राचुर्येण अपूपाः यस्मिन्'। यहाँ प्राचुर्य विशिष्ट अधिकरण अर्थ में प्रथमान्त 'अपूपाः' (अपूप जस्) से '१२३५–तत्प्रकारवचने०' द्वारा 'मयट्' (मय) प्रत्यय हो 'अपूप जस् मय' रूप बनने पर सुप्–'जस्' का लोप होकर 'अपूप मय' = 'अपूपमय' रूप बनता है। फिर विशेष्य के अनुसार नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा-एकवचन में अजन्त 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'अपूपमयम्' रूप सिद्ध होगा।

ध्यान रहे कि यही रूप भाव अर्थ में भी बनता है, किन्तु तब उसका विग्रह होता है—'प्रचुरा अपूपाः' (मालपुओं की अधिकता)।

४. अमुतः

(उससे)—यहाँ 'अमुष्मात्' अर्थ में पञ्चम्यन्त सर्वनाम 'अदस्' से प्रथम पद की भाँति 'तसिल्'–प्रत्यय एवं सुबं सुप्–लोप होकर 'अदस् तस्' रूप बनने पर १९३–त्यदादीनामः' से 'अदस्' के सकार के स्थान पर अकारादेश हो 'अद अ तस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '२७४–अतो गुणे' से दकारोत्तरवर्ती अकार तथा 'अ'–दोनों के स्थान पर पररूप अकारादेश हो 'अद् अ तस्' रूप बनने पर '३५६–अदसोऽसे०' द्वारा दकार को मकार तथा दकारोत्तरवर्ती अकार को उकार होकर 'अम् उ तस्' = 'अमुतस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पुनः प्रथमपद के समान है।

५. आक्षिकः

(पासों से खेलने वाला)—यहाँ 'अक्षैर्दीव्यति, खनति, जयति, जितं वा' अर्थ में तृतीयान्त 'अक्षैः' (अक्ष भिस्) से '१११४–तेन दीव्यति०' द्वारा 'ठक्' (ठ) प्रत्यय

१. वस्तुतः सभी तद्धित-युक्त शब्द '११७–कृत्तद्धित०' से प्रातिपदिक संज्ञक होते हैं, जिसका फल होता है—'७२१–सुपो धातु०' द्वारा अवयवस्थ सुप् का लोप तथा '१२०–ङ्याप्प्रातिपदिकात्' से 'सु' आदि 'प्रत्ययों' का विधान।

होकर 'अक्ष भिस् ठ' रूप बनने पर सुप्–'भिस्' का लोप हो 'अक्ष ठ' रूप बनता है। तब '१०२४–ठस्येकः' से 'ठ' के स्थान पर 'इक' आदेश होकर 'अक्ष इक' रूप बनने पर '१६५–यचि भम्' द्वारा 'अक्ष' की भ-संज्ञा होने के कारण '२३६–यस्येति च' से उसके अन्त्य अकार का लोप होकर 'अक्ष् इक' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१४४–स्थानिवद्०' न्याय से कित् प्रत्यय 'ठक्' के स्थान पर आये हुए 'इक' प्रत्यय के कित् होने के कारण '९९८–किति च' से 'अक्ष्' के अकार को वृद्धि आकार हो 'आ क्ष् इक' = 'आक्षिक' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया 'रामः' के समान है।

६. आत्मनीनम्

(अपने लिए हितकर)—इसका विग्रह है—'आत्मने हितम्'। यहाँ चतुर्थ्यन्त 'आत्मने' (आत्मन् ङे) से '११३८–आत्मन्०' द्वारा 'ख' प्रत्यय हो 'आत्मन् ङे ख' रूप बनने पर सुप्–'ङे' का लोप होकर 'आत्मन् ख' रूप बनता है। पुनः '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्' होकर 'आत्मन् इन् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '१६५–यचि भम्' से 'आत्मन्' की भ-संज्ञा होने के कारण '९१९–नस्तद्धिते' द्वारा उसकी 'टि' का लोप प्राप्त होता है, '११३९–आत्माध्वानौ खे' द्वारा उसका बाध होकर प्रकृतिभाव हो जाता है। फलतः रूप बनता है—'आत्मन् ईन् अ' = 'आत्मनीन'। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञानम्' के समान है।

७. आदित्यः

(अदिति या आदित्य का पुत्र)—यहाँ रूप निम्नांकित दो अर्थों में बनता है :–

(क)—'अदितेरपत्यम्' (अदिति का पुत्र)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ 'अदितेः' (अदिति ङस्) से '९९६–दित्यदित्या०' द्वारा 'ण्य' (य) प्रत्यय होकर 'अदिति ङस् य' रूप बनने पर सुप् 'ङस्' का लोप हो 'अदिति य' रूप बनता है। तब णित् तद्धित-प्रत्यय 'ण्य' (य) परे होने के कारण '९३८–तद्धितेष्व०' से 'अदिति' के आदि अकार को वृद्ध–आकार हो 'आदिति य' रूप बनने पर '२२६–यस्येति च' द्वारा भ-संज्ञक अङ्ग 'अदिति' के अन्त्य इकार का लोप होकर 'आ दि त् य' = 'आदित्य' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

(ख)—यहाँ 'आदित्यस्यापत्यम्' (आदित्य का पुत्र)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'आदित्यस्य' (आदित्य ङस्) से पूर्ववत् ण्य-प्रत्यय, सुप्-लोप, आदि-वृद्धि एवं अन्त्य अकार का लोप हो 'आदित्य् य' रूप बनने पर '९९७-हलो यमां०' से तकारोत्तरवर्ती यकार का लोप होकर 'आदि त् य' = 'आदित्य' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है।

८. आधिदैविकम्

(देवों में होने वाला)—यहाँ 'अधिदेवं भवम्'—इस विग्रह में वर्तमान सप्तम्यर्थ-

वाची अध्यात्मादि 'अधिदेव'[1] शब्द से भव अर्थ में 'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' वार्ति
(१०९१ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्-लोप होक
'अधिदेव ठ' रूप वनता है। तव ञित् प्रत्यय 'ठञ्' (ठ) परे होने के कारण '९३८
तद्धितेष्व०' से 'अधिदेव' के आदि अच्-अकार को वृद्धि-आदेश प्राप्त होता है, कि
'अधिदेव' शब्द के अनुशतिकादिगण में पठित होने के कारण '१०९२-अनुशतिकादी
च' द्वारा उसका वाध हो 'अधि' और 'देव'—इन दोनों ही पदों के आदि अच्—अक
और एकार के स्थान पर क्रमशः वृद्धि आकार और ऐकार होकर 'आ धि द् ऐ व ठ'
'आदिदैव ठ' रूप वनेगा। इस स्थिति में '१०२४-ठस्येकः' से प्रत्यय 'ठ' के स्थान
'इक' आदेश होकर 'आधिदैव इक' रूप वनने पर '२३६-यस्येति च' द्वारा भ-सं
अङ्ग 'आधिदैव' के अन्त्य अकार का लोप हो 'आधिदैव् इक' = 'आधिदैविक' रूप वन
है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञानम्' के समान है।

९. आध्यात्मिकम्

(आत्मा में होने वाला)—इसका विग्रह है—'अध्यात्मं भवम्'। शेष प्रक्रि
पूर्वपद (८) के समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'अध्यात्म' शब्द
अनुशतिकादिगण में पठित न होने के कारण '९३८-तद्धितेष्व०' से केवल आदि अ
अकार को ही वृद्धि आदेश होता है।

१०. आश्मनम्

(पत्थर का अवयव या विकार)—यहाँ 'अश्मनोऽवयवो विकारो वा'-इस
में '११०५-मयड्०' के अभाव पक्ष में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) द्वारा षष्ठय
'अश्मनः' (अश्मन् ङस्) से 'अण्' (अ) प्रत्यय हो 'अश्मन् ङस् अ' रूप वनने
सुप् 'ङस्' का लोप होकर 'अश्मन् अ' रूप वनता है। तव तद्धित-प्रत्यय 'अण्' (अ
परे होने के कारण 'अश्मन्' की टि-'अन्' का '९२९-नस्तद्धिते' से लोप प्राप्त होता
किन्तु '१०२१-अन्' द्वारा उसका वाध हो प्रकृति भाव हो जाता है। इस स्थिति
पुनः '९२८-तद्धितेष्व०' से आदि अच्-अकार को वृद्धि आकार होकर 'आश्मन् अ'
'आश्मन' रूप वनने पर अजन्त-नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति कार्य
'आश्मनम्' रूप सिद्ध होगा।

११. आश्वपतम्

(अश्वपति की सन्तान)—इसका अर्थ है-'अश्वपतेरपत्यम् अश्वपतेरिदम्' आदि
यहाँ '९९५-अश्वपत्यादिभ्यश्च' से 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'अश्वपति ङस् अ'

---

१. यह शब्द 'अधि' का सप्तमी-विभक्ति अर्थ में '९०८-अव्ययं०' द्वार 'देवे
(देव सुप्) के साथ समास होकर वना है, जिसका अर्थ है—'देवेषु'। इसी प्रक
'अध्यात्म' का अर्थ है—'आत्मनि' (आत्मा में)।

बनने पर ७ (क) वें पद की भाँति सुप्–लोप, अजादि वृद्धि एवं अन्त्य इकार का लोप हो 'आश्वपत् अ' = 'आश्वपत' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है ।

१२. इत्थम्

(इस प्रकार से)—इसका विग्रह दो रूपों में हो सकता है—'अनेन प्रकारेण' और 'एतेन प्रकारेण'। प्रथम अर्थ में तृतीयान्त 'अनेन' (इदम् टा) से '१२१२–इदमः' द्वारा 'थमु' (थम्) प्रत्यय हो 'इदम् टा थम्' बनने पर सुप्–'टा' का लोप होकर 'इदम् थम्' रूप बनता है। तदनन्तर थकारादि प्रत्यय 'थमु' (थम्) परे होने के कारण '१२०८–एतेतौ०' से 'इदम्' के स्थान पर 'इत्' आदेश होकर 'इत् थम्' = 'इत्थम्' रूप बनने पर प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय हो 'इत्थम् स्' रूप बनेगा। इस स्थिति में थमु–प्रत्ययान्त 'इत्थम्' की '३६८–तद्धित०' द्वारा अव्यय-संज्ञा होने के कारण '३७२–अव्ययाद्०' द्वारा उससे विहित 'सु' (स्) का लोप होकर 'इत्थम्' रूप सिद्ध होता है। द्वितीय अर्थ में 'एतदोऽपि वाच्यः' वार्तिक (१२१२ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा तृतीयान्त 'एतेन' (एतद् टा) से 'थमु' (थम्) तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'एतद् थम्' रूप बनने पर '१२१०–एतदो०' से 'एतद्' को 'इत्' हो 'इत् थम्' = 'इत्थम्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है।

१३. इयान्

(इतना)—यहाँ 'इदं परिमाणमस्य'–इस अर्थ में प्रथमान्त 'इदम्' (इदम् सु) '११६६–किमिदं भ्यां०' द्वारा 'वतुप्' (वत्) प्रत्यय तथा प्रत्यय के वकार के स्थान पर घकार होकर 'इदम् सु घत्' रूप बनने पर सुप्–'सु' का लोप हो 'इदम् घत्' रूप बनता है। तब '१०१०–आयनेयीनीयियः०' से घकार को 'इय्' आदेश हो 'इदम् इय् अ त् = 'इदम् इयत्' रूप बनने पर '११६७–इदं–किमोरीश्की' द्वारा 'इदम्' को 'ईश्' (ई) आदेश होकर 'ई इयत्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'ई' की भ–संज्ञा होने के कारण '२३६–यस्येति च०' से उसका लोप हो 'इयत्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया हलन्त–पुंल्लिङ्ग 'महान्' के समान है।

१४. उच्चकैः

(अज्ञात ऊँचा)—इसका विग्रह है—'अज्ञातम् उच्चैः'। यहाँ '१२३०–अज्ञाते' की सहायता से '१२२९–अव्यय-सर्वनाम्ना०' द्वारा अव्यय 'उच्चैस्' (उच्चैस् सु) की टि–'ऐस्' के पूर्व 'अकच्' (अक्) प्रत्यय हो 'उच्च् अक् ऐस् सु' रूप बनने पर सुप्–'सु' का लोप होकर, 'उच्च् अक् ऐस्' = 'उच्चकैस्'. रूप बनता है। तब '३६६–स्वरादि०' से 'उच्चैस्' (उच्चकैस्) को अव्यय–संज्ञा होने के कारण प्रथमा एकवचन में उससे

विहित 'सु' का '३७२–अव्ययाद्०' द्वारा लोप होकर 'उच्चकैस्' रूप बनने पर प्रथम-पद की भाँति रुत्व-विसर्ग हो 'उच्चैः' रूप सिद्ध होगा।

१५. एकदा

(एक समय)—यहाँ 'एकस्मिन् काले'—इस अर्थ में सप्तम्यन्त कालवाचक 'एकस्मिन्' (एक ङि) से द्वितीय-पद की भाँति 'दा' प्रत्यय आदि होकर 'एकदा' रूप सिद्ध होता है।

१६. एतर्हि

(अब)—यह रूप दो प्रकार से बनता है—

(क) 'अस्मिन् काले'—इस विग्रह में सप्तम्यन्त कालवाचक 'अस्मिन्' (इदम् ङि) के '१२०७–इदमोर्हिल्' द्वारा 'र्हिल्' (र्हि) प्रत्यय होकर 'इदम् ङि र्हि' रूप बनने पर सुप्–'ङि' का लोप हो 'इदम् र्हि' रूप बनता है। तब '१२०८–एतेतौ०' से 'इदम्' के स्थान पर 'एत' आदेश हो 'एत र्हि' = 'एतर्हि' बनने पर प्रथमा–एकवचन में प्रथमपद की भाँति 'सु'–लोप होकर 'एतर्हि' रूप सिद्ध होगा।

(ख) 'एतस्मिन् काले'—इस विग्रह में सप्तम्यन्त 'एतस्मिन्' (एतद् ङि) से '१२०९–अनद्यतने०' द्वारा विकल्प से 'र्हिल्' प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् लोप हो 'एतद् र्हि' रूप बनने पर '१२१०–एतदोऽन्' से 'एतद्' के स्थान पर 'एत' होकर 'एत र्हि' = 'एतर्हि' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

१७. औडुलोमिः

(उडुलोमन् की सन्तान) इसका विग्रह है—'उडुलोम्नोऽपत्यम्।' यहाँ षष्ठचन्त 'उडुलोम्नः' (उडुलोमन् ङस्) से '१०१२–बाह्वादिभ्यश्च' द्वारा 'इञ्' (इ) 'उडुलोमन् ङस् इ' रूप बनने पर 'ङस्' का लोप होकर 'उडुलोमन् इ' रूप बनता है। तदनन्तर ञित् तद्धित प्रत्यय परे होने के कारण '९३८–तद्धितेष्व०' द्वारा आदि अच्–उकार को वृद्धि औकार होकर 'औडुलोमन् इ' रूप बनने पर '९१९–नस्तद्धिते' से टि–'अन्' का लोप हो 'औडु लोम् इ' = 'औडुलोमि' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'हरिः' के समान है।

१८. औत्सः

(झरने में पैदा हुआ)—यहाँ 'उत्से जातः'—इस अर्थ में '९९९–उत्सादिभ्योऽञ्' द्वारा सप्तम्यन्त 'उत्से' (उत्स ङि) से 'अञ्' (अ) प्रत्यय बनता है। इस स्थिति में ७ (क) वें पद की भाँति आदि अच्–उकार को वृद्धि औकार तथा सकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'औत्स् अ' = 'औत्स' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'औत्सः' रूप सिद्ध होगा।

१९. औदुम्बरो देशः

(जिस देश में उदम्बर—गूलर के पेड़ हों)—इसका विग्रह है—'उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे'। यहाँ प्रथमान्त 'उदुम्बराः' (उदुम्बर जस्) से '१०५३–तदस्मिन्०' द्वारा 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'उदुम्बर जस् अ' रूप बनने पर सुप्—'जस्' का लोप होकर 'उदुम्बर अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्वपद (१८) के समान है।

२०. औपगवः

(उपगु की सन्तान)—यहाँ 'उपगोरपत्यम्' की सहायता से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) द्वारा षष्ठ्यन्त समर्थ उपगोः' (उपगु ङस्) से 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'उपगु ङस् अ' रूप बनने पर १८ वें पद की भाँति सुप्–लोप तथा अजादि-वृद्धि (उकार के स्थान पर औकार) हो 'औपगु अ' रूप बनता है। तब '१००२–ओर्गुणः' से गकारोत्तरवर्ती उकार को गुण–ओकार होकर 'औप ग् ओ अ' रूप बनने पर '२२–एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'औ प ग् अव् अ' = 'औपगव' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

२१. कदा

(कब)—इसका विग्रह है—'कस्मिन् काले'। यहाँ सप्तम्यन्त 'कस्मिन्' (किम् ङि) से द्वितीय पद की भाँति 'दा' प्रत्यय तथा सुप्–लोप हो 'किम् दा' रूप बनने पर '११९३–प्राग्दिशो०' द्वारा 'दा' की विभक्ति–संज्ञा होने के कारण '२७१–किमः कः' से उसके परे रहते 'किम्' के स्थान पर 'क' होकर 'क दा' = 'कदा' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है।

२२. कानीनः

(कन्या का पुत्र)—यहाँ 'कन्याया अपत्यम्'–इस अर्थ में '१०१८–कन्यायाः०' द्वारा षष्ठ्यन्त 'कन्यायाः' (कन्या ङस्) से 'अण्' प्रत्यय तथा 'कन्या' के स्थान पर 'कनीन' होकर 'कनीन ङस् अ' रूप बनने पर सुप्–'ङस्' का लोप हो 'कनीन अ' रूप बनता है। फिर ७ (क) वें पद की भाँति अजादि (ककारोत्तरवर्ती अकार) –वृद्धि तथा अन्त्य (नकारोत्तरवर्ती अकार)–लोप आदि होकर 'कानीनः' रूप सिद्ध होगा।

२३. काषायम्

(गेरुआ वस्त्र)—इसका विग्रह है—'कषायेण रक्तं वस्त्रम्'। यहाँ तृतीयायान्त वर्णवाचक 'कषायेण' (कषाय टा) से '१०३०–तेन रक्तं०' द्वारा 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'कषाय टा अ' रूप बनने पर पूर्वपद (२२) की भाँति सुप्–लोप, अजादि–वृद्धि और अन्त्य–लोप हो 'क् आ षा य् अ' = 'काषाय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–नपुंसकलिङ्ग 'ज्ञानम्' के समान है।

२४. किन्तमाम्

(अतिशय प्रश्न)—यहाँ 'अयमेषामतिशयेन किम्'–इस विग्रह में 'किम्' शब्द से '१२१४–अतिशायिने०' द्वारा 'तमप्' (तम) प्रत्यय होकर 'किम् तम' रूप बनने पर '१२१६–तरप्तमपौ घः' से 'तमप्' (तम) की घ–संज्ञा होने के कारण '१२१७–किमेत्तिङ्०' द्वारा उससे 'आमु' (आम्) प्रत्यय हो 'किम् तम आम्' रूप बनता है। तत्पश्चात् '२३६–यस्येति च०' से 'किम् तम' के अन्त्य अकार का लोप हो 'किम् तम् आम्' = 'किम् तमाम्' रूप बनने पर '७८–नश्चापदान्तस्य०' से 'किम्' के मकार के स्थान पर अनुस्वार तथा '७९–अनुस्वारस्य०' द्वारा पुनः अनुस्वार को परसवर्ण नकार होकर 'किन् तमाम्' = 'किन्तमाम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '३६८–तद्धितः०' से अव्यय–संज्ञा होने के कारण '३७२–अव्ययाद्०' द्वारा उससे विहित 'सु' (स्) का लोप हो 'किन्तमाम्' रूप सिद्ध होता है।

२५. कियान्

(कितना)—इसका विग्रह है—'किं परिमाणमस्य'। यहाँ प्रथमान्त 'किम्' (किम् सु) से १३ वें पद की भाँति 'वतुप्' प्रत्यय, प्रत्यय के वकार को घकार, घकार को 'इय्', तथा 'किम्' को 'की' आदि होकर 'कियान्' रूप सिद्ध होता है।

२६. कुतः

(कहाँ से)—यहाँ 'कस्मात्'–इस विग्रह में पञ्चम्यन्त 'किम्' शब्द में प्रथम पद की भाँति 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय और सुप् (ङसि) लोप होकर 'किम् तस्' रूप बनने पर '११९६–कु तिहोः' द्वारा 'किम्' को 'कु' आदेश हो 'कु तस्' = 'कुतस्' रूप बनता है। शेप प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है।

२७. कुत्र

(कहाँ)—देखिये ३० वें पद की रूप-सिद्धि।

२८. कुमुद्वान्

(जिस नेश में कुमुद होते हों)—यहाँ 'कुमुदाः सन्ति अस्मिन्'–इस विग्रह में प्रथमान्त 'कुमुदाः' (कुमुद जस्) से 'अस्मिन्' अर्थ में '१०६०-कुमुद०' द्वारा 'ड्मतुप्' (मत्) प्रत्यय होकर 'कुमुद जस् मत्' रूप बनने पर सुप्–'जस्' का लोप होकर 'कुमुद मत' रूप बनता है। इस स्थिति में डित् प्रत्यय परे होने के कारण '२४२-टेः' से टि–दकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'कुमुद् मत्' रूप बनने पर '१०६१–झयः' द्वारा 'मत्' के मकार को वकार होकर 'कुमुद् व् अत्' = 'कुमुद्वत्' रूप बनेगा। शेप प्रक्रिया हलन्त-पुंल्लिङ्ग 'धीमान्' के समान है।

२९. कृतपूर्वी

(वह व्यक्ति जिसने कोई काम पहले कर लिया हो)—इसका विग्रह है—'कृतं पूर्वमनेन'। यहाँ कृत-पूर्वक 'पूर्वम्' (पूर्व अम्) से 'अनेन' अर्थ में '११७९–सपूर्वाच्च' द्वारा 'इनि' (इन्) प्रत्यय हो 'कृतपूर्व[1] अम् इन्' रूप बनने पर सुप्–'अम्' का लोप होकर 'कृतपूर्व इन्' रूप बनता है। तब तद्धित–प्रत्यय परे होने के कारण '२३६–यस्येति च' से 'पूर्व' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'कृतपूर्व् इन' = 'कृतपूर्विन्' रूप बनने पर प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय आने पर '२८५–सौ च' द्वारा उपधा—वकारोत्तरवर्ती इकार को दीर्घ ईकार हो 'कृतपूर्व् ईन् स्' रूप बनेगा। यहाँ '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त 'सु' (स्) का लोप हो 'कृतपूर्व् ईन्' रूप बनने पर '१८०—नलोपः०' से पदान्त नकार का लोप होकर 'कृतपूर्व् ई' = 'कृत-पूर्वी' रूप सिद्ध होता है।

३०. क्व (कुत्र)

यहाँ 'कस्मिन्'—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'कस्मिन्' (किम् ङि) से '१२०२–किमोऽत्' द्वारा विकल्प से 'अत्' (अ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–'ङि' का लोप होकर 'किम् अ' रूप बनने पर '१२०३–क्वाऽति' से 'किम्' के स्थान पर 'क्व' आदेश होकर 'क्व अ' रूप बनता है। तदनन्तर तद्धित-प्रत्यय 'अत्' (अ) परे होने के कारण '२३६–यस्येति च' से 'क्व' के अन्त्य अकार का लोप हो 'क्व् अ' = 'क्व' रूप बनेगा इस स्थित में ३६८–तद्धितश्चा०' द्वारा उसकी अव्यय संज्ञा होने के कारण उससे विहित 'सु' (प्रथमा–एकवचन) प्रत्यय का '३७३–अव्ययाद्०' से लोप हो जाता है, और इस प्रकार रूप सिद्ध होता है—'क्व'।

'अत्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में '१२००–सप्तम्याः०' से 'त्रल्' (त्र) प्रत्यय हो 'किम् त्र' रूप बनने पर '११९६–कु तिहोः' द्वारा 'किम्' के स्थान पर 'कु' आदेश होकर 'कु त्र' = 'कुत्र' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है।

३१. गार्ग्यः

(गर्ग का गोत्रापत्य)—इसका विग्रह है—'गर्गस्य गोत्रापत्यम्'। यहाँ '१००५–गर्गादिभ्यो०' से षष्ठ्यन्त 'गर्ग ङस्' से 'यञ्' (य) प्रत्यय हो 'गर्ग ङस् य' रूप बनने पर सुप्–'ङस्' का लोप होकर 'गर्ग य' रूप बनता है। तब ७ (क) वें पद की भाँति अजादि-वृद्धि और अन्त्य–लोप आदि होकर 'गार्ग्यः' रूप सिद्ध होगा।

---

१. ध्यान रहे कि 'कृतम्' का '९०६–सह सुपा' द्वारा 'पूर्वम्' के साथ समास हो 'कृतपूर्वम्' रूप बनता है।

३२. गार्ग्यायणः

(गर्ग का युवापत्य)—यहाँ 'गर्गस्य युवापत्यम्'—इस अर्थ में यञ्–प्रत्ययान्त 'गार्ग्य'[१] शब्द से १००९–यञिञोश्च' द्वारा 'फक्' (फ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् (ङस्) का लोप होकर 'गार्ग्य फ' रूप वनने पर '१०१०–आयनेयीनीयियः०' से फकार के स्थान पर 'आयन्' आदेश हो 'गार्ग्य आयन् अ' रूप वनता है। तत्पश्चात् '२३६–यस्येति च' से 'गार्ग्य' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गार्ग्य् आयन् अ' रूप वनने पर '१३८–अट्कुप्वाङ्०' द्वारा नकार को णकार हो 'गार्ग्य् आयण् अ' = 'गार्ग्यायण' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

३३. गोमयम्

(गोवर)—इसका विग्रह है—'गोः पुरीषम्'। यहाँ षष्ठचन्त 'गोः' (गो ङस्) से '१११९–गोश्च०' द्वारा 'मयट्' (मय) प्रत्यय हो 'गो ङस् मय' रूप वनने पर सुप्–'ङस्' का लोप होकर 'गो मय' = 'गोमय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्तनपुंसक-लिङ्ग 'ज्ञानम्' के समान है।

३४. गोमान्

(गायों वाला)—यहाँ 'गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति'—इस विग्रह में प्रथमान्त 'गावः' (गो जस्) से '११८१–तदस्य०' द्वारा 'मतुप्' (मत्) प्रत्यय होकर 'गो जस् मत्' रूप वनने पर सुप्–'जस्' का लोप होकर 'गो मत्' = 'गोमत्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया हलन्त-पुंल्लिङ्ग 'धीमान्' के समान है।

३५. चूडालः

(चोटी वाला)—इसका विग्रह है—'चूडाऽस्यास्ति'। यहाँ प्रथमान्त 'चूडा' (चुडा सु) से '११८३–प्राणिस्था०' द्वारा विकल्प से 'लच्' (ल) प्रत्यय हो 'चूडा सु ल' रूप वनने पर सुप्–'सु' का लोप होकर 'चूडा ल' = 'चूडाल' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

३६. जनता

(जन समूह)—यहाँ 'जनानां समूहः'—इस अर्थ में षष्ठचन्त 'जनानाम्' (जन आम्) से '१०४७–ग्रामजन०' द्वारा 'तल्' (त) प्रत्यय होकर 'जन आम् त' रूप वनने पर सुप्—'आम्' का लोप हो 'जनत' रूप वनता है। इस स्थिति में 'तलन्तं स्त्रियाम्' नियम से स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में '१२४५–अजाद्य०' से 'टाप्' (आ)

---

१. ध्यान रहे '१००५–गर्गादिभ्यो०' द्वारा 'गर्ग' शब्द से 'यञ्' प्रत्यय हो 'गार्ग्यः' रूप वनता है।

प्रत्यय होकर 'जनत आ' रूप बनने पर '४२—अकः सवर्णे०' द्वारा दीर्घादेश होकर 'जनत् आ' = 'जनता' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त—स्त्रीलिङ्ग 'रमा' के समान है।

३७. ज्ञातेयम्

(ज्ञाति-बन्धु का कार्य अथवा भाव)—इसका विग्रह है—'ज्ञातेः कर्म भावो वा'। यहाँ '११५८—कपिज्ञात्योः०' द्वारा षष्ठयन्त 'ज्ञातेः' (ज्ञाति ङस्) से 'ढक्' (ढ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् लोप होकर 'ज्ञाति ढ' रूप बनने पर १०१०—आयनेयी०' से ढकार के स्थान पर 'एय्' होकर 'ज्ञाति एय् अ' रूप बनता है। तदनन्तर '२३६—यस्येति च' से 'ज्ञाति' के अन्त्य इकार का लोप होकर 'ज्ञात् एय् अ' = 'ज्ञातेय' रूप बनने पर अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' की भाँति विभक्ति-कार्य हो 'ज्ञातेयम्' रूप सिद्ध होगा।

३८. ज्यायान्

(दो में से अधिक प्रशंसनीय)—यहाँ 'अनयोरतिशयेन प्रशस्यः'—इस विग्रह में 'प्रशस्यः' (प्रशस्य सु) से '१२१८—द्विवचन०' द्वारा 'ईयसुन्' (ईयस्) प्रत्यय होकर 'प्रशस्य सु ईयस्' रूप बनने पर सुप्—'सु' का लोप हो 'प्रशस्य ईयस्' रूप बनता है। तब '१२२१—ज्य च' से 'प्रशस्य' के स्थान पर 'ज्य' आदेश हो 'ज्य ईयस्' रूप बनने पर '११५४—टेः' से टि—लोप प्राप्त होता है, किन्तु 'ज्य' के एकाच् होने के कारण '१२२०—प्रकृत्यैकाच्' द्वारा उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में '१२२२—ज्यादादीयसः' द्वारा '७२—आदेः परस्य' की सहायता से 'ईयस्' के ईकार के स्थान पर आकार होकर 'ज्य आयस्' रूप बनने पर '४२—अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश हो 'ज्य् आ यस्' = 'ज्यायस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया हलन्त-पंल्लिङ्ग 'विद्वान्' के समान है।

३९. ज्येष्ठः

(सब से अधिक प्रशंसनीय)—इसका विग्रह है—'अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः'। यहाँ '१२१४-अतिशायने०' द्वारा 'प्रशस्यः' से (प्रशस्य सु) से 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय हो 'प्रशस्य' सु इष्ठ' रूप बनने पर पूर्वपद (३८) की भाँति सुप्—लोप, 'ज्य' आदेश और प्रकृतिभाव होकर 'ज्य इष्ठ' रूप बनता है। तत्पश्चात् '२७—आद् गुणः' से यकारोत्तरवर्ती अकार तथा इकार दोनों के स्थान पर एकार आदेश होकर 'ज्य् एष्ठ' = 'ज्येष्ठ' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति—कार्य हो 'ज्येष्ठः' रूप सिद्ध होगा।

४०. तत्र

(वहाँ)—यहाँ 'तस्मिन्'—इस विग्रह में सप्तम्यन्त 'तद्' (तद् ङि = तस्मिन्) से '१२००—सप्तम्याः०' द्वारा 'त्रल्' (त्र) प्रत्यय होकर 'तद् ङि त्र' रूप बनने पर सुप्—'ङि' का लोप होकर 'तद् त्र' रूप बनता है। पुनः ११९३—प्राग्दिशो०' से 'त्रल्'

(त्र) की विभक्ति संज्ञा होने के कारण '१९३-त्यदादीनामः' द्वारा 'तद्' दकार के स्थान पर अकार हो 'त अ त्र' रूप वनने पर '२७४-अतो गुणे०' से पररूप—एकादेश होकर 'त् अ त्र' = 'तत्र' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया ३० वें पद (कुत्र) के समान है।

४१. तथा

(इस प्रकार)—इसका विग्रह है—'तेन प्रकारेण'। यहाँ प्रकार वाची सर्वनाम 'तेन' (तद् टा) से '१२११-प्रकारवचने०' द्वारा 'थाल्' (था) प्रत्यय होकर 'तद् टा था' रूप वनने पर सुप्—'टा' का लोप होकर 'तद् था' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया पूर्वपद (४०) के समान है।

४२. तदा

(तव)—यहाँ 'तस्मिन् काले'—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'तस्मिन्' (तद् ङि) से '१२०५-सर्वैकान्य०' द्वारा 'दा' प्रत्यय हो 'तद् ङि दा' रूप वनने पर ४० वें पद की भाँति सुप्—लोप, आकारादेश आदि होकर 'तदा' रूप सिद्ध होता है।

४३. तर्हि

(तव)—इसका विग्रह है—'तस्मिन् काले'। यहाँ १२०९-अनद्यतने०' द्वारा सप्तम्यन्त 'तस्मिन्' (तद् ङि) से विकल्प से 'र्हिल्' (र्हि) प्रत्यय होकर 'तद् ङि र्हि' रूप वनने पर ४० वें पद की भाँति सुप्—लोप, अकारादेश आदि होकर 'तर्हि' रूप वनता है 'र्हिल्' के अभाव पक्ष में 'दा' प्रत्यय हो 'तदा' रूप वनेगा।

४४. तृतीयः

(तीसरा)—यहाँ 'त्रयाणां पूरणः'—इस अर्थ में षष्ठयन्त 'त्रयाणाम्' (त्रि आम्) से '११७६-त्रेः सम्प्रसारणं च' द्वारा 'तीय' प्रत्यय हो 'त्रि आम् तीय' रूप वनने पर सुप्—'आम्' का लोप होकर 'त्रितीय' रूप वनता है। तव पुनः उक्त सूत्र से 'त्रि' को सम्प्रसारण होकर 'त् ऋ इ तीय' रूप वनने पर '२५८-सम्प्रसारणाच्च' द्वारा पूर्वरूप एकादेश हो 'त् ऋ तीय' = 'तृतीय' रूप वनेगा। शेप प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

४५. त्वदीयः

(तेरा)—इसका विग्रह है—'तव अयम्'। यहाँ '१०७३-त्यदादीनि च' से 'युष्मद्' (तव) की वृद्ध—संज्ञा होने के कारण '१०७४-वृद्धाच्छः' द्वारा उससे 'छ' प्रत्यय हो 'युष्मद् ङस् छ' रूप वनने पर सुप्—'ङस्' का लोप होकर 'युष्मद् छ' रूप वनता है। इस स्थिति में '१०१०-आयनेयी०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' आदेश होकर 'युष्मद् ईय् अ' रूप वनने पर '१०७९-प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' द्वारा 'युष्मद्' के 'युष्म्' को 'त्व' होकर 'त्व अद् ईय् अ' रूप वनेगा। पुनः '२७४-अतो गुणे' से वकारोत्तरवर्ती अकार तथा 'अद्' के अकार—दोनों के स्थान पर पररूप—एकादेश हो

'त्व् अ द् ईय् अ' = 'त्वदीय' रूप बनने पर अजन्त पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'त्वदीयः' रूप सिद्ध होता है।

४६. दण्डी

(दण्डवाला)—यहाँ 'दण्डोऽस्यास्ति'—इस विग्रह में प्रथमान्त 'दण्डः' (दण्ड सु) से '११८७–अत इनि–ठनौ' द्वारा विकल्प से 'इनि' (इन्) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–'सु' का लोप होकर 'दण्ड इन्' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' से 'दण्ड' के अन्त्य अकार का लोप हो 'दण्ड् इन् = 'दण्डिन्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया २९ वें पद के समान है।

४७. दन्तुरः

(ऊँचे दाँतों वाला)—इसका विग्रह है—'उन्नता दन्ताः सन्ति अस्य'। यहाँ '११८५–दन्त उन्नत०' द्वारा प्रथमान्त 'दन्ताः' (दन्त जस्) से 'उरच्' (उर) प्रत्यय होकर दन्त जस् उर' रूप बनने पर पूर्ववत् सुप्–लोप और अन्त्य—तकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'दन्त् उर' = 'दन्तुर' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

४८. दैत्यः

(दिति का पुत्र)—यहाँ 'दितेरपत्यम्'—इस अर्थ में षष्ठचन्त 'दितेः' (दिति ङस्) से ७ (क) वें पद की भाँति 'ण्य'–प्रत्यय आदि होकर 'दैत्यः' रूप सिद्ध होता है।

४९. दैव्यम्

(देवता की सन्तान)—इसका विग्रह है—'देवस्यापत्यम्'। यहाँ 'देवाद् यञञौ' वार्तिक (९९७ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा षष्ठचन्त 'देवस्य' (देव ङस्) से विकल्प से 'यञ्' (य) प्रत्यय होकर 'देव ङस् य' रूप बनने पर ७ (क) वें पद की भाँति सुप्–लोप, अजादि–वृद्धि और अन्त्य लोप होकर 'द् ऐ व् य' = 'दैव्य' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

५० द्वैमातुरः

(दो माताओं का पुत्र)—यहाँ 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्'—इस अर्थ में षष्ठचन्त 'द्विमातृ'[1] से '१०१६–मातुरुत्०' द्वारा 'अण्' प्रत्यय हो 'द्विमातृ ओस् अ' रूप बनने पर सुप्–'ओस्' का लोप होकर 'द्विमातृ अ' रूप बनता है। फिर दुबारा उक्त सूत्र से 'मातृ' के ऋकार के स्थान पर 'उर्' आदेश होकर 'द्विमात् उर् अ' रूप बनने पर

---

१. ध्यान रहे कि यहाँ '९३६–तद्धितार्थ०' द्वारा 'द्वयोः' और 'मात्रोः' का परस्पर समास होकर द्विमात्रोः (द्विमातृ ओस्) रूप बनता है।

'९३८–तद्धितेष्व०' द्वारा आदि अच्–इकार को वृद्धि–ऐकार हो 'द् ऐ मात् उर् अ' = 'द्वैमातुर' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

५१. धानुष्कः

(धनुर्धारी)—यहाँ 'धनुः प्रहरणमस्य'—इस विग्रह में प्रथमान्त 'धनुः' (धनुस्-सु) से '११२४–प्रहरणम्' द्वारा 'ठक्' (ठ) प्रत्यय और पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'धनुस् ठ' रूप बनने पर '१०४९–इसुस्०' से 'ठ' के स्थान पर 'क' हो 'धनुस् क' रूप बनता है। तब '१९०–प्रत्ययलोपे०' परिभाषा से 'धनुस्' की पद–संज्ञा होने के कारण '१०५–ससजुषो०' द्वारा उसके सकार को 'रु' (र्) हो 'धनुर् क' रूप बनने पर '९३–खरवसानयोः०' से रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'धनुः क' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'इणः षः' (८।३।३९) द्वारा विसर्ग के स्थान पर षकारादेश होकर 'धनु ष् क' रूप बनने पर '९९८–किति च' से आदि अच्–धकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि-आकार हो 'ध आ नु ष् क' = 'धानुष्क' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

५२. धार्मिकः

(धार्मिक)—इसका विग्रह है—'धर्मं चरति'। यहाँ ११२२–धर्म०' द्वारा द्वितीयान्त 'धर्मम्' (धर्म अम्) से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय हो 'धर्म अम् ठ' रूप बनने पर सुप्–'अम्' का लोप होकर 'धर्म ठ' रूप बनता है। तदनन्तर '१०२४–ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक' होकर 'धर्म इक' रूप बनने पर ५ वें पद के समान अन्त्य–मकारोत्तरवर्ती अकार का लोप तथा अजादि वृद्धि आदि हो 'धार्मिकः' रूप सिद्ध होगा।

५३. धौरेयः

(धुरा–वाहक)—यहाँ 'धुरं वहति'–इस अर्थ में द्वितीयान्त 'धुरम्' (धुर् अम्) से '११२९–धुरो०' द्वारा 'ढक्' (ढ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'धुर् ढ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी०' से ढकार के स्थान पर 'एय्' आदेश हो 'धुर् एय् अ' = 'धुरेय' रूप बनता है। इस स्थिति में ५१. वें पद की भाँति अजादि–वृद्धि और विभक्ति होकर 'धौरेयः' रूप सिद्ध होगा।

५४. नड्वलः

(नड–प्राय देश)—इसका विग्रह है—'नडाः सन्ति अस्मिन् देशे'। यहाँ '१०६३–नड–शादाड्०' द्वारा प्रथमान्त 'नडाः' (नड जस्) से 'ड्वलच्' (वल) तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'नड वल' रूप बनने पर '१०६१–टेः०' से टि–डकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'नड् वल' = 'नड्वल' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान।

५५. नभ्यम्

(नाभि के लिए हितकर)—यहाँ 'नाभये हितम्'—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त 'नाभये' (नाभि ङे) से '११३५–उगवादिभ्य०' द्वारा 'यत्' (य) प्रत्यय होकर 'नाभि ङे य' रूप बनने पर सुप्–'ङे' का लोप हो 'नाभि य' रूप बनता है। तदनन्तर 'नाभि नभं च' वार्तिक (११३५ वें सूत्र के अन्तर्गत) से 'नाभि' के स्थान पर 'नभ' आदेश हो 'नभ य' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' द्वारा भकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'नभ् य' = 'नभ्य' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

५६. नाव्यम्

(नौका से तरने योग्य)—इसका विग्रह है—'नावा तार्यम्'। यहाँ '११३१–नौ–वयो०' द्वारा तृतीयान्त 'नावा' (नौ टा) से 'यत्' (य) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् (टा)–लोप हो 'नौ य' रूप बनने पर '२४–वान्तो यि०' से औकार के स्थान पर 'आव्' आदेश होकर 'न् आव् य' = 'नाव्य' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

५७. नैकटिकः

(निकट में रहने वाला)—यहाँ 'निकटे वसति'–इस अर्थ में '११२६–निकटे०' द्वारा सप्तम्यन्त 'निकटे' (निकट ङि) से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होकर 'निकट ङि ठ' रूप बनने पर सुप्–'ङि' का लोप हो 'निकट ठ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ५ वें पद के समान है।

५८. पटपटाकरोति

(पट–पट करता है)—इसका विग्रह है—'पटत् करोति'। यहाँ '१२४३–अव्यक्तानुकरणाद्०' द्वारा 'पटत्' से 'डाच्' (आ) प्रत्यय प्राप्त होने पर 'डाचि च द्वे बहुलम्' वार्तिक से पहले उसका द्वित्व होगा और फिर 'डाच्' (आ) प्रत्यय होकर रूप बनेगा–'पटत् पटत् आ'। इस स्थिति में ९९–तस्य परम्०' परिभाषा से उत्तरवर्ती 'पटत्' की आम्रेडित–संज्ञा होने के कारण 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' वार्तिक द्वारा पूर्ववर्ती 'पटत्' के तकार तथा उत्तरवर्ती 'पटत्' के पकार–दोनों के स्थान पर पर-वर्ण पकार हो 'पट प् अटत् आ' रूप बनने पर '२४२–टेः०' से टि–'अत्' का लोप होकर 'पट प् अट् आ' = 'पटपटा' रूप बनता है। यहाँ '३६८–तद्धितः०' से इसकी अव्यय–संज्ञा होने पर प्रथमा–एकवचन में 'विहित 'सु' प्रत्यय का '३७२–अव्ययाद्०' द्वारा लोप हो 'पटपटा' रूप सिद्ध होगा।

५९. पटीयांसः

(अधिक चतुर)—यहाँ 'उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः'—इस प्रयोग में

उपपद 'प्राच्येभ्यः' परे होने से '१२१८–द्विवचन०' द्वारा प्रातिपदिक 'पटु' से 'ईयसुन्' (ईयस्) तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'पटु ईयस्' रूप वनने पर '११५४–टेः' से टि–टकारोत्तरवर्ती उकार का लोप हो 'पट् ईयस्' = 'पटीयस्' रूप वनता है। तदनन्तर प्रथमा–वहुवचन में हलन्त–पुंल्लिङ्ग 'विद्वांसः' की भाँति विभक्ति-कार्य होकर 'पटीयांसः' रूप सिद्ध होगा।

६०. पटुकल्पः

(कुछ कम चतुर)—देखिये ७३ वें पद की रूप–सिद्धि।

६१. पण्डितः

(वुद्धिमान्)—इसका विग्रह है—'पण्डा सञ्जाता अस्य'। यहाँ '११६३–तदस्य सञ्जात०' द्वारा प्रथमान्त 'पण्डा' (पण्डा सु) से 'इतच्' (इत) प्रत्यय हो 'पण्डा सु इत' रूप वनने पर सुप्–'सु' का लोप होकर 'पण्डा इत' रूप वनता है। तत्पश्चात् '२३६–यस्येति च०' से 'पण्डा' के अन्त्य आकार का लोप हो 'पण्ड् इत' = 'पण्डित' रूप वनने पर अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति–कार्य हो 'पण्डितः' रूप सिद्ध होगा।

६२. पाणिनीयम्

(पाणिनी द्वारा कहा हुआ)—यहाँ 'पाणिनिना प्रोक्तम्'–इस विग्रह में ११०५–तेन प्रोक्तम्' की सहायता से '१०७४–वृद्धाच्छः०' द्वारा तृतीयान्त 'पाणिनिना' (पाणिनि टा) से 'छ' प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् (टा)–लोप होकर 'पाणिनि छ' रूप वनने पर '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' आदेश हो 'पाणिनि ईय् अ' रूप वनता है। पुनः '२३६–यस्येति च०' से 'पाणिनि' के अन्त्य इकार का लोप होकर 'पाणिन् ईय् अ' = 'पाणिनीय' रूप वनने पर अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' की भाँति विभक्ति–कार्य होकर 'पाणिनीयम्' रूप सिद्ध होगा।

६३. पारावारीणः

(पारङ्गत)—इसका विग्रह है—'पारावारे जातः'। यहाँ 'अवारपाराद्०' वार्तिक की सहायता से '१०६६–राष्ट्रावारपाराद्०' द्वारा सप्तम्यन्त 'पारावारे' (पारावार ङि) से 'ख' प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'पारावार ख' रूप वनने पर '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के खकार को 'ईन्' होकर 'पारावार ईन् अ' रूप वनता है। तदनन्तर '२६६–यस्येति च०' से 'पारावार' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'पारावार् ईन् अ' रूप वनने पर '१३८–अट्कुप्वाङ्०' द्वारा नकार के स्थान पर णकार हो 'पारावार् ईण् अ' = 'पारावारीण' रूप सिद्ध होगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

६४. पार्थवम्

(विशालता)—देखिये ६९ वें पद की रूप-सिद्धि।

६५. पाशुपतम्

(पशुपति–देवता सम्बन्धी)—यहाँ 'पशुपतिर्देवताऽस्य०' इस विग्रह में प्रथमान्त 'पशुपतिः' (पशुपति सु) से '१०३८–साऽस्य देवता०' द्वारा 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'पशुपति सु अ' रूप बनने पर सुप्–'सु' का लोप हो 'पशुपति अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ११ वें पद के समान है।

६६. पित्र्यम्

(पितृदेवता–सम्बन्धी)—इसका विग्रह है—'पिता देवताऽस्य'। यहाँ '१०४१–वाय्वृतु०' द्वारा प्रथमान्त 'पिता' (पितृ सु) से 'यत्' (य)प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'पितृ य' रूप बनने पर '१०४२–रीङ्०' से 'पितृ' के अन्त्य वर्ण–ऋकार के स्थान पर 'रीङ्' (री) आदेश होकर 'पित् री य' = 'पित्री य' रूप बनता है। तब '२३६–यस्येति च०' से 'पित्री' के अन्त्य ईकार का लोप होकर 'पित्र् य' = 'पित्र्य' रूप बनने पर अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान विभक्ति–कार्य हो 'पित्र्यम्' रूप सिद्ध होगा।

६७. पैतामहकः

(पितामह से प्राप्त)–यहाँ 'पितामहादागतः' इस विग्रह में पञ्चम्यन्त 'पितामहाद्' (पितामह ङसि) से '१०९८–विद्या-योनि०' द्वारा 'वुञ्' (वु) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–'ङसि' का लोप होकर 'पितामह वु' रूप बनने पर '७८५–युवोरनाकौ' से 'वु' को 'अक' आदेश हो 'पितामह अक' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ७ (क) वें पद के समान है।

६८. पौंस्नः

(पुरुष की सन्तान आदि)—इसका विग्रह है—'पुंसोऽपत्यम्, पुंसि भवः, पुंसां समूहः' आदि। यहाँ '१०००–स्त्रीपुंसाभ्याम्०' द्वारा 'पुंस्' शब्द से 'स्नञ्' (स्न) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'पुंस् स्न' रूप बनने पर '१६४–स्वादिपु०' परिभाषा द्वारा 'पुंस्' की पद-संज्ञा होने के कारण '२०–संयोगान्तस्य०' से उसके अन्त्य सकार[1] का लोप होकर 'पुंस्न' रूप बनता है। '९३८–तद्धितेष्व०' से 'पुं' के आदि अच्–उकार के स्थान पर वृद्धि–औकार होकर 'प् औं स्न' = 'पौंस्न' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति कार्य हो 'पौंस्नः' रूप सिद्ध होगा।

१. ध्यान रहे कि 'पुंस्' में अनुस्वार नकार के स्थान पर आया है, अतः वस्तुतः यहाँ पदान्त सकार का मकार के साथ संयोग है।

६९. प्रथिमा (पार्थवम्)

यहाँ 'पृथोर्भावः'—इस विग्रह में षष्ठ्यन्त 'पृथोः' (पृथु ङस्) से '११५२—पृथ्वादिभ्यः०' द्वारा विकल्प से 'इमनिच्' (इमन्) प्रत्यय होकर 'पृथु ङस् इमन्' रूप बनने पर सुप्—'ङस्' का लोप हो 'पृथु इमन्' रूप बनता है। तदनन्तर '११५३—र ऋतो०' से 'पृथु' के ऋकार को 'र' होकर 'प् र थु इमन्' = 'प्रथु इमन्' रूप बनने पर '११५४—टेः' द्वारा टि—थकारोत्तरवर्ती उकार का लोप हो 'प्रथ् इमन्' = 'प्रथिमन्' रूप बनेगा। इस स्थिति में '२९' वें पद की भाँति उपधा—दीर्घ आदि होकर 'प्रथिमा' रूप सिद्ध होता है।

७०. प्राह्णेतनम्

(पूर्वाह्णकालिक)—इसका विग्रह है—'प्राह्णः सोढोऽस्य'। यहाँ '१०८३—सायं—चिरम्०' द्वारा 'प्राह्ण' शब्द को एकारान्तत्व, 'टयु' तथा 'टयुल्' (यु) प्रत्यय और उनको 'तुक्' (त्) आगम हो 'प्राह्णे त् यु' रूप बनने पर, '७८५—युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश होकर 'प्राह्णे त् अन्' = 'प्राह्णेतन' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

७१. बहुतः

(बहुतों से)—यहाँ 'बहो'—इस अर्थ में पञ्चम्यन्त 'बहु' से प्रथम पद की भाँति 'तसिल्' प्रत्यय और विभक्ति कार्य होकर 'बहुतः' रूप सिद्ध होता है।

७२. बहुत्र

(बहुत जगह)—इसका विग्रह है—'बहुषु'। यहाँ '१२००—सप्तम्याः०' द्वारा 'त्रल्' (त्र) प्रत्यय हो 'बहु सुप् त्र' रूप बनने पर सुप्—लोप होकर 'बहु त्र' = 'बहुत्र' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ३० वें पद के समान है।

७३. बहुपटुः (पटुकल्पः)

यहाँ 'ईषदसमाप्तः पटुः' अथवा 'ईषदूनः पटुः'—इस विग्रह में प्रथमान्त 'पटुः' (पटु सु) से १२२७—विभाषा सुपो०' द्वारा विकल्प से पूर्व-गामी 'बहुच्' (बहु) प्रत्यय होकर 'बहु पटु सु' रूप बनने पर सुप्—'सु' का लोप हो 'बहु पटु' = 'बहुपटु' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'हरिः' के समान है।

'बहुच्'—प्रत्यय के अभाव में '१२२६—ईषदसमाप्तौ०' से 'कल्पप्' (कल्प) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्—लोप होकर 'पटु कल्प' = 'पटुकल्पः' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति कार्य हो 'पटुकल्पः' रूप सिद्ध होता है।

७४. बहुशः

(बहुत-बहुत, बार-बार)—इसका विग्रह है—'बहूनि ददाति'। यहाँ '१२३७—बह्वल्पार्थाच्छस्०' द्वारा कर्मकारक 'बहूनि' (बहु शस्) से 'शस्' प्रत्यय हो 'बहु शस् शस्' रूप बनने पर सुप्—'शस्' का लोप होकर 'बहु शस्' = 'बहुशस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया प्रथम पद के समान है।

७५. बाहीकः

(बाहरी)—यहाँ 'बहिर्भवः'—इत अर्थ में 'बहिस्' शब्द से 'ईकक् च' की सहायता से 'बहिषष्टिलोपो यञ् च' वार्तिक (९९७ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा 'ईकक्' (ईक) प्रत्यय तथा उसकी टि—'इस्' का लोप होकर 'बह् ईक' रूप बनने पर '९९८—किति च' से 'बह्' के आदि अच्—अकार को वृद्धि—आकार हो 'ब् आ ह् ईक' = 'बाहीक' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

७६. भूयिष्ठः

(बहुत)—इसका विग्रह है—'अतिशयेन बहुः'। यहाँ प्रथमान्त 'बहुः' (बहु सु) से '१२१४—अतिशायने०' द्वारा 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय हो 'बहु सु इष्ठ' रूप बनने पर सुप्—'सु' होकर 'बहु इष्ठ' रूप बनता है। तब '१२२३—बहोर्लोपो०' से 'इष्ठन्' (इष्ठ) के इकार का लोप तथा 'बहु' के स्थान पर 'भू' आदेश होकर 'भू ष्ठ' रूप बनने पर '१२२४—इष्ठस्य०' द्वारा 'इष्ठन्' (ष्ठ) को 'यिट्' (यि) आगम हो 'भू यि ष्ठ' = 'भूयिष्ठ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

७७. मातृभोगीणः

(माता के शरीर के लिए हितकर)—यहाँ 'मातृभोगाय हितम्'—इस विग्रह में '११३८—आत्मन्—विश्वजन्०' द्वारा चतुर्थ्यन्त 'मातृभोगाय' (मातृभोग ङे) से 'ख' प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्—'ङे' का लोप होकर 'मातृभोग ख' रूप बनने पर '१०१०—आयनेयी०' से खकार के स्थान पर 'ईन्' आदेश हो 'मातृभोग ईन् अ' रूप बनता है। पुनः '२३६—यस्येति च' से 'मातृभोग' के अन्त्य अकार का लोप हो 'मातृभोग् ईन् अ' रूप बनने पर 'कुमति च' (८।४।१३) द्वारा नकार स्थान पर णकार होकर 'मातृभोग् ईण् अ' = 'मातृभोगीण' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

७८. मारीचिकम्

(मिरचों से संस्कृत)—यहाँ 'मरीचैः संस्कृतम्'—इस अर्थ में तृतीयान्त 'मरीचैः' (मरीच भिस्) से '१११५—संस्कृतम्' द्वारा 'ठक्' (ठ) प्रत्यय हो 'मरीच भिस् ठ' रूप बनने पर ५ वें पद की भाँति सुप्—लोप, इकादेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य—लोप होकर 'मारीचिक' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-नपुंसक 'ज्ञानम्' के समान है।

७९. मार्त्तिकः

(मिट्टी का विकार)—यहाँ 'मृत्तिकाया विकारः'—इस विग्रह में '११०७–तस्य विकारः' द्वारा षष्ठ्यन्त 'मत्तिकायाः' (मृत्तिका ङस्) से 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'मृत्तिका ङस् अ' रूप वनने पर सुप्–'ङस्' का लोप होकर 'मृत्तिका अ' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया ७ (क) वें पद के समान है। (स्मरण रहे कि यहाँ ऋकार के स्थान पर वृद्धि 'आर्' होगा)।

८०. मेधावी

(वुद्धिमान्)—इसका विग्रह है—'मेधा अस्य अस्ति'। यहाँ प्रथमान्त 'मेधा' (मेधा सु) से '११८९–अस्-माया०' द्वारा विकल्प से 'विनि' (विन्) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'मेधा विन्' = 'मेधाविन्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया २९ वें पद के समान।

८१. यकः

(जो)—यहाँ 'एषां यः'—इस अर्थ में '१२३९–अव्यय–सर्वनाम्नाम्०' द्वारा प्रथमान्त 'यद्' (यद् सु = यः) की टि–'अद्' के पूर्व 'अकच्' (अक्) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'य् अक् अद्' = 'यकद्' रूप वनने पर प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'यकद् स्' रूप वनता है। इस स्थिति में '१९३–त्यदादीनामः' से दकार के स्थान पर अकार होकर 'यक अ स्' रूप वनने पर '२७४–अतो गुणे' द्वारा पररूप–एकादेश हो 'यक् अ स्' = 'यक स्' रूप वनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान हैं।

८२. यतः

(जिससे, जहाँ से)—इसका विग्रह है—'यस्मात्'। यहाँ '११९५–पञ्चम्याः०' द्वारा पञ्चम्तन्त 'यद्' शब्द से 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय होकर 'यद् ङसि तस्' रूप वनने पर सुप्–'ङसि' का लोप हो 'यद् तस्' रूप वनता है। फिर पूर्व–पद (८१) की भाँति दकार को अकार तथा पररूप–एकादेश होकर 'य तस् = 'यतस्' रूप वनने पर प्रथम पद के समान विभक्ति-कार्य हो 'यतः' रूप सिद्ध होगा।

८३. यत्र

(जहाँ)–इसका विग्रह है—'यस्मिन्' (यद् ङि)। शेष प्रक्रिया ४० वें पद के समान है।

४. यदा

(जव)—जहाँ 'यस्मिन् काले'—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'यस्मिन्' (यद् ङि) से ४२ वें पद की भाँति 'दा' प्रत्यय आदि होकर 'यदा' रूप सिद्ध होता है।

८५. युग्यः

(जुए को उठाने वाला)—इसका विग्रह है—'युगं वहति'। यहाँ द्वितीयान्त 'युगम्' (युग अम्) से '११२८–तद्वहति०' द्वारा 'यत्' प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् (अम्)–लोप हो 'युग य' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' द्वारा 'युग' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'युग् य' = 'युग्य' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

८६. युवकयोः

(अज्ञात तुम दोनों का)—यहाँ 'अज्ञातयोः युवयोः'—इस अर्थ में 'ओकार सकार०' वार्तिक (१२२९ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा षष्ठचन्त 'युष्मद्' की टि–'अद्' के पूर्व 'अकच्' (अक्) प्रत्यय होकर 'युष्म अक् अद् ओस्' रूप बनने पर सुप्—'ओस्' का लोप होकर 'युष्म् अक् अद्' रूप बनता है। पुनः षष्ठी–द्विवचन की विवक्षा में 'ओस्' प्रत्यय होकर 'यष्म् अक् अद् ओस्' बनने पर '३१४–युवाऽऽवौ०' द्वारा 'युष्म्' के स्थान पर 'युव्' आदेश हो 'युव अक् अद ओस्' रूप बनेगा। तदनन्तर '३२०–योऽचि' से दकार को यकार हो 'युव अक् अय् ओस्' बनने पर '२७४–अतो गुणे' द्वारा वकारोत्तरवर्ती अकार तथा 'अक्' के अकार–दोनों के स्थान पर पररूप–एकादेश होकर 'युव् अक् अय ओस्' = 'युवकयोस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५–ससजुषो०' से सकार को 'रु' (र्) होकर 'युवकयोर्' रूप बनने पर ९३–खर-वसानयोः० द्वारा रकार के स्थान पर विसर्ग हो 'युवकयोः' रूप सिद्ध होगा।

८७. युष्मदीयः

(तुम्हारा)–इसका विग्रह है = 'युवयोर्युष्माकं वा अयम्' यहाँ षष्ठचन्त 'युष्मद्' शब्द से '१०७६–युष्मदस्मदोः०' द्वारा 'छ' प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् (ओस् या आम्) का लोप हो 'युष्मद् छ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी०' द्वारा छकार के स्थान पर 'ईय्' आदेश होकर 'युष्मद् ईय् अ' = 'युष्मदीय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

८८. यौवनम्

(युवतियों का समूह)—यहाँ 'युवतीनां समूहः'—इस अर्थ में '१०४५–भिक्षा-दिभ्यः०' षष्ठचन्त 'युवति' शब्द से 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'युवति आम् अ' रूप बनने पर सुप्–'आम्' का लोप हो 'युवति अ' रूप बनता है। तब 'भस्याढे तद्धिते' वार्तिक (१०४५ वें सूत्र के अन्तर्गत) से पुंवद्भाव प्राप्त होने पर 'युवति'[1] से स्त्री–

---

१. ध्यान रहे कि '१२७२–यूनस्तिः०' द्वारा 'युवन्' शब्द से 'ति' प्रत्यय हो 'युवति' रूप बनता है।

प्रत्यय 'ति' हट जाता है, और इस प्रकार रूप बनता है–'युवन् अ'। इस स्थिति में १०४६–इनण्यनपत्ये०' द्वारा प्रकृतिभाव प्राप्त होने के कारण '९१९–नस्तद्धि०' से टि–लोप नहीं होता। केवल '९३८–तद्धितेषु०' से आदि अच्–उकार को वृद्धि औकार होकर 'य् औ वन् अ' = 'यौवन' रूप बनने पर अजन्त–नपुंसक 'ज्ञानम्' की भाँति 'विभक्ति–कार्य हो 'यौवनम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार शतृ-प्रत्ययान्त 'युवत्' शब्द से '१२४३–उगितश्च०' द्वारा स्त्री–प्रत्यय 'ङीप्' (ई) होकर बने हुए दीर्घान्त 'युवती' से समूह अर्थ में 'यौवतम्' रूप बनता हाँ, अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ 'अनुदात्तादेरञ्' (४।२।४३.) से 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है, 'अण्' नहीं।

८९. यौष्माकीणः

(तुम्हारा)—इसका विग्रह है—'युवयोर्युष्माकं वा अयम्'। यहाँ षष्ठ्यन्त 'युष्मद्' शब्द से '१०७६–युष्मदस्मदोः०' द्वारा 'खञ्' (ख) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'युष्मद् ख' रूप बनने पर '१०७७–तस्मिन्नणि०' से 'युष्मद्' के स्थान पर 'युष्माक' आदेश होकर 'युष्माक ख' रूप बनता है। तत्पश्चात् '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के खकार को 'ईन्' होकर 'युष्माक ईन् अ' रूप बनने पर '९३८-तद्धितेषु०' द्वारा आदि अच्–उकार के स्थान पर वृद्धि–औकार हो 'य् औ ष्माक ईन् अ' रूप बनेगा। पुनः '२२६–यस्येति च०' से ककारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'य् औष्माक् इन् अ' रूप बनने पर '१३८–अट्कुप्वाङ्०' द्वारा नकार के स्थान पर णकार होकर 'य् औष्माक् ईण्' = 'यौष्माकीण' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

९०. राजन्यः

(क्षत्रिय)—यहाँ 'राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्' वार्तिक की सहायता से '१०१९–राजश्वशुराद्०' द्वारा 'राजन्' शब्द से जाति अर्थ में 'यत्' (य) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'राजन् य' रूप बनने पर ९१९–नस्तद्धिते०' से प्राप्त टि–लोप का '१०२०–ये चाभावकर्मणोः' द्वारा निषेध हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति भाव हो रूप बनता है—'राजन् य' = 'राजन्य'। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

९१. राष्ट्रियः

(राष्ट्र में होने वाला)—इसका विग्रह है—'राष्ट्रे जातः भवो वा'। यहाँ सप्तम्यन्त 'राष्ट्रे' (राष्ट्र ङि) से '१०६६–राष्ट्रावारपाराद्०' द्वारा 'घ' प्रत्यय हो 'राष्ट्र ङि घ' रूप बनने पर सुप्–'ङि' का लोप होकर 'राष्ट्र घ' रूप बनता है। तब '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के घकार को 'इय' 'राष्ट्र इय् अ' रूप बनने पर

'२३६—यस्येति च०' द्वारा 'राष्ट्र' के अन्त्य अकार का लोप हो 'राष्ट्र् इय् अ' = 'राष्ट्रिय' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

९२. रैवतिकः

(रेवती का पुत्र)—यहाँ 'रेवत्याः अपत्यम्'—इस अर्थ में '१०२३—रेवत्यादिभ्यः०' द्वारा षष्ठ्यन्त 'रेवत्याः' (रेवती ङस्) से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होकर 'रेवती ङस् ठ' रूप बनने पर ५ वें पद की भाँति सुप्-लोप, 'इक्'-आदेश, अन्त्य-लोप और अजादि-वृद्धि (ऐकार) आदि हो 'रैवतिकः' रूप सिद्ध होता है।

९३. लघीयान्

(अधिक छोटा)—इसका विग्रह है—'अयम् अनयोरतिशयेन लघुः'। यहाँ प्रथमान्त 'लघुः' (लघु सु) से '१२१८—द्विवचन०' द्वारा 'ईयसुन्' (ईयस्) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्-लोप हो 'लघु ईयस्' रूप बनने पर '११५४—टेः०' से टि—घकारोत्तरवर्ती उकार का लोप होकर 'लघ् ईयस्' = 'लघीयस्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'विद्वान्' के समान है।

९४. वाग्मी

(अच्छा बोलने वाला)—यहाँ 'वागस्यास्ति'—इस अर्थ में '११९०—वाचो०' द्वारा प्रथमान्त 'वाग्' (वाच् सु) से 'ग्मिनि' (ग्मिन्) प्रत्यय होकर 'वाच् सु ग्मिन्' रूप बनने पर सुप्-'सु' का लोप हो 'वाच् ग्मिन्' रूप बनता है। पुनः '१६४—स्वादिषु०' से 'वाच्' की पद-संज्ञा होने के कारण, '३०६—चोः कुः' द्वारा उसके अन्त्य चकार को ककार हो 'वाक् ग्मिन्' रूप बनने पर '६७—झलां जशोऽन्ते' से ककार के स्थान पर गकार होकर 'वाग् ग्मिन्' = 'वाग्ग्मिन्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया २९ वें पद के समान है।

९५. विंशः

(बीसवाँ)—इसका विग्रह है—'विंशतेः पूरणः'। यहाँ '११७१—तस्य पूरणे०' द्वारा षष्ठ्यन्त 'विंशतिः' (विंशति ङस्) से 'डट्' (अ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्-'ङस्' का लोप हो 'विंशति अ' रूप बनने पर '११७३—ति विंशतेः०' से 'विंशति' के 'ति'-भाग का लोप होकर 'विंश अ' रूप बनता है। इस स्थिति में '५६२—असिद्धवद्०' परिभाषा से '२४२—टेः' की दृष्टि में 'ति'-लोप के असिद्ध होने के कारण २७४—अतो गुणे' द्वारा पररूप-एकादेश हो 'विंश अ' = 'विंश' रूप बनेगा। शेष क्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

९६. वैनतेयः

(विनता का पुत्र)—यहाँ 'विनताया अपत्यम्'—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'विनतायाः' विनता ङस्) से '१०१७—स्त्रीभ्यो०' द्वारा 'ढक्' (ढ) प्रत्यय होकर 'विनता ङस् ढ' रूप बनने पर सुप्-लोप हो 'विनता ढ' रूप बनता है। तदनन्तर '१०१०—यनेयी०' से प्रत्यय के ढकार के स्थान पर 'एय्' आदेश हो 'विनता एय् अ' रूप

पर ५ वें पद की भाँति अन्त्य-लोप और अजादि-वृद्धि (इकार के स्थान पर) आदि होकर 'वैनतेयः' रूप सिद्ध होगा ।

९७. वैयाकरणः

(व्याकरण पढ़ने या जानने वाला)—इसका विग्रह है—'व्याकरणमधीते वेत्ति वा'। यहाँ '१०५०-तदधीते०' की सहायता से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) द्वारा द्वितीयान्त 'व्याकरणम्' (व्याकरण अम्) से 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'व्याकरण अम् अ' रूप वनने पर सुप्-'अम्' का लोप होकर 'व्याकरण अ' रूप वनता है । इस स्थिति में '९३८-तद्धितेषु०' से अजादि-वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु '१०५१-न य्वाभ्याम्०' उसका निषेध होकर यकार के पूर्व ऐकार आगम हो जाता है, और इस प्रकार रूप वनता है—'व् ऐ याकरण अ' = 'वैयाकरण अ' । तब '२३६-यस्येति च' से णकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'वैयाकरण् अ' = 'वैयाकरण' रूप वनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'वैयाकरणः' रूप सिद्ध होगा ।

९८. शरण्यः

(शरणागत रक्षक)—यहाँ 'शरणे साधुः'-इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'शरणे' (शरण ङि) से '११३२-तत्र साधुः' द्वारा 'यत्' (य) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप् 'ङि'-लोप हो 'शरण य' रूप वनने पर '२३६-यस्येति च' से 'शरण' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'शरण् य' = 'शरण्य' रूप वनता है । शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है ।

९९. शारावः

(शराव-प्याले में निकाला हुआ)—इसका विग्रह है—'शरावे उद्धृतः' । यहाँ '१०३६-तत्रोद्धृतम्०' द्वारा सप्तम्यन्त 'शरावे' (शराव ङि) से 'अञ्' (अ) प्रत्यय होकर 'शराव ङि अ' रूप वनने पर सुप्-'ङि' का लोप हो 'शराव अ' रूप वनता है । शेष प्रक्रिया ७ (क) वें पद के समान है ।

१००. शारीरकीयः

(आत्मा सम्बन्धी ग्रन्थ)—यहाँ 'शारीरकम् अधिकृत्यः कृतो ग्रन्थः'—इस अर्थ में '११०३-अधिकृत्य०' की सहायता से '१०७४-वृद्धाच्छः' द्वारा द्वितीयान्त 'शारीरकम्' (शारीरक अम्) से 'छ' प्रत्यय होकर 'शारीरक अम् छ' रूप वनने पर ६२ वें प[द] की भाँति-सुप् लोप, 'ईय्' आदेश और अन्त्य-लोप होकर 'शारीरकीय' रूप वनता [है ।] शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है ।

१०१. शालीयः

(शाला में पैदा हुआ)—इसका विग्रह है—'शालायां भवो जातो व[ा]' सप्तम्यन्त 'शालायाम्' (शाला ङि) से '१०७४-वृद्धाच्छः' द्वारा 'छ' [प्रत्यय]

---

१. ध्यान रहे '१०७२-वृद्धिर्यस्य०' परिभाषा से 'शाला' शब्द वृद्ध-सं[ज्ञक]

'शाला ङि छ' बनने पर पूर्वपद (१००) की भाँति सुप्–लोप आदि होकर 'शालीयः' रूप सिद्ध होगा।

१०२. शुक्रियम्

(शुक्रदेवता-सम्बन्धी)—यहाँ 'शुक्रो देवताऽस्य'—इस अर्थ में प्रथमान्त 'शुक्रः' (शुक्र सु) से '१०३९–शुक्राद्०' द्वारा 'घन्' (घ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'शुक्र घ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के घकार को 'इय्' आदेश हो 'शुक्र इय् अ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ६२ वें पद के समान है।

१०३. शुभंयुः

(शुभान्वित)—इसका विग्रह है—'शुभमस्यास्ति'। यहाँ ११९२–अहम्०' द्वारा 'शुभम् शब्द से 'युस्' प्रत्यय हो 'शुभम् युस्' रूप बनने पर 'सति च' (१।४।१६) से 'शुभम्' को पद-संज्ञा होने के कारण '७७–मोऽनुस्वारः' द्वारा अन्त्य मकार के स्थान पर अनुस्वार होकर 'शुभं युस्' = 'शुभं युस्' रूप बनता है। तब प्रथमा–एकवचन की विवक्षा में 'सु' (स्) प्रत्यय होकर 'शुभं युस् स्' रूप बनने पर '१७९–हल्ङ्याब्भ्यो०' द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो 'शुभंयुस्' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया प्रथम पद के समान है।

१०४. श्रेयान्

(*दो में से अधिक प्रशंसनीय*)—*यहाँ 'अनयोरतिशयेन प्रशस्यः'*—इस अर्थ में प्रथमान्त 'प्रशस्य' (प्रशस्य सु) से '१२१८–द्विवचन०' द्वारा 'ईयसुन्' (ईयस्) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'प्रशस्य ईयस्' रूप बनने पर '१२१९–प्रशस्य–स्य०' से 'प्रशस्य' के स्थान पर 'श्र' आदेश हो 'श्र ईयस्' रूप बनता है। तब २९ वें पद की भाँति प्रकृति भाव और गुणादेश हो 'श्र् ए य स् = 'श्रेयस्' रूप बनने पर हलन्त-पुंल्लिङ्ग 'विद्वान्' के समान विभक्ति कार्य होकर 'श्रेयान्' रूप सिद्ध होगा।

१०५. श्रेष्ठः

(सबसे अधिक प्रशंसनीय)—इसका विग्रह है—'एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः'। यहाँ '१२१४–अतिशायने०' द्वारा प्रथमान्त 'प्रशस्यः' (प्रशस्य सु) से 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'प्रशस्य इष्ठ' रूप बनने पर '१२१९–प्रशस्यस्य०' से 'प्रशस्य' के स्थान पर 'श्र' हो 'श्र इष्ठ' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया ३९ वें पद के समान है।

१०६. श्रोत्रियः

(वेदपाठी)—यहाँ 'छन्दोऽधीते'—इस अर्थ में '११७७–श्रोत्रियम्०' द्वारा द्वितीयान्त 'छन्दस्' शब्द से 'घन्' (घ) प्रत्यय तथा प्रकृति–'छन्दस्' के स्थान पर 'श्रोत्र' का निपातन हो 'श्रोत्र घ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी०' से प्रत्यय के घकार के स्थान पर 'इय्' आदेश होकर 'श्रोत्र इय् अ' रूप बनता है। तदनन्तर '२३६–यस्येति च' से 'श्रोत्र' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'श्रोत् र् इय् अ' =

'श्रोत्रिय' रूप वनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य हो 'श्रोत्रियः' रूप सिद्ध होगा।

१०७. षाण्मातुरः

(छः माताओं की सन्तान)—इसका विग्रह है—'षण्णां मातॄणामपत्यम्'। यहाँ षष्ठ्यन्त 'षण्मातृ'[1] (षण्मातृ आम्) से ५० वें पद की भाँति 'अण्'-प्रत्यय आदि होकर 'षाण्मातुरः' रूप सिद्ध होगा।

१०८. सकः

(वह)—यहाँ 'तेषां सः'—इस विग्रह में प्रथमान्त 'तद्' ('सः' = तद् सु) से ८१ वें पद की भाँति 'अकच्'-प्रत्यय, सुप्-लोप तथा दकार को अकारादेश आदि होकर 'तक स्' रूप वनने पर '३१०-तदोः सः०' से 'तक' के तकार के स्थान पर सकार आदेश हो 'स् अक स्' = 'सक स्' रूप वनता है। शेष प्रक्रिया पुन. पूर्ववत् है।

१०९. सदा (सर्वदा)

इसका विग्रह है—'सर्वस्मिन् काले'। यहाँ '१२०५-सर्वैकान्य०' द्वारा सप्तम्यन्त 'सर्वस्मिन्' (सर्व ङि) से 'दा' प्रत्यय हो 'सर्व ङि दा' रूप वनने पर सुप्-'ङि' का लोप होकर 'सर्वदा' रूप वनता है। इस स्थिति में '१२०७-सर्वस्य सः०' द्वारा 'सर्व' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश होकर 'स दा' = 'सदा' रूप वनने पर प्रथम पद की भाँति प्रथमा-एकवचन में प्राप्त 'सु' का लोप हो 'सदा' रूप सिद्ध होगा। अभाव पक्ष में 'सर्व दा' = 'सर्वदा' रूप ही रहता है।

११०. सभ्यः

(सभा-चतुर)—यहाँ 'सभायां साधुः'—इस अर्थ में '११३३-सभाया०' द्वारा सप्तम्यन्त 'सभायाम्' (सभा ङि) से 'यत्' (य) प्रत्यय होकर 'सभा ङि य' रूप वनने पर ९९ वें पद की भाँति सुप्-लोप एवं अन्त्य आकार लोप आदि होकर 'सभ्यः' रूप सिद्ध होता है।

१११. सर्वदा

(हमेशा)—देखिये १०९ वें पद की रूप-सिद्धि।

११२. सायंप्रातिकः

(सांझ-सवेरे होने वाला)—यहाँ 'सायं-प्रातर्भवः'–इस अर्थ में कालवाचक 'सायं-प्रातर्' से '१०८१-कालात्०' द्वारा 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय होकर 'सायं-प्रातर् सु ठ' रूप वनने पर सुप-'सु' का लोप हो 'सायं-प्रातर् ठ' रूप वनता है। तव '१०२४-ठस्येकः' से 'ठ' को 'इक्' आदेश हो 'सायं प्रातर् इक्' रूप वनने पर 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' वार्तिक (१०८१ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा टि-'अर्' का लोप होकर

---

१. '९३६-तद्धितार्थ०' द्वारा 'षण्णाम्' और 'मातॄणाम्' का परस्पर समास होकर 'षण्मातृ' शब्द वनता है।

'सायं प्रात् इक्' = 'सायंप्रातिक' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

११३. सामाजिकः

(समाज-रक्षक)—यहाँ 'समाजं रक्षति'—इस अर्थ में '११२७–रक्षति' द्वारा द्वितीयान्त 'सामाजम्' (समाज अम्) से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय हो 'समाज अम् ठ' रूप बनने पर ५ वें पद भाँति सुप्–लोप 'इक्'–आदेश आदि होकर 'सामाजिकः' रूप सिद्ध होता है।

११४. सार्वभौमः

(चक्रवर्ती)—इसका विग्रह है—'सर्वभूमेरीश्वरः'। यहाँ षष्ठ्यन्त 'सर्वभूमेः' (सर्वभूमि ङस्) से '११४२–तस्येश्वरः' द्वारा 'अण्' (अ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप होकर 'सर्वभूमि अ' रूप बनने पर '११४३–अनुशतिकादीनाम्०' से 'सर्व' और 'भूमि'—इन दोनों पदों के आदि अचों—अकार तथा ऊकार के स्थान पर वृद्धि आकार एवं औकार आदेश हो 'स् आ र्व भ् औ मि अ' रूप बनता है। पुनः '२३६–यस्येति च' से अन्त्य इकार का लोप हो 'स् आ र्व भ् औ म् अ' = 'सार्वभौम' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति-कार्य होकर 'सार्वभौमः' रूप सिद्ध होगा।

११५. स्त्रैणः

(स्त्री की सन्तान आदि)—इसका विग्रह है—'स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीपु भवः, स्त्रीणां समूहः' आदि। यहाँ १०००–स्त्रीपुंसाभ्याम्०' द्वारा अपत्यादि अर्थों में 'स्त्री' शब्द से 'नञ्' (न) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'स्त्री न' रूप बनने पर '९३८–तद्धितेषु०' से आदि अच्—ईकार के स्थान पर वृद्धि–ऐकार होकर 'स्त्र् ऐ न' रूप बनता। इस स्थिति में '१३८–अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार होकर 'स्त्र् ऐ ण् अ' = 'स्त्रैण' रूप बनने पर अजन्त-पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान विभक्ति कार्य हो 'स्त्रैणः' रूप सिद्ध होगा।

११६. स्रग्वी

(मालाधारी)—यहाँ 'स्रग् अस्य अस्ति' इस अर्थ में प्रथमान्त 'स्रग्' (स्रज् सु) से '११८९–अस्–माया०' द्वारा 'विनि' (विन्) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–'सु' का लोप होकर 'स्रज् विन्' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से जकार के स्थान पर गकार आदेश हो 'स्रग् विन्' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया २९ वें पद के समान है।

११७. स्रजिष्ठः

(सर्वाधिक माला पहने वाला)—इसका विग्रह है—'एषाम् अतिशयेन स्रग्वी'। यहाँ '१२१५–अतिशायने०' द्वारा 'विन्'–प्रत्ययान्त 'स्रग्विन्' (स्रग्विन् सु = स्रग्वी) से 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय हो 'स्रग्विन् सु इष्ठ' रूप बनने पर सुप्-लोप होकर 'स्रग्विन् इष्ठ' रूप बनता है। तब '१२२५–विन्मतोः०' से 'विन्' प्रत्यय का लोप होकर 'स्रग् इष्ठ' रूप बनने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा से 'स्रग्' के गकार को

प्रकृत–रूप जकार होकर 'स्रज् इष्ठ' = 'स्रजिष्ठ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'रामः' के समान है।

११८. स्रौघ्नः

(स्रुघ्न देश में होने वाला, आदि)—यहाँ 'स्रुघ्ने जातः'–इस अर्थ में '१०८४–तत्र जातः' की सहायता से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) द्वारा सप्तम्यन्त 'स्रुघ्न' (स्रुघ्न ङि) से 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर 'स्रुघ्न ङि अ' रूप बनने पर १८ वें पद की भाँति सुप–लोप, अजादि–वृद्धि आदि हो 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'स्रुघ्ने संभवति' अर्थ में '१०८७–संभूते' द्वारा, 'स्रुघ्ने प्रायेण भवति' अर्थ में '१०८६–प्रायभवः' द्वारा, 'स्रुघ्ने भवः' अर्थ में '१०८९-तत्र भवः' द्वारा, 'स्रुघ्नाद् आगतः' अर्थ में '१०९५-तत आगतः' द्वारा, 'स्रुघ्नं गच्छति' अर्थ में '११०१–तद् गच्छति०' द्वारा तथा 'स्रुघ्नो निवासोऽस्य' अर्थ में '११०४–सोऽस्य निवासः' द्वारा 'अण्' प्रत्यय होकर 'स्रौघ्नः' रूप बनता है।

११९. हास्तिकम्

(हाथियों का समूह)—इसका विग्रह है —'हस्तिनां समूहः'। यहाँ षष्ठयन्त 'हस्तिनाम्' (हस्तिन् आम्) से '१०४८–अचित्त०' द्वारा 'ठक्' (ठ) प्रत्यय तथा पूर्ववत् सुप्–लोप हो 'हस्तिन् ठ' रूप बनने पर '१०२४–ठस्येकः' से 'ठ' के स्थान पर 'इक' होकर 'हस्तिन् इक' रूप बनता है। तब '९९८–किति च' से आदि अच्–अकार को वृद्धि–आकार होकर 'ह् आस्तिन् इक' = 'हास्तिन् इक' रूप बनने पर '९१९–नस्तद्धिते' द्वारा टि–'इन्' का लोप हो 'हास्त् इक' = 'हास्तिक' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त–पुंल्लिङ्ग 'ज्ञानम्' के समान है।

१२०. हैमवती

(हिमालय से निकलने वाली)—यहाँ 'हिमवतः प्रभवति'–इस अर्थ में '११००–प्रभवति' की सहायता से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (४।१।८३) द्वारा पञ्चम्यन्त 'हिमवतः' (हिमवत् ङसि) से 'अण्' (अ) तथा पूर्ववत् सुप्–'ङसि' का लोप होकर 'हिमवत् अ' रूप बनने पर '९३८–तद्धितेपु०' से आदि अच्–इकार को वृद्धि–ऐकार हो 'ह् ए मवत् अ' = 'हैमवत' रूप बनता है। पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में '१२४७–टिड्ढाणञ्०' द्वारा 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होकर 'हैमवत ई' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' से 'हैमवत' के अन्त्य अकार का लोप हो 'हैमवत् ई' = 'हैमवती' का रूप बनेगा। रूप सिद्ध होता है।

स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण

१. अतिकेशी

(बहुत केशों वाली)—यहाँ अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'अतिकेश' से '१२६१–स्वाङ्गात्०' द्वारा विकल्प से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो 'अतिकेश ई' रूप बनने पर '२३६–

यस्येति च' से 'अतिकेश' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'अतिकेश् ई' = 'अ... ोप रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

२. अर्या

(वैश्य-स्त्री)—देखिये अगले पद रूप-सिद्धि।

३. अर्याणी (अर्या)

यहाँ अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'अर्य' से स्वार्थ में 'अर्यक्षत्रिभ्यां वा स्वार्थे' वार्तिक की सहायता से '१२५९–इन्द्रवरुण०' द्वारा विकल्प से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय और 'आनुक' (आन्) आगम होकर 'अर्य आन् ई' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से यकारोत्तरवर्ती अकार तथा 'आन्' के आकार–दोनों के स्थान पर दीर्घ आकारादेश हो 'अर्य् आन् ई' रूप बनता है। तब '१३८–अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार हो 'अर्य् आ ण् ई' = 'अर्याणी' रूप बनने पर अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' की भाँति विभक्ति–कार्य होकर 'अर्याणी' रूप सिद्ध होगा।

'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम के अभाव-पक्ष में '१२४५–अजाद्यतः०' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय होकर 'अर्य आ' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' द्वारा दीर्घादेश हो 'अर्य् आ' = 'अर्या' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'रमा' के समान है।

४. आचार्यानी

(आचार्य की स्त्री)—यहाँ आकारान्त पुंल्लिङ्ग 'आचार्य' से पूर्वपद (३) की भाँति 'ङीष्' प्रत्यय आदि होकर 'आचार्यानी' रूप सिद्ध होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि '१३८–अट्कुप्वाङ्०' से प्राप्त णत्व का 'आचार्यादणत्वं च' वार्तिक (१२५९ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा निषेध हो जाता है।

५. इन्द्राणी

(इन्द्र की स्त्री)—समस्त प्रक्रिया तृतीय पद के समान है।

६. एता

(चितकबरी)—देखिये अगले पद की रूप–सिद्धि।

७. एनी

(एता)—यहाँ अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'एत' से '१२५४–वर्णात्०' द्वारा 'ङीप्' (ई) प्रत्यय और तकार के स्थान पर नकार हो 'एन् अई' = 'एन ई' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति अन्त्य–लोप आदि होकर 'एनी' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि 'ङीप' प्रत्यय और नकारादेश विकल्प से होता है, अतः उसके अभाव–पक्ष में तृतीय पद की भाँति 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'एता' रूप सिद्ध होगा।

८. करभोरूः

(करभ के समान ऊरुवाली)—यहाँ '१२६९–ऊरूत्तरपदाद्०–' द्वारा उकारान्त–पुल्लिङ्ग 'करभोरु' से 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होकर 'करभोरु ऊ' रूप बनने पर '४२–अकः

सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश हो 'करभोर् ऊ' = 'करभोरू' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'भ्रूः' (अथवा 'श्रीः') के समान है।

९. कल्याणक्रोडा

(कल्याण-चिह्नांकित उरःस्थलवाली घोड़ी)—यहाँ अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'कल्याण-क्रोड' से १२६१-स्वाङ्गात्०' द्वारा 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु '१२६२-न क्रोडादि०' से उसका निषेध हो जाता है। तब तृतीय पद ('अर्या') की भाँति 'टाप्' (आ) प्रत्यय होकर 'कल्याणक्रोडा' रूप सिद्ध होता है।

१०. कुमारी

(कन्या)—यहाँ '१२५२-वयसि०' द्वारा अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'कुमार' से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होकर 'कुमार ई' रूप बनने पर प्रथम पद के समान अन्त्य-लोप आदि हो 'कुमारी' रूप सिद्ध होगा।

११. क्षत्रिया

१२. क्षत्रियाणी

(क्षत्रिय स्त्री)
(क्षत्रिय स्त्री) दोनों की रूप-सिद्धि तृतीय पद के समान है।

१३. गार्गी

यहाँ यञ्-प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग 'गार्ग्य' से '१२४८-यञश्च' द्वारा 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो 'गार्ग्य ई' रूप बनने पर '२३६-यस्येति च' द्वारा 'गार्ग्य' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गार्ग्य् ई' रूप बनता है। तदनन्तर '१२४९-हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप होकर 'गार्ग् ई' = 'गार्गी' रूप बनने पर 'गौरी' (अजन्त-स्त्रीलिङ्ग) के समान विभक्ति-कार्य हो 'गार्गी' रूप सिद्ध होगा।

१४. गार्ग्यायणी

(गर्ग गोत्र में पैदा हुई स्त्री)—यहाँ '१२५०-प्राचां ष्फ०' द्वारा यञ्-प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' से विकल्प से 'ष्फ' (फ) प्रत्यय होकर 'गार्ग्य फ' रूप बनने पर '१०१०-आयन्०' से फकार के स्थान पर 'आयन्' आदेश हो 'गार्ग्य आयन् अ' रूप बनता है। तब '२३६-यस्येति च' से 'गार्ग्य' के अन्त्य अकार का लोप हो 'गार्ग्य् आयन् अ' रूप बनने पर '१३८-अट्कुप्वाङ्०' द्वारा नकार को णकार होकर 'गार्ग्य् आयण् अ' = 'गार्ग्यायिण' रूप बनेगा। पुनः '१२५१-पिद्गौरादिभ्यश्च' से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होकर 'गार्ग्यायण ई' रूप बनने पर '२३६-यस्येति च' द्वारा णकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'गार्ग्यायण् ई' = गार्ग्यायणी' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

१५. गोपी

(गोप की स्त्री)—यहाँ पुरुषवाचक प्रातिपदिक 'गोप' से १२५७-पुंयोगाद्०'

द्वारा 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हो 'गोप ई' रूप बनने पर प्रथम पद की भाँति अन्त्य–लोप आदि होकर 'गोपी' रूप सिद्ध होता है।

१६. चन्द्रमुखी

(चन्द्रमा के समान मुख वाली)—यहाँ अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'चन्द्रमुख' से प्रथम-पद की भाँति 'ङीष्' (ई) प्रत्यय आदि हो 'चन्द्रमुखी' रूप सिद्ध होगा।

१७. तटी

(किनारा)—यहाँ '१२६५–जातेरस्त्रीविषयाद्०' द्वारा जातिवाचक पुंल्लिङ्ग 'तट' से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हो 'तट ई' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति अन्त्य–लोप आदि होकर 'तटी' रूप सिद्ध होता है।

१८. त्रिफला

यहाँ अजादिगण में पठित अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'त्रिफल' से १२४५–अजाद्यतः०' द्वारा 'टाप्' (आ) प्रत्यय होकर 'त्रिफल आ' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घ एकादेश हो 'त्रिफल् आ' = 'त्रिफला' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त-स्त्रीलिङ्ग 'रमा' के समान है।

१९ त्रिलोकी.

यहाँ '१२५३–द्विगोः' द्वारा अकारान्त द्विगु 'त्रिलोक' से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो 'त्रिलोक ई' रूप बनने पर प्रथम पद की भाँति अन्त्य–लोप आदि होकर 'त्रिलोकी' रूप सिद्ध होता है।

२०. दाक्षी

(दक्ष गोत्रोत्पन्ना स्त्री)—यहाँ मनुष्यजाति-वाचक प्रातिपादिक 'दाक्षि' (दक्ष की सन्तान) से '१२६६–इतो मनुष्यजातेः०' द्वारा 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होकर 'दाक्षि ई' रूप बनने पर '२६६–यस्येति च' से 'दाक्षि' के अन्त्य इकार का लोप हो 'दाक्ष् ई' = 'दाक्षी' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

२१. देवी

यहाँ '१२४७–टिड्ढाणञ्०' द्वारा टिदन्त 'देव' (देवट्) से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो 'देव इ' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति अन्त्य-लोप आदि होकर 'देवी' रूप सिद्ध होगा।

२२. धनक्रीता

(धन से खरीदी हुई)—यहाँ 'धनेन क्रीता'—इस विग्रह में 'गतिकारकोपपदानाम्०' वार्तिक (९५४ वें सूत्र के अन्तर्गत) की विकल्प से प्रवृत्ति न होनेपर '९२६–कर्तृकरणे०' द्वारा 'टाप्'–प्रत्ययान्त 'क्रीता' (क्रीता सु) के साथ समास्त हो 'धन-क्रीता' रूप बनता है। इस स्थिति में अकारान्त न होने के कारण '१२६०–क्रीतात्'० सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यग नहीं होता।

२३. नारी

(स्त्री)—यह रूप दो प्रकार से बनता है—(क) ऋकारान्त प्रातिपदिक 'नृ' से 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' की सहायता से '१२७१–शार्ङ्गरवाद्यञो०' द्वारा 'ङीन्' (ई) प्रत्यय तथा 'नृ' के ऋकार के स्थान पर वृद्धि–'आर्' आदेश होकर 'न् आर् ई' = 'नारी' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

(ख) अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'नर' से पूर्ववत् 'ङीन्' (ई) प्रत्यय हो 'नर ई' रूप बनने पर पहले '२३६–यस्येति च०' से 'नर' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'नर् ई' रूप बनता है। तब पुनः पूर्ववत् नकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि–आकार होकर 'न् आ र् ई' = 'नारी' रूप बनने पर अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान विभक्ति–कार्य हो 'नारी' रूप सिद्ध होगा।

२४. भवन्ती

(होती हुई)—यहाँ शतृ–प्रत्ययान्त 'भवत्' से '१२४६–उगितश्च' द्वारा 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो 'भवत् ई रूप बनने पर '३६६–शप्श्यनो:०' से वकारोत्तरवर्ती अकार के बाद 'नुम्' (न्) आगम होकर 'भवन् त् ई' = 'भवन्ती'[1] रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

२५. मत्सी

(मछली)—यहाँ 'योपधप्रतिषेधे०' वार्तिक की सहायता से '१२६५–जातेरस्त्री-विषयाद्०' द्वारा जातिवाचक प्रातिपदिक 'मत्स्य' से 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'मत्स्य ई' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च०' से 'मत्स्य' के अन्त्य अकार का लोप हो 'मत्स्य् ई' रूप बनता है। तदनन्तर 'मत्स्यस्य ङ्याम्' वार्तिक (१२६५ में सूत्र के अन्तर्गत) से यकार का लोप हो 'मत्स् ई' = 'मत्सी' रूप बनने पर पर अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'मत्सी' रूप सिद्ध होगा।

२६. मनुषी

(मनुष्यजातीया स्त्री)—यहाँ जातिवाचक पुंल्लिङ्ग 'मनुष्य' से पूर्वपद (१५) की भाँति 'ङीष्' (ई) प्रत्यय तथा अन्त्य–लोप हो 'मनुष्य् ई' रूप बनने पर '१२४९–हलस्तद्धितस्य०' द्वारा यकार लोप होकर 'मनुष् ई' = 'मनुषी' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया पुनः पूर्ववत् है।

२७. मातुलानी (मातुली)

यहाँ 'मातुलोपाध्याययोरानुग्वा' वार्तिक की सहायता से '१२५९–इन्द्र–वरुण०' द्वारा पुरुषवाचक 'मातुल' से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय तथा विकल्प से 'आनुक्' (आन्)

---

[1] ध्यान रहे कि यहाँ '७८–नश्चापदान्तस्य०' से नकार के स्थान पर अनुस्वार तथा '७९–अनुस्वारस्य०' द्वारा पुनः अनुस्वार को नकार हो जाता है।

आगम होकर 'मातुल आन् ई' रूप बनने पर '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घ आकारादेश हो 'मातुल् आ न् ई' = 'मातुलानी' रूप बनता। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

'आनुक्'–आगम के अभाव पक्ष में केवल 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हो 'मातुल ई' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति अन्त्य–लोप आदि होकर 'मातुली' रूप सिद्ध होगा।

२८. मातुली

(मामी)—देखिये पूर्वपद (२७) की रूप-सिद्धि।

२९. मूषिका

(चुहिया)—यहाँ अकारान्त पुंलिङ्ग 'मूषक' से १८ वें पद की भाँति 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'मूषक[1] आ' रूप बनने पर '१२५८–प्रत्ययस्थात्०' द्वारा षकारोत्तरवर्ती अकार को इकार होकर 'मू ष् इ क आ' = 'मूषिक आ' रूप बनता है। शेष पुनः पूर्ववत् है।

३०. मृद्वी

(कोमल)—यहाँ उकारान्त गुणवाची 'मृदु' से '१२५५–वोतो गुणवचनात्०' द्वारा विकल्प से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होकर 'मृदु ई' रूप बनने पर '१५-इको यणचि०' से दकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर वकार हो 'मृद् व् ई' = 'मृद्वी' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

३१. युवतिः

(युवा स्त्री)—यहाँ '१२७२–यूनस्तिः' द्वारा 'युवन्' शब्द से 'ति' प्रत्यय हो 'युवन् ति' रूप बनने पर '२८०–न लोपः०' से 'युवन्'[2] के नकार का लोप होकर 'युव ति' = 'युवति' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त पुंलिङ्ग 'हरिः' के समान है।

३२. रात्री

(रात्रि)—यहाँ 'कृदिकारादक्तिनः' वार्तिक की सहायता से '१२५६–बह्वादिभ्यश्च' सूत्र द्वारा इन्–प्रत्ययान्त 'रात्रि' से विकल्प से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होकर 'रात्रि ई' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' से 'रात्रि' के अन्त्य इकार का लोप हो 'रात्र् ई = 'रात्री' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान है।

३३. वस्त्रक्रीती

(वस्त्र देकर खरीदी हुई)—यहाँ अकारान्त पुंलिङ्ग 'वस्त्रक्रीत' से '१२६०–क्रीतात्०' द्वारा 'ङीष्' (ई) प्रत्यय हो 'वस्त्रक्रीत ई' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति अन्त्य–लोप आदि होकर 'वस्त्रक्रीती' रूप सिद्ध होता है।

---

१. ध्यान रहे कि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्' द्वारा 'मूष' शब्द से 'कन्' (क) प्रत्यय हो 'मूषक' शब्द बनता है।

२. स्मरण रहे कि यहाँ 'युवन्' शब्द '१६४–स्वादिषु०' परिभाषा से पद-संज्ञक है।

३४. शार्ङ्गरवी

(शृङ्गरु की लड़की)—यहाँ '१२७१–शार्ङ्गरवाद्यञो०' द्वारा जातिवाचक 'शार्ङ्गरव' से 'ङीन्' (ई) प्रत्यय होकर 'शार्ङ्गरव ई' रूप बनने पर प्रथमपद की भाँति अन्त्य–लोप आदि हो 'शार्ङ्गरवी' रूप सिद्ध होगा।

३५. शूर्पणखा

(शूर्प के समान नख वाली)—यहाँ स्वाङ्गवाची 'शूर्पनख' से '१२६१–स्वाङ्गात्०' द्वारा प्राप्त 'ङीप्' प्रत्यय का '१२६३–नखमुखात्०' से निषेध हो जाने पर '१२४५–अजाद्यतः०' द्वारा 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'शूर्पनख आ' रूप बनता है। तदनन्तर '४२–अकः सवर्णे०' से दीर्घादेश हो 'शूर्पनख् आ' = 'शूर्पनखा' रूप बनने पर '१२६४–पूर्वपदात्०' द्वारा नकार के स्थान पर णकार होकर 'शूर्पण् अखा' = 'शूर्पणखा' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया अजन्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' के समान है।

३६. श्वश्रूः

(सास)–यहाँ 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' वार्तिक (१२६८ वें सूत्र के अन्तर्गत) द्वारा 'श्वशुर' से 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय तथा उसके शकारोत्तरवर्ती उकार और रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'श्वश् र् ऊ' = 'श्वश्रू' रूप बनने पर अजन्त–स्त्रीलिङ्ग 'भ्रूः' (या 'श्रीः') के समान विभक्ति–कार्य हो 'श्वश्रूः' रूप सिद्ध होता है।

३७. सर्विका

(सास)–यहाँ 'अकच्' प्रत्यय–गर्भित 'सर्वक' से १२४५–अजाद्यतः०' द्वारा 'टाप' (आ) प्रत्यय हो 'सर्वक आ' रूप बनने पर '१२५८–प्रत्ययस्थात्०' से वकारोत्तरवर्ती अकार को इकार होकर 'सर्व् इक आ' = 'सर्विक आ' रूप बनता है। तदन्तर १८ वें पद की भाँति दीर्घादेश आदि होकर 'सर्विका' रूप सिद्ध होगा।

३८. सूरी

(कुन्ती)—यहाँ 'सूर्यस्य स्त्री मानुषी'–इस विग्रह में 'सूर्य' शब्द से '१२५७–पुंयोगाद्०' द्वारा 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होकर 'सूर्य ई' रूप बनने पर '२३६–यस्येति च' से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो 'सूर्य् ई' रूप बनता है। इस स्थिति मे 'सूर्यागस्त्ययोश्छे०' वार्तिक (१२५८ वें सूत्र के अन्तर्गत) से 'सूर्य' के यकार का लोप हो 'सूर् ई' = 'सूरी' रूप बनने पर अजन्त स्त्रीलिङ्ग 'गौरी' के समान विभक्ति–कार्य होकर 'सूरी' रूप सिद्ध होगा।

❁